सुकवि-माधुरी-माला : २२ा पुष्प

मतिराम-ग्रंथावली

संपादक
पं० कृष्णविहारी मिश्र

"ज्यों-ज्यों निहारिय नेरे ह्वै नैनन ,
त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ।"

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ

चौथी बार : सं० २०१८ वि०

मूल्य : आठ रुपए

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

मुद्रक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस

लखनऊ



मतिराम-ग्रंथावली

हिंदी का प्रसिद्ध आलोचना-साहित्य

साहित्य-सुमन	:	बालकृष्ण भट्ट	३. ००
अनुकरण काव्य-दर्शन	:	'रसिकत्रय'	४. ५०
हिंदी-नवरत्न	:	मिश्रबंधु	१५. ००
साहित्य-पारिजात	:	,,	८. ००
मिश्रबंधु-विनोद (४ भाग)	:	,,	२५. ००
देव-सुधा	:	,,	३. ००
रत्नावली	:	डॉ० रामदत्त भारद्वाज	३. ५०
प्राचीन पंडित और कवि	:	आ० महावीर प्र० द्विवेदी	४. ००
नैषध-चरित-चर्चा	:	,,	३. ००
सुकवि-संकीर्तन	:	,,	३. ००
साहित्य-संदर्भ	:	,,	४. ५०
पंत और पल्लव	:	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	२. ००
प्रबंध-पद्म	:	,,	३. ५०
बिहारी-दर्शन	:	लोकनाथ सिलाकारी	५. ५०
भवभूति और उनका काव्य	:	ज्वालादत्त शर्मा	१. ५०
द्विजदेव और उनका काव्य	:	हरदयालुसिंह	२. ५०
विद्यापति-पदावली	:	डॉ० शुभकार कपूर	१५. ००
भूषण-ग्रंथावली	:	डॉ० नारायणदास खन्ना	८. ००
देव और विहारी	:	कृष्णविहारी मिश्र	६. ००
हास्य-रस	:	जी० पी० श्रीवास्तव	२. ००
प्रसाद : जीवन और साहित्य	:	डॉ० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी	४. ५०

परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ 'मतिराम-ग्रंथावली' पं० कृष्णविहारीजी मिश्र की वह महती कृति है, जिसके प्रकाशन के पश्चात् मिश्रजी की गणना हिंदी के अग्रणी समालोचकों में की जाने लगी थी। इस ग्रंथ में मिश्रजी मतिराम की लुप्त सतसई सर्वप्रथम प्रकाश में लाए थे। इस ग्रंथावली की पांडित्य-पूर्ण भूमिका हिंदी के प्राचीन साहित्य की समालोचना के मार्ग में आज भी पथ-प्रदर्शन का काम कर रही है। इस भूमिका की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें एक बँधी-बँधाई परिपाटी पर ही कवि की आलोचना नहीं की गई, वरन् इसमें आलोचना के कुछ नवीन आदर्श स्थापित किए गए हैं। इसमें मिश्रजी ने किसी बँधी हुई रीति या नियमावली के आधार पर काव्य के गुण-दोष बतलाने की अपेक्षा आलोच्य कृति द्वारा ही कवि की अंतरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को व्यवस्थित रूप में उपस्थित करना अपना मुख्य ध्येय समझा है। इसमें वे केवल यह निर्णय देकर ही संतुष्ट नहीं हुए कि अमुक रचना में कितना नीर है और कितना क्षीर, वरन् इसके नीर और क्षीर को उन्होंने चखकर भी देखा है, उसके स्वाद का भी वर्णन किया है, जिससे रसास्वादन के साथ-साथ कवि को समझने में भी सहायता मिली है।

वास्तव में प्रस्तुत भूमिका में मिश्रजी ने सभी प्रकार की प्रचलित समालोचनाओं का समावेश किया है। नीर-क्षीर को पृथक् कर उसके रसास्वादन का प्रयास व्याख्यात्मक (Inductive) आलोचना द्वारा किया गया है। तुलसी, सूर, केशव, रहीम, नरहरि, रसखान, बिहारी, आलम, भूषण, देव, दास, तोष, रघुनाथ, पद्माकर, रवींद्रनाथ आदि

कवियों से उन्होंने कवि की तुलना करके प्रस्तुत भूमिका में तुलनात्मक आलोचना का समावेश किया है। यह तुलनात्मक आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक बनकर आई है, भार बनकर नहीं। इसी प्रकार कवि की ऐतिहासिक परिस्थितियों को बतला कर, उसकी कृतियों में समय का प्रभाव बतलाकर मिश्रजी ने प्रस्तुत भूमिका में ऐतिहासिक आलोचना (Historical criticism) का भी समावेश किया है। इतना ही नहीं, स्वयं कवि की मानसिक स्थिति पर प्रकाश डालकर, उसकी कृतियों द्वारा उसकी वैयक्तिक छाप को प्रकाश में लाकर उन्होंने मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism) के मापदंड को भी स्पर्श किया है। यद्यपि इस भूमिका में वे प्रभावात्मक आलोचना (Impressionist criticism) से दूर रहने के ही प्रयास में रहे हैं, तो भी कहीं-कहीं कवि की प्रशंसा में वे प्रभावात्मक आलोचना भी कर बैठे हैं।

मिश्रजी की एक और प्रसिद्ध पुस्तक है 'देव और बिहारी'। इसकी रचना स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा के संजीवन भाष्य के उत्तर में मिश्रजी ने की थी। इन्होंने इस ग्रंथ में यद्यपि देव का पक्ष लिया है, तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को उनके छोटे छंदों के कारण, जुही की कली कहा है, तो देव को कमल का फूल ठहराया है। इस पुस्तक ने अपने युग में जो साहित्यिक हलचल उत्पन्न की उसे आज भी स्मरण किया जाता है।

प्रथम खंड

[समीक्षा]

प्राक्कथन

वह वाक्य, जिसकी शब्दावली या अर्थ अथवा शब्द और अर्थ, दोनो ही साथ-साथ मिलकर रमणीय पाए जायँ, काव्य कहा जायगा। रमणीय वह है, जिसमें चित्त रमण करे—जो चित्त को अपने में लगा ले। रमणीयता आनंद की उत्पत्ति करती है। कविता की रमणीयता से जो आनंद उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर है। उसमें स्वार्थ की प्रधानता नहीं है। उसका उपभोग सहृदय रसिक जन ही कर सकते हैं। अलंकार, शब्द-चित्र एवं रस-रमणीयता के परिपोषक हैं। रसात्मक वाक्य में बड़ी ही सुंदर कविता का प्रादुर्भाव होता है। नीरस एवं अलंकार-प्रधान कविता में बहुत थोड़ी रमणीयता पाई जाती है। शब्द-चित्र से पूर्ण वाक्य तो केवल कहने-भर को कविता के अंतर्गत मान लिया गया है।

वास्तव में रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। सत्काव्य अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-मूलक तीन प्रकार का होता है। पहले अभिधा-मूलक काव्य का ही आदर था, पर अब जिस काव्य में व्यंग्य का प्राधान्य हो, वही सबसे अच्छा माना जाता है। इसके बाद लक्षणा-मूलक काव्य का नंबर है, और तब अभिधा-मूलक काव्य का स्थान।

रसात्मक काव्य वह है, जिसमें रस का परिपाक पूर्ण रीति से हुआ हो। रसों की संख्या नव है। रसों में सबसे अधिक वर्णन शृंगार-रस का पाया जाता है। संसार के साहित्य में शृंगारमयी कविता का प्राधान्य है। शृंगार-रस का स्थायी भाव प्रेम है। प्रेम

विधेयात्मक, सहानुभूतिमय और सत्य है। यह सबसे अधिक व्यापक, स्थायी और उपयोगी है। इसमें स्वार्थ का अभाव, संपूर्ण आत्मत्याग और तन्मयता की पराकाष्ठा है। इन्हीं कारणों से शृंगार-रस को रसों का राजा माना गया है। शृंगार-रस के अंतर्गत प्रेम-भक्ति की कविता आ जाती है। इस प्रकार की कविता का संबंध वैष्णव-धर्म से बहुत अधिक है। प्रेम और भक्ति के नायक श्रीकृष्णचंद्र हैं। वह परमात्मा हैं, पर प्रेम-भक्ति में इनका पद दूल्हा का है। प्रत्येक आत्मा इनकी दुलहिन है। भक्तों के मत से दूल्हा-दुलहिन का यह संबंध सदा के लिये है। गोपियों और विशेषकर राधा और कृष्ण का प्रेम इसी प्रकार का है। श्रीकृष्णचंद्र में सौंदर्य, प्रेम, ज्ञान, दया और सेवा का अच्छा विकास हुआ था। उनके सौंदर्य और प्रेम के दर्शन वृंदावन में, ज्ञान के मथुरा और कुरुक्षेत्र में तथा सेवा और दया के द्वारका में होते हैं। यही श्रीकृष्ण शृंगार-रस के देवता हैं। प्रेमी और कृष्ण-भक्त लोगों का मत है कि वृंदावन के कृष्ण में ही मधुरता का सबसे अधिक समावेश है। शृंगार-रस की कविता में श्रीकृष्णचंद्र के नायक और श्रीराधिकाजी के नायिका होने का यही रहस्य है।

ऊपर जिस प्रकार की शृंगार-रस की कविता का उल्लेख हुआ है, वैसी कविता व्रज-भाषा में निबद्ध काव्य-ग्रंथों में, प्रचुर परिमाण में, पाई जाती है। इसमें तन्मयता और कला-नैपुण्य का पर्याप्त प्रदर्शन है। कुछ कवि प्रेम-भक्ति के यथार्थ महत्त्व को न समझ सकने के कारण उसके महान् अभिप्राय को प्रकट करने में असमर्थ रहे हैं। इतना ही नहीं, नीचे दर्जे के विषय-प्रेम की छाप देकर उन्होंने बहुत-सी शृंगार-कविता का सुंदर रूप छिपा दिया है, पर फिर भी इन कवियों की निंदा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने शृंगार-रस के उस सुंदर रूप को क्यों नहीं दिखलाया, न कि इस कारण कि जो रूप उन्होंने दिखाया है, वह उन्हें दिखलाना ही न चाहिए था। विषय:

रस में शराबोर कविता में भी रमणीयता है, इसलिये चाहे वह उपयोगिनी न हो, और चाहे उसके द्वारा समाज में किसी प्रकार के कुरुचि के भावों को आश्रय मिला हो, परंतु वह कविता अवश्य है। कविता-क्षेत्र से उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता। इन्हीं कवियों ने यदि प्रेम-भक्ति का दिव्य चित्र भी खींचा होता, तो क्या बात थी! वे ऐसा न कर सके, इसका खेद है; पर उन्होंने जो कुछ किया, उसके लिये उनको शाप देने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने प्रतिकूल समय में कविता के दीपक को बुझने से तो बचाया। क्या हुआ, जो बुरे तेल के कारण दीपक से कुछ मलिन धुआँ भी निकला। यदि विषय-प्रेम पर कविता लिखनेवाले कवियों का भी अभाव हो गया होता, तो संसार से काव्यालोक का सदा के लिये विच्छेद हो गया होता। समाज की पतितावस्था में भी उसमें आनंदानुभव की थोड़ी-सी शक्ति रह गई थी। इस शक्ति की रक्षा का श्रेय प्रेम-कविता को ही है। इसी प्रेम-कविता ने समय पाकर नारी-समाज के प्रति पुरुष-समाज के भावों पर बड़ा प्रभाव डाला। कहने का तात्पर्य यह कि समय के देखते विषय-प्रेमवाली कविता ने कम-से-कम कविता-जन्य आनंद के भाव को संपूर्ण नष्ट होने से बचा लिया।

शृंगार-रस के अंतर्गत जिस वैवाहिक प्रेम का वर्णन है, उस विवाह के संबंध में एक अँगरेज़ लेखक के कुछ विचार यहाँ दिए जाते हैं—

*"नर-नारी जिस शक्ति के वश आनंदमय विवाह-बंधन में आबद्ध होते हैं, वही उन मधुर प्रभावों की सत्ता और उद्गम का कारण है, जिनसे पवित्र-से-पवित्र, उच्च-से-उच्च और निःस्वार्थ-से-निःस्वार्थ भावनाओं तथा कर्मों को बल और स्थिति प्राप्त होती है।

*The purest, noblest and most unselfish aspirations and purposes derive their strength and being from the sweet influences which have their beginning and

इन मधुर प्रभावों द्वारा संपूर्णतया आदर्श प्रकृतियों में सुधार तथा उच्चता संपादित होती है। जिस मनुष्यता का वास्ता प्रत्येक उच्च और पवित्र प्रेरणा से है, वह मनुष्यता इन्हीं मधुर प्रभावों की दृढ़-से-दृढ़ गाँठों द्वारा जकड़ी रहती है।"

* * *

*"स्रजन-संबंधिनी प्रेरणाओं से जाग्रत् होकर ही मैदान अपनी सब्ज़ी दिखलाते हैं, फूल अपने सौंदर्य और सुगंध को प्रकट करते हैं, पक्षीगण अपने चमकीले-से-चमकीले पर धारण करते हैं, तथा मधुर-से-मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झंकार, कोयल की कूक अपने जोड़े के आह्वान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मैदान और वनों की निस्तब्धता को भंग करनेवाले जो ये नाना प्रकार के पक्षियों के कल-

---

continuance in this power which draws men and women together in happy and holy wedlock. By this sweet influenced the most perfect natures are moulded and ennobled. By them are formed the strongest ties that hold humanity to the accomplishment of every high and holy endeavour.

*It is under the awakening of reproductive life that the fields put on their verdure, the flowers unfold their beauty and fragrance, the birds put on their brightest plumage and sing their sweetest song while the chrip of the cricket, the note of the Katydid, is but the call to its mate, for the many tounged voices, which break the stillness of field and forest, are but the myriad notes of love. To this universal God-given Passion man owes his love of colour, his love of beauty and sweetness in art and music, his love of rhythm in poetry, of grace in form in painting and sculpture; and

रव सुन पड़ते हैं, ये सब प्रेम के ही असंख्य गीत हैं। मनुष्य की वर्ण-प्रियता, उसका कला और संगीत के सौंदर्य और मधुरता पर प्रेम, कविता में लालित्य के प्रति अनुराग, उसी प्रकार नयनाभिराम चित्रों का भला लगना, यह सब ईश्वर-दत्त उस विश्व-प्रेम के कारण है। इसके कारण केवल सुंदरता के प्रति प्रीति ही नहीं उत्पन्न होती, वरन् समग्र सुंदर और आनंददायी वस्तुओं का ज्ञान और स्वीकार भी इसी से होता है।

"यह ऐसी चित्त की गति है, जो प्रत्येक अवस्था को दृढ़ करती है, प्रत्येक शक्ति में स्फूर्ति उत्पन्न करती है, सारी सत्ता में जीवन-सुधार, उच्चता, पवित्रता और मधुरता के भाव भर देती है, तथा सत्प्रयोजन से प्रेरित होने पर इस मृत्यु-लोक में ही हमारी आत्मा की उन उच्चाशय शक्तियों का उद्घाटन और संवर्द्धन करती है, जिनकी पूरी सफलता और संपूर्णता स्वर्ग में ही पाई जाती है।"

* * *

*"प्रत्येक पुरुष के जीवन में दो तथा बहुतों के जीवन में तीन

---

from it not only springs the love of the beautiful, but even the perception and recognition of all that which is pleasing and lovely.

This is the emotion that strengthens every faculty, quickens every power, animates, modifies, ennobles, purifies and sweetens the entire being, and markes our life upon earth when directed by Godly purposes, the enfolding and enriching of those nobler powers of the soul which are to find their fullest fruition and perfection in heaven itself.

(What a young husband ought to know pages 26-27)

*In each life, there are two important events, and

घटनाएँ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण होती हैं। पहली घटना उसका जन्म-दिन, दूसरी विवाह-दिन तथा तीसरी मृत्यु-तिथि है। जन्म-दिन वास्तव में बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण घटना है, पर विवाह और मृत्यु से उसके भाग्य पर जैसी मोहर बैठती है, वैसी और किसी घटना से नहीं। विवाह में केवल उन्हीं दो व्यक्तियों का आनंद नहीं लिपटा है, जो विवाह-सूत्र में बद्ध हुए हैं, वरन् कम-से-कम किसी हद तक तो बहुत-से संबंधियों के आनंद और सुविधाओं पर भी प्रभाव पड़ता है। इतना ही क्यों, अब तक अनुत्पन्न भविष्य की एक पीढ़ी का भाग्य और आनंद भी इसी घटना पर अवलंबित है।"

*   *   *

*"विवाह के बाद पुरुष की जीवन-यात्रा केवल अपने लिये नहीं है, वरन् अपनी स्त्री और बच्चों के लिये अथवा व्यापक अर्थ में यों कहिए कि जाति-हित की दृष्टि से अपने उत्तराधिकारियों के लिये है। अपनी आत्मीयता को वह दूसरों को इस प्रकार से सौंपता है

---

in many three—the day of one's birth, the day of one's marriage, and the day of one's death. The day of one's birth is surely very important event but the day of his marriage and the day of his death seal his destiny as no other events could possibly do. Marriage not only envolves the happiness of those who enter upon this sacred contract but, at least to some extent it affects the happiness and comfort of a large circle of relatives and envolves the happiness and destiny of a generation yet unborn.

*He is no longer to live for himself, but for his wife and children and in a larger sense for his descendants—for the good of the race. He is to continue by

कि मर जाने पर भी वह जीवित ही रहता है। उसके प्रत्येक काम में उसकी पत्नी तथा बच्चों का हित लिपटा रहता है। स्वार्थपरता पर प्रेम की विजय होती है। पति को अहंभाव के ऊपर उठना पड़ता है। उसकी सत्ता का प्रयोजन अब से दूसरों की वर्तमान भलाई और भविष्य-आनंद में ही है।"

*   *   *

*"बड़ा ही गंभीर उत्तरदायित्व है, परंतु इस पार्थिव संसार में मनुष्यों को ईश्वर द्वारा प्राप्त जितनी उच्च और आनंददायिनी अवस्थाएँ हैं, उन सबमें जिसके द्वारा दो अनुरक्त आत्माएँ एक हो जाती हैं, वह वैवाहिक अवस्था ही सबसे बढ़कर है। हमारी सत्ता की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति विवाह के द्वारा ही होती है। यदि समझ-बूझकर और विश्वास-पूर्वक विवाह-बंधन से लाभ उठाया जाय, तो इस संसार में मरणशील मनुष्यों को अधिक-से-अधिक जितना आनंद मिल सकता है, वह इसी से प्राप्त हो सकता है। पति,

---

transmitting himself, that life may remain when he is gone. What he does involves the interest of his wife and of those who are to come after him. Love is to conquer selfishness. He is to rise above himself and the present good and future happiness of others are to constitute his well-being.

*The responsibilties are grave but the state of two congenial souls made one in happy marriage is the grandest and most blessed earthly condition conferred upon man by God himself. It meets the requirements of our being, and, when properly understood and faithfully conformed to, brings the largest happiness that mortals are capable of upon earth. Husband and wife,

पत्नी, माता, पिता, बच्चे, गृह और देश, ये ही सब तो उस दशा के केंद्र हैं, जो जीवन को अनुरागमय बनाते हैं ।"

कविता का प्रयोजन

कविता कई प्रयोजनों से की जाती है । आनंद भी एक प्रयोजन माना गया है । यह आनंद लोकोत्तर होता है । कविता को छोड़ अन्यत्र इस आनंद की प्राप्ति नहीं होती । यों तो भूत-मात्र की उत्पत्ति आनंद से है, जीवन की स्थिति भी आनंद से ही है, तथा उसकी प्रगति और निलय भी आनंद में ही है, फिर भी कविता का आनंद निराला है । आत्मा के आनंद का प्रकाश कला द्वारा ही होता है ।

बाह्य रूप से तो कला द्वारा मनुष्य और प्रकृति-संसार का अनुकरण किया जाता है । जो कुछ मनुष्य और प्रकृति में पाया जाता है, उसी का प्रतिबिंब कला में दिखलाया जाता है, परंतु कला का आंतरिक भाव कुछ और ही है । कला की आत्मा प्रेम, शांति, सौंदर्य और आनंद से बनी है । आनंद की कोई सीमा नहीं । वह कभी नाश नहीं हो सकता । कवितानंद को क्षणिक समझना भूल है । एक बार जब हम पूरे तौर से सच्चे सौंदर्य और आनंद का आस्वादन कर लेते हैं, तो वह हमारे हृदयाकाश में सदा के लिये एक उज्ज्वल तारे के समान झलका करता है ।

कविता का आनंद निरुपयोगी नहीं है । वह लाभदायक है । भला जिस आनंद की बदौलत कल्पना-शक्ति का विस्तार होता है,

---

parents and child, home and country form the centre of all that makes life dear.

From Sylvanus Stall's 'What a young man ought to know' and 'What a young husband ought to know' pages 179 and 25-26 respectively.

मनोभावनाएँ पवित्र बन जाती हैं, तथा विवेक में स्फूर्ति का संचार होता है, उसे निरुपयोगी कैसे कहा जा सकता है ?

कविता में सौंदर्य की उपासना है। सौंदर्य से आनंद की प्राप्ति है। कविता के लिये रमणीयता परमावश्यक है। आनंद के अभाव में रमणीयता का प्रादुर्भाव बहुत कठिन है। सो कविता के सभी प्रयोजनों में आनंद का ही बोलबाला है।

अँगरेजी-साहित्य-संसार के दिग्गज विद्वानों ने कविता के मुख्य उद्देश्यों में आनंद का स्पष्ट उल्लेख किया है। संस्कृत के आचार्यों का मत भी यही है। हिंदी-काव्य के प्रतिष्ठित कवि-कोविदों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। इस पुस्तक में इतना स्थान नहीं कि सभी विद्वानों की इस विषय से संबंध रखनेवाली सम्मतियों पर विचार किया जाय, इसलिये दो-चार सम्मतियाँ उद्धृत करके ही हम संतोष करते हैं।

पहले एक हिंदी-कविता के आचार्य की ही सम्मति लीजिए। सुकवि बिहारीलाल के भांजे आचार्यवर कुलपति मिश्र की राय है कि कविता लोकोत्तर आनंद को आश्रय देनेवाली है। उन्होंने कविता के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए 'आनंद' की भी उनके अंतर्गत गणना की है*।

कुलपति मिश्र की सम्मति के बाद हम क्रम से मम्मटाचार्य, कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर एवं वर्ड्सवर्थ तथा कालरिज की सम्मतियाँ भी उद्धृत करते हैं—

---

*जग ते अद्भुत सुख-सदन शब्द रु अर्थ कबित्त;
यह लक्षण मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त।
जस संपति आनंद अति दुरितन डारै खोय;
होत कबित मैं चतुरई जगत राम बस होय।
(रस-रहस्य)

"कवि की वाणी जिस सृष्टि का स्रजन करती है, उसमें भाग्य के नियमों का बंधन नहीं होता है। इस भारती का संपूर्ण सारभूत पदार्थ एकमात्र आनंद है। यह परतंत्र नहीं है। नवरसमयी होने के कारण यह परम रुचिरा है* ।"

"लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म काव्य है। कविता समझते ही रसास्वादन-समुद्भूत जो आनंद तत्काल ही उत्पन्न होता है, वही कविता-संबंधी सब प्रयोजनों में सर्वश्रेष्ठ है† ।"

"जिस आनंद की मूर्ति नहीं बनी है, उसका अवश्य ही स्रजन होना चाहिए। वह स्वरूप आकृति में परिणत किया जाना चाहिए। गायक के आनंद का दर्शन हमें गीत-रूप में होता है, और कवि के आनंद का कविता-रूप में। स्रजन का कार्य करते हुए मनुष्य नाना प्रकार की आकृतियाँ निर्माण किया करता है। इन सबका प्रादुर्भाव निस्सीम आनंद से होता है‡ ।"

---

*नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ;
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेः (जयति)।

† ····सकलप्रयोजनमौलिभूतं समतन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं····यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म······

—मम्मट

‡The joy, which is without form, must create, must translate itself into forms. The joy of the singer is expressed in the form of a song, that of the poet in the form of a poem. Man in his role of a creator is ever creating forms, and they come out of his abounding joy.

A thing is completely our own when it is a thing of joy to us.

—Ravindra Nath.

"कोई वस्तु पूर्णतया हमारी हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि वह हमारे आनंद की वस्तु हो* ।"

"विज्ञानवेत्ता लोग अपने अनुभव लिखते हैं, और कवि भी लिखता है, परंतु कवि को एक बात का सदा ध्यान रखना पड़ता है। एक मनुष्य के लेख से जो आशा की जा सकती है, वही उससे की जाती है। उसके लिये यह आवश्यक है कि अपनी रचना से पाठक को तत्काल आनंद प्राप्त करा दे ।"

"कविता का उद्देश्य यह है कि विस्मय और आनंदातिशय का प्रादुर्भाव साथ-ही-साथ हो† ।"

"विज्ञान के विपरीत जो रचना-कौशल है, वही कविता है, उसका उद्देश्य या ध्येय बुद्धि-संबंधी आनंद है ।"

"कविता-विशेष के जो भिन्न-भिन्न अंग हैं, उनमें प्रत्येक से अधिकाधिक आनंद प्राप्त हो सके, और वह संपूर्ण कविता से समुद्भूत पराकाष्ठा को पहुँचे हुए आनंद से सामंजस्य भी रख सके, तो जिस कविता में ऐसा आनंद पाया जाय, उसे पूर्णता-प्राप्त कविता मानना होगा‡ ।"

---

*The poet writes under one restriction only, namely, the necessity of giving immediate pleasure to human being possessed of that information which may be expected from him, not as lawyer, a physician, a mariner, an astronomer, or a natural philosopher, but as a man.

†The end of poetry is to produce excitement in co-existence with an over-balance of pleasure.

—Wordsworth.

‡A poem is a species of composition opposed to science as having intellectual pleasure for its object or end and its perfection is to communicate the greatest immediate pleasure from that Part, comptible

राधा-कृष्ण का प्रेम

व्रज-भाषा की शृंगार-रस की कविता में अधिकतर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। उसी बात को बार-बार आगे होने-वाले कवि दोहराते गए हैं। उनके वर्णन के विषय इने-गिने हैं। उनकी कविता की क्रीड़ा-स्थली नितांत संकुचित है। बात यह है कि कविता में घटना-विशेष का ही वर्णन किया जाता है। इस घटना का संबंध मनुष्य-जाति से होना चाहिए। इतना ही पर्याप्त नहीं है। कोई घटना कविता में निभ सकेगी, इसके लिये उसमें उत्तमता की मात्रा इतनी अधिक होनी चाहिए कि वह रमणीयता उत्पन्न कराने में सहा-यक हो। सभी घटनाएँ कविता के उपयुक्त नहीं हो सकतीं। कृष्णचंद्र वृंदावन से मथुरा चले गए हैं। उनके विरह में वृंदावन की गोपियाँ विकल हो रही हैं। कृष्णचंद्र के भेजे उद्धवजी वृंदावन में आकर गोपियों को योग-धारण का उपदेश देते हैं। गोपी-उद्धव-संवाद की अमर घटना घटती है। क्या इस संसार में विरह-विधुरा नारी को और किसी ने उपदेश नहीं दिया है? एक ने नहीं, लाखों ने ऐसा किया है, पर गोपी-उद्धव-संवाद की बात ही निराली है। इस प्रकार की और अन्य घटनाएँ इस घटना का सामना नहीं कर सकतीं। गोपी-उद्धव-संवाद कभी पुराना नहीं हो सकता। अन्य ऐसी घटनाएँ उसके स्थायित्व को पा नहीं सकतीं। कहने का तात्पर्य यह कि कविता को सुसज्जित करनेवाली विशिष्ट घटनाएँ संसार में थोड़ी ही मिलती हैं। यदि ध्यान देकर देखा जाय, तो मालूम पड़ेगा कि व्रज-भाष के कवियों ने जिन विशेष घटनाओं को बार-बार दोहराया है, उनमें रमणीयता उत्पन्न करानेवाली सामग्री अत्यधिक भरी हुई है। ऐसी

---

with the largest sum of pleasure on the whole.

—Coleridge.

घटनाएँ कभी पुरानी नहीं हो सकती हैं। उनका संबंध किसी समय-विशेष से नहीं है। वे सभी समय में जीती-जागती, नेत्रों के सामने नृत्य करती हुई, मौजूद हैं। माना कि ऐसी घटनाएँ थोड़ी हैं, पर कविता के लिये तो भरपूर उपयुक्त हैं। व्रज-भाषा-कविता में थोड़े विषयों पर बार-बार उन्हीं का वर्णन पाए जाने का यही रहस्य है। राधा-कृष्ण की लीलाओं के ही अधिक वर्णन पाए जाने का एक कारण तो प्रेम-भक्ति की रमणीयता है, तथा दूसरा यह कि वृंदावन के कृष्ण का जीवन गोप-जीवन की मनोरम झलक भी दिखलाता है। विद्वानों का मत है कि यह जीवन नितांत सरल, निर्दोष और कुटिलता-शून्य है। ऐसे जीवन का वर्णन कविता के लिये उत्कृष्ट विषय है। बस, व्रज-भाषा-काव्य में इसीलिये राधा-कृष्ण के बार-बार दर्शन मिलते हैं।

भाषा

कविता की भाषा में लचकीलापन, सामंजस्य-पूर्ण भाषा-प्रवाह एवं अलंकार-प्रस्फुटन की पात्रता होनी चाहिए। झटपट मतलब की बात तक पाठक को पहुँचा देना, वह भी सुंदरता के साथ तथा थोड़े शब्दों में, यह भी भाषा का एक विशेष गुण है। पर सबसे बड़ा गुण तो यह है कि भाषा ऐसी संपूर्ण होनी चाहिए कि कवि के भावों को पूरे प्रकार से प्रकट करने में समर्थ हो सके। कविता की भाषा में हृदय को द्रवीभूत करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसमें प्रसाद, ओज और माधुर्य के दर्शन होने चाहिए, तथा सरलता और सुष्ठु योजना का पूरा चमत्कार रहना चाहिए। शब्दों की तोड़-मरोड़ किसी हद तक क्षम्य है, पर उसकी अधिकता न होनी चाहिए। कविता के उपयुक्त जैसी भाषा का ऊपर उल्लेख किया गया है, व्रज-भाषा उसी कोटि की भाषा है।

स्फुट रचना

व्रज-भाषा-कविता का एक बहुत बड़ा अंश फुटकर कवितामय है। फुटकर कविता से यह अभिप्राय है कि प्रत्येक छंद अपने में ही किसी भाव-विशेष को अभिव्यक्त करता है। ऊपर-नीचे के अन्य छंदों के सिलसिले के साथ भाव प्रकट करने की आवश्यकता फुटकर कविता के लिये नहीं है। संस्कृत-साहित्य में ऐसे फुटकर छंदों को मुक्तक कहते हैं। आर्यासप्तशती में मुक्तकों का अच्छा संग्रह है। हिंदी-साहित्य में कविवर बिहारीलाल की सतसई भी ऐसा ही ग्रंथ है। व्रज-भाषा के कवियों ने अपने मुक्तकों को प्रकाशित करने का एक और ढंग खोज रक्खा है; वह यह है। काव्य-शास्त्र में अलंकार अथवा नायिका-भेद के विविध रूपों के सूचक लक्षण हैं। व्रज-भाषा के कवि लोग इन लक्षणों को सामने रखकर उन्हीं के अनुरूप अपने मुक्तक उदाहरण में दे दिया करते थे। इससे काव्य-शास्त्र के लक्षण-लक्ष्य ग्रंथों का भी निर्माण हो जाता था, और उसी में मुक्तक भी अच्छे ढंग से संगृहीत हो जाते थे। इस प्रकार अलंकार और नायिका-भेद से संबंध रखनेवाले ग्रंथ व्रज-भाषा-काव्य में बहुत अधिक बन गए। इस रीति से जिन मुक्तकों का निर्माण हुआ है, उनमें कला-नैपुण्य और सूक्ष्मदर्शिता का अच्छा परिचय है। फिर भी लक्षणों से बँधे रहने के कारण कहीं-कहीं उदाहरणों में कवि-प्रतिभा के पूर्ण प्रकाश में रुकावट भी पड़ी है। ऐसे ग्रंथों में लक्षण तो अधिकतर दोहा-छंद में दिए गए हैं, और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा एवं छप्पय-छंदों में। अन्य छंदों का भी प्रयोग हुआ है, परंतु बहुत कम।

सदृश भाव

कवियों में परंपरा से यह चाल पाई जाती है कि परवर्ती कवि

अपने पूर्ववर्ती के भावों से लाभ उठा लिया करता है। जो लोग भाव को सुंदरता और कुशलता के साथ अपनाते हैं, उनकी, भाव पुराना होने पर भी, निंदा नहीं होती, पर जो लोग पूर्ववर्ती के भाव को लेकर उसे भद्दे ढंग से प्रकट करते हैं, और इस प्रकार उसकी रमणीयता नष्ट कर देते हैं, उनकी निंदा होती है। साहित्य-संसार में उनकी ख्याति चोर के नाम से होती है। यदि किसी में भाव अपनाने की योग्यता हो, तो वह अपने पूर्ववर्ती के भाव को अपनाकर भी यशस्वी होता है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि अपने से पहले हो चुकनेवाले कवियों के भावों से कुछ भी वास्ता न रखने की प्रतिज्ञा करके जो कवि लिखने बैठेगा, उसकी रचना में कविता का नहीं, वरन् विचित्रता का प्राधान्य पाया जायगा। संसार का कोई भी कवि संपूर्ण मौलिकता का अभिमान नहीं कर सकता है।

समालोचना

कविता की उत्कृष्टता या हीनता का निर्णय उसकी समालोचना से हो सकता है। समालोचना से यह अभिप्राय है कि कवितागत गुण-दोषों पर विचार किया जाय। गुण-दोष क्या हैं? इसका पता काव्य-शास्त्र के ग्रंथों के अध्ययन से मालूम हो सकता है। काव्य-शास्त्र में कविता की उत्तमता या हीनता की जो कसौटी दी हुई है, उसमें रस, अलंकार, भाषा, गुण, दोष, लक्षणा, व्यंजना आदि पर विचार करना पड़ता है। व्रज-भाषा में इन विषयों पर अच्छी तरह विवेचन हुआ है। इस विषय के अनेकानेक ग्रंथ मौजूद हैं। अँगरेज़ी ढंग की समालोचना में जो बातें कही जाती हैं, वे भी प्रायः यही हैं। कुछ थोड़ा-सा भेद है। इसके अतिरिक्त कवियों के समान भाववाली कविताओं की तुलना से भी समालोचना को बड़ी सहायता मिलती है। समालोचना से सत्साहित्य को प्रोत्साहन मिलता

है, तथा कुत्सित साहित्य के प्रचार में रुकावट उत्पन्न होती है, इस लिये किसी भी भाषा के साहित्य को दृढ़ करने के लिये सत्समालोचना परमावश्यक है। अँगरेज़ी-साहित्य में समालोचना की बहुत बड़ी उन्नति हुई है। एक-एक कवि पर हज़ारों पृष्ठों के समालोचना ग्रंथ लिखे गए हैं, इससे योग्य कवियों पर अँगरेज़ों का अनुराग बहुत बढ़ गया। प्रसिद्ध समालोचक कार्लाइल ने निस्संकोच कह डाला कि यदि शेक्सपियर और भारतीय साम्राज्य, इन दो में से इँगलैंड के हाथ से एक के निकल जाने का डर हो, तो मैं निःसंदेह इँगलैंड को यह सलाह दूँगा कि भारतीय साम्राज्य जाने दो, पर अपने शेक्सपियर को न छोड़ना। अपने कवियों पर अभी हमारा ऐसा प्रेम कहाँ है? हम तो उनसे घृणा करते हैं।

इतिहास

व्रज-भाषा में कविता का सफलता-पूर्वक व्यवहार विक्रम-संवत् की १५वीं शताब्दी से होने लगा। व्रज-भाषा के वास्तविक प्रथम कवि साहित्य-संसार के सूर्य महात्मा सूरदास हैं। इस भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि भी यही हैं। व्रज-भाषा के अन्य प्रतिभावान् कवियों में देव, सेनापति, बिहारी, केशव, मतिराम और भूषण का पद बहुत ऊँचा है। फिर क्रम से दास, बेनीप्रवीन और पद्माकरजी की उत्कृष्ट रचनाओं से भाषा-साहित्य का शृंगार हुआ है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाद से व्रज-भाषा में कविता का होना कम हो गया। इस समय तो व्रज-भाषा-काव्य की दशा परम शोचनीय है।

काल की कुटिल गति से लोगों का व्रज-भाषा-काव्य में अनुराग जाता रहा। कुछ समय तो यह भाव केवल विरक्ति के रूप में रहा, परंतु बाद को इसने विरोध का रूप धारण किया। कुछ समय के लिये लोगों की रुचि में ऐसा परिवर्तन उपस्थित हुआ कि वे व्रज-भाषा-कविता को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। पर यह क्रम थोड़े ही समय

तक जारी रहा। प्राचीन व्रज-भाषा-काव्य में रमणीयता की जो यथार्थ सामग्री थी, वह कब तक छिप सकती थी ? व्रज-भाषा के ग्रंथों का पाठ फिर से आरंभ हुआ, परंतु अब एक नई कठिनता उपस्थित हुई। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समय से हिंदी-गद्य ने अच्छी उन्नति कर ली है। विविध विषयों के ग्रंथ हिंदी-गद्य में सुलभ हो रहे हैं। नियमित मासिक, साप्ताहिक एवं दैनिक साहित्य भी प्रकाशित होता है। जिस भाषा का प्रयोग इन सबमें होता है, वह व्रज-भाषा से भिन्न है। वर्तमान गद्य से परिचित साहित्य-प्रेमियों में बहुत-से ऐसे हैं, जो व्रज-भाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते। इनके लिये प्राचीन व्रज-भाषा-काव्य का समझना बड़ा कठिन हो गया है, इसलिये टीका-ग्रंथों की आवश्यकता पड़ी। टीका-ग्रंथ लिखने की चाल पहले भी थी, पर वे टीकाएँ भी व्रज-भाषा में ही लिखी जाती थीं, इसलिये वर्तमान काल में उन टीकाओं से काम चलता न देखकर कई विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञों ने आधुनिक गद्य में व्रज-भाषा के कई काव्यों के भाष्य लिखे। इससे व्रज-भाषा-कविता पर लोगों की रुचि और भी अधिक हो गई। धीरे-धीरे ऐसी कविता पर आलोचनाएँ भी निकलने लगीं। आलोचना-प्रणाली प्राचीन कविता के लिये और भी उपयोगिनी सिद्ध हुई। इस समय व्रज-भाषा के काव्य पर लोगों का अनुराग संतोषजनक रीति से बढ़ रहा है, इसलिये यह आवश्यक समझ पड़ता है कि प्रत्येक कवि पर ऐसी आलोचनाएँ लिखी जायँ, जिससे उस कवि की कविता से वर्तमान हिंदी-संसार का उचित परिचय हो जाय।

प्राचीन व्रज-भाषा-कविता के प्रसिद्ध कवियों और आचार्यों में कविवर मतिराम की अच्छी ख्याति है। इनके दो ग्रंथ रसराज और ललित ललाम बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले ग्रंथ में नायिका-भेद का विवेचन है, और दूसरे में अलंकारों का निरूपण। दोनो ही उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। दोनो ही ग्रंथों पर अच्छी-अच्छी टीकाएँ लिखी गई हैं,

और टीकाकारों को अच्छा पारितोषिक मिला। इनकी बनाई 'मतिराम-सतसई' पुस्तक भी अब मिल गई। यह ग्रंथ दोहामय है। इसमें 'रसराज' और 'ललित ललाम' के दोहे हैं। यह भी उत्कृष्ट ग्रंथ है। 'हिंदी-नवरत्न' में पूज्यपाद मिश्रबंधुओं ने इनकी कविता की आलोचना की, फिर भी हिंदी-संसार में बहुत-से लोग अभी मतिराम के महत्त्व को भली भाँति समझ नहीं सके। हमारी राय में अभी आवश्यकता है कि हिंदी-साहित्य-संसार को उनका भली भाँति परिचय कराने को कोई बड़ा आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा जाय। साहित्य-संसार के किसी योग्य विद्वान् को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए। तब तक हमीं मतिराम पर यह क्षुद्र आलोचना लिखकर पाठकों की भेंट कर रहे हैं।

शृंगार-रस

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों की सहायता से स्थायी भाव के रूप में जो प्रबलतर आनंदोद्भूति होती है, उसी को रस कहते हैं। आनंदोद्भूति को साहित्य-शास्त्र में 'स्वाद' के नाम से पुकारते हैं। अपने स्पष्ट ज्ञान के द्वारा जो स्थायी भाव को परिपुष्ट करता है, उसे विभाव कहते हैं। विभाव के दो भेद माने गए हैं। जिस पर रस प्रधानतया अवलंबित है, उसे आलंबन-विभाव और जिससे रस की उद्दीप्ति होती है, उसे उद्दीपन-विभाव कहते हैं। कर्मेंद्रियों के सहारे जब भीतरी भाव बाह्य रूप से प्रकट होते हैं, तब उन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभावों से ही मिलते-जुलते सात्त्विक भाव हैं। पराई दुःख-हर्षादि भावनाओं में अपने अंतःकरण की अत्यंत अनुकूलता को 'सत्त्व' कहते हैं। इस अनुकूलता के वश खेद, हर्ष, रोमांच और अश्रु आदि का प्रादुर्भाव होता है। यही सात्त्विक भावों का रूप है। कायिक विकार अनुभाव और सात्त्विक, दोनो में ही समान हैं। जिन अनेक भावों का किसी रस-

विशेष से संबंध नहीं है, तथा जो स्थायी भाव रूप-सागर में तरंगों के समान उठते और नष्ट होते रहते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।

भाव की व्युत्पत्ति 'भावन' या 'वासन' से है। इसका अर्थ सुगंधि है। सुख-दुःखादि भावों की सुगंधि से जो परिपूर्ण हो, वही भाव है। विरुद्ध-अविरुद्ध, सभी प्रकार के भाव जिस भाव-विशेष पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते हैं, उस भाव-विशेष को स्थायी भाव कहते हैं। जैसे लवण-समुद्र में गिरकर सभी वस्तुओं का स्वाद लवण हो जाता है—स्वयं लवण-समुद्र के स्वाद में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भाव स्थायी भाव को किसी प्रकार से विकार-ग्रस्त नहीं कर पाते। उसमें अस्थायित्व नहीं आता। वह ज्यों-का-त्यों स्थायी बना रहता है।

सात्त्विक भाव आठ हैं। स्थायी भाव भी आठ हैं। व्यभिचारी भाव तेंतीस हैं। इस प्रकार भावों की संख्या ४९ है।

आठ सात्त्विक भावों के नाम ये हैं—

स्तंभ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु और स्वर-भंग।

लज्जा, हर्ष आदि के कारण शरीर की संचालन-क्रिया का बंद हो जाना स्तंभ है। प्रलय में ज्ञान-क्रिया की भी निराकृति हो जाती है। वेपथु कंप को कहते हैं। वर्ण का अपना पूर्व रूप छोड़ देना वैवर्ण्य है।

आठ स्थायी भावों के नाम ये हैं—

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।

कुछ आचार्य 'शम'-नामक नवें स्थायी भाव को भी मानते हैं। प्रेम-रस से चित्त का आर्द्र होना 'रति' है।

उपर्युक्त स्थायी भावों द्वारा जब आनंदोद्भूति होती है, तब क्रम से निम्न-लिखित रस उपलब्ध होते हैं—

श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत।

शम स्थायी से 'शांत-रस' माना गया है।

तेंतीस व्यभिचारी भाव निम्नलिखित हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिंता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्थ, व्याधि, उन्माद, विषाद, उत्सुकता और चपलता।

सांसारिक आनंदों से उदासीनता निर्वेद है। प्रबल विरोध अमर्ष है। ज्ञान-शक्तियों की जागृति विबोध है। मानसिक विकार के छिपाने की चेष्टा अवहित्थ है।

करुण-रस में—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता, ये ११ संचारी भाव पाए जाते हैं।

रौद्र-रस में—उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, वेपथु, मद, मोह और अमर्ष-नामक ८ व्यभिचारी पाए जाते हैं।

वीर-रस में—धृति, सुमति, गर्व, स्मृति, तर्क और रोमांच व्यभिचारी हैं।

भयानक-रस में—जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दैन्य, शंका, अपस्मार, उन्माद और मरण-नामक १० व्यभिचारी होते हैं।

बीभत्स-रस में—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरण-नामक व्यभिचारी होते हैं।

अद्भुत-रस में—तर्क, आवेग, उन्माद, हर्ष व्यभिचारी हैं।

हास्य-रस में—निद्रा, आलस्य और अवहित्थ, ये तीन व्यभिचारी भाव माने गए हैं।

शृंगार-रस में—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा-नामक चार व्यभिचारी भावों को छोड़कर शेष २९ पाए जाते हैं।

जो आचार्य शांत-रस को मानते हैं, वे उसमें निर्वेद, हर्ष, स्मरण और मति को संचारी समझते हैं।

करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक-रस श्रृंगार के विरोधी हैं, तथैव हास्य-रस श्रृंगार का मित्र है।

सब रसों के अनुभाव भी अलग-अलग हैं। पर श्रृंगार-रस में 'हाव' और 'सात्त्विक भाव' इन नामों को छोड़कर अनुभावों के कोई अलग-अलग नाम नहीं रक्खे गए हैं। संस्कृत और हिंदी में काव्य-शास्त्र-संबंधी जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है कि अनुभावों का संख्याधिक्य भी श्रृंगार-रस में ही पाया जायगा।

एक उदाहरण द्वारा इस रसोत्पत्ति का क्रम समझाया जाता है। पूर्ण चंद्रमा सोलहों कला से प्रकाशमान है। जातीपुष्प वन में ख़ूब फूला है। कुमुदिनी के फूलों पर भ्रमरगण गुंजार कर रहे हैं। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ने बाँसुरी बजाई। गोपियाँ व्याकुल हो उठीं। गोपों की परवा न करके वे सब उठ-उठकर उसी ओर चल पड़ीं, जिधर से बाँसुरी-ध्वनि आ रही थी—

पूरन चंद उदोत कियो, घन फूलि रही बनजाति सुहाई;
भौंरन की अवली कलकैरव कैरव-कुंजनि मैं मृदु गाई।
बाँसुरी-ताननि, काम के बाननि सों 'मतिराम' सबै अकुलाई;
गोपिन गोप कछु न गने, अपने-अपने घर ते उठि धाई।

गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति जो अपूर्व प्रेम है, वही इस कविता का 'स्थायी भाव' है। स्थायी भाव स्वाद देने योग्य हो, वह 'रस' के गौरव को प्राप्त कर सके, इसके लिये विभाव और अनुभावों की आवश्यकता है। यहाँ पर गोपियों के प्रेम का एकमात्र अवलंब किस पर है? उत्तर मिलता है, श्रीकृष्ण पर; अतएव श्रीकृष्ण आलंबन विभाव हुए। उधर चंद्रमा का पूर्ण प्रकाश, वनजाति और कुमुदिनी का फूलना, उन पर भ्रमरों की गुंजार, रात्रि का समय, ऐसे में बाँसुरी का बजना—ये सब स्थायी भाव के उद्दीपक हैं। इन्हीं को उद्दीपन विभाव कहते हैं। सो श्रीकृष्ण-रूप में आलंबन और प्रकृति-सौंदर्य-

रूप में उद्दीपन विभाव स्थायी भाव को पूर्ण रूप से परिपुष्ट कर रहे हैं। इसका प्रभाव यह पड़ा कि गोपियाँ उठकर दौड़ीं। वे अपने को रोक न सकीं। यह अनुभाव है। गोपियों की कृष्ण से मिलने की उत्सुकता और अभीष्ट-साधन के लिये स्वयं धावित होना आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो उत्सुकता और चपलता आदि संचारी भावों की सूचना दिलाती हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करता है। रति स्थायी भाव होने के कारण छंद में शृंगार-रस स्थापित होता है। अन्य रसों में भी इसी प्रकार से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सहायता अपेक्षित होती है।

ऊपर रसों के नाम दिए जा चुके हैं। संस्कृत और हिंदी के अनेक विद्वानों का यह मत रहा है कि सब रसों में शृंगार-रस ही सर्व-श्रेष्ठ है। इन विद्वानों की सम्मतियाँ तो हम आवश्यकतानुसार बाद को उद्धृत करेंगे, परंतु यहाँ हमें केवल इतना ही विचार करना है कि उक्त विद्वानों के कथन पर अंधविश्वास न करते हुए हम इस बात का निर्णय कैसे करें कि सर्व-श्रेष्ठ रस कौन है? संस्कृत और हिंदी-कविता के आचार्यों ने रसोत्पत्ति के संबंध में जो मत निर्धारित किया है, उसका अत्यंत स्थूल दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। उस दिग्दर्शन का सार हमें तो यही समझ पड़ता है कि रस के लिये व्यभिचारी भाव, आलंबन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा स्थायी भाव की परमावश्यकता है। जब रस की उत्पत्ति इन्हीं पर निर्भर है, तो इनकी उत्तमता या ख़राबी भी रस की उत्तमता और ख़राबी पर अपना प्रभाव अवश्य ही डालती होंगी, अर्थात् जिस रस के भाव, विभाव और अनुभाव उत्तम होते होंगे, वह रस भी उत्तम होता होगा, तथा जिसके ख़राब होंगे, वह रस भी ख़राब होगा। ऐसी दशा में यदि सभी रसों के स्थायी, संचारी, अनुभाव और विभावों पर तुल-

नात्मक दृष्टि से विचार किया जाय, तो कदाचित् सब रसों में से एक के सर्व-श्रेष्ठ निर्णीत किए जाने में सफलता प्राप्त हो सके ।

पहले व्यभिचारी या संचारी भावों को ही लीजिए । इनकी संख्या तेंतीस है । प्रत्येक रस में कौन-कौन संचारी पाए जाते हैं, यह ऊपर बतलाया जा चुका है, इसलिये यहाँ उसके पुन: दोहराने की आवश्यकता नहीं है । संख्या की दृष्टि से रसों में व्यभिचारियों का क्रम यों ठहरता है—

×हास्य में	३
अद्भुत में	४
×बीभत्स में	५
वीर में	६
×रौद्र में	८
×भयानक में	१०
करुण में	११
शृंगार में	२९

शृंगार में जो चार व्यभिचारी नहीं पाए जाते हैं, उनके नाम ये हैं—१ उग्रता, २ मरण, ३ आलस्य और ४ जुगुप्सा ।

उग्रता रौद्र में, जुगुप्सा भयानक में, आलस्य हास्य में तथा मरण भयानक और बीभत्स, दोनो में ही पाया जाता है ।

सो करुण, अद्भुत और वीर पाए जानेवाले ऐसे कोई व्यभिचारी नहीं हैं, जो शृंगार में न पाए जाते हों । हाँ, शृंगार में २५ व्यभिचारी ऐसे हैं, जो अद्भुत में, २३ ऐसे, जो वीर में तथा १८ ऐसे, जो करुण में नहीं पाए जाते हैं । सो केवल व्यभिचारियों के विचार से शृंगार-रस वीर, करुण और अद्भुत से बड़ा ठहरता है । रौद्र की उग्रता शृंगार में अवश्य ही नहीं है, परंतु उसके और शृंगार के अन्य सात संचारी एक ही हैं । यही क्यों, शृंगार में २२

संचारी और ऐसे हैं, जो रौद्र में नहीं पाए जाते हैं। सो जहाँ एक संचारी में रौद्र शृंगार से बढ़ा है, वहीं शृंगार रौद्र से २२ संचारियों में बढ़ा है। इसी प्रकार जहाँ हास्य-रस आलस्य संचारी में शृंगार से बढ़ा है, वहाँ शृंगार अन्य २७ संचारियों में हास्य से बढ़ा है। बीभत्स मरण संचारी अधिक रखता है, पर शृंगार के पास अन्य २५ ऐसे संचारी हैं, जो बीभत्स के पास नहीं हैं। भयानक में जुगुप्सा और मरण, दो संचारी ऐसे हैं, जो शृंगार में नहीं हैं; परंतु उधर शृंगार में भी २१ संचारी ऐसे हैं, जो भयानक को अप्राप्त हैं। ऐसी दशा में हास्य, बीभत्स, रौद्र और भयानक से भी संचारियों की दृष्टि से शृंगार श्रेष्ठ है। एक बात और है, शृंगार-रस के संचारी विशेषतया मृदुल भाववाले हैं। संचारियों की आपस में तुलनता करते समय पाठकों को कदाचित् प्रसिद्ध अँगरेज़ समालोचक जॉन हेनरी निउमैन के निम्नलिखित कथन से कुछ सहायता मिले—

"यह और कहा जा सकता है कि धार्मिक गुण विशेष कवितामयी होते हैं—ध्यान और तन्मयता उत्पन्न करनेवाले गुणों की तो बात ही क्या—दीनता, सरलता, दया, संतोष और लज्जा में भी कविता की प्रचुर सामग्री है। इसके विपरीत साधारण और विशेषतया अक्खड़ वृत्तियों में आलंकारिता तो विशेष दिखलाई जा सकती है, पर कविता का वैसा अवसर नहीं है, जैसे क्रोध, रोष, ईर्ष्या, उद्दंडता, स्वतंत्रता आदि*।"

आठ या नव स्थायी भावों में सबसे अच्छा स्थायी कौन है, इस पर भी पाठकों को विचार करना चाहिए। रति, हास, शोक, क्रोध,

---

*It may be added that virtues peculiarly Christian are especially poetical; meekness, gentleness, compassion, contentment, modesty, not to mention devotional virtues: whereas, the ruder and more ordinary

उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम-नामक स्थायी भावों में सबसे ऊँचा स्थान किसका है, इस विषय में मतभेद होना परम स्वाभाविक है। फिर भी हास, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा-नामक स्थायियों में किसी एक को प्रथम स्थान देने का आग्रह करते हुए प्राचीन एव अर्वाचीन बहुत कम विद्वान् देखे गए हैं। महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी इनको यह गौरव नहीं प्राप्त है कि स्थायियों में अपनी सर्व-श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकें। शेष पाँच स्थायियों में महामति धर्मदत्तजी की राय है कि अद्भुत स्थायी ही सर्वश्रेष्ठ है। वह कहते हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ;
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।

रस में सार वस्तु चमत्कार है। विस्मय-रूप चित्त का विस्तार चमत्कार है। विस्मय से ही चमत्कार उत्पन्न होता है। इस कारण अद्भुत-रस ही सर्व-श्रेष्ठ है। धर्मदत्तजी की उपर्युक्त सम्मति का अन्य आचार्यों ने वैसा आदर नहीं किया है। हमारी राय में रस में चमत्कार उत्पन्न कराने के लिये विस्मय परमावश्यक नहीं है। चमत्कार-उत्पादक कारणों में विस्मय भी हो सकता है, पर वही एकमात्र कारण नहीं है। कम-से-कम अद्भुत-रस का स्थायी भाव विस्मय उस विस्मय से बिलकुल भिन्न है, जो अन्य रसों में चमत्कार का कारण है। रस-चमत्कार का कारण विस्मय हो भी, तो वह शृंगारादि रसों में रत्यादि स्थायी भावों के सामने इतना दब जाता है कि उसका पृथक् अस्तित्व ही प्रकट नहीं होता। ऐसी दशा में विस्मय को सर्व-श्रेष्ठ

---

feelings are the instruments of rhetoric more justly than of poetry—anger, indignation, emulation, martial spirit and love of independence.

—*John Henry Newman*

स्थायी नहीं कह सकते हैं। सो अद्भुत-रस को रसों में सर्वोच्च आसन नहीं दिलाया जा सकता है।

कुछ विद्वानों की राय में शांत-रस ही सर्व-श्रेष्ठ है। मुनींद्रजी का शांत-रस-संबंधी निम्न-लिखित वर्णन बहुत प्रसिद्ध है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः।

पर शांत-रस के सर्व-श्रेष्ठ माने जाने के प्रबल विरोधी भी कई आचार्य हैं। यहाँ तक कि संस्कृत-साहित्य के अधिकांश आचार्य तो दृश्य-काव्य में शांत-रस का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते। कुछ-एक तो श्रव्य-काव्य में भी शांत का आदर करने को नहीं तैयार हैं। शम एक प्रकार से समस्त क्रिया की शून्यता का प्रादुर्भाव होता है। नाटक में इस भाव का अभिनीत होना असंभव नहीं, तो कष्ट-साध्य अवश्य है। ऐसी दशा में शांत-रस-प्रधान नाटकों की रमणीयता और चमत्कार को भारी धक्का पहुँचता है। दृश्य- काव्य में इस प्रकार से शांत-रस का पद कुछ भी नहीं के समान रह जाता है।

उधर मुनींद्र के ऊपर दिए वर्णन से जाना जाता है कि शांत में सुख का भी अभाव माना गया है। पर रस आनंदमय है। उधर इच्छा-शून्यता और अहंकार आदि के न होने से शांत में व्यभिचारी भावों की भी बहुत कम संभावना समझ पड़ती है। इसके अतिरिक्त शांत-रस का स्थायी 'निर्वेद' है या 'शम', इस विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। इस प्रकार जब 'शांत-रस' के रस माने जाने में ही ऐकमत्य नहीं, तब वह रसों में प्रथम आसन ग्रहण कर सकेगा, इसकी कोई संभावना नहीं है। शांत भी रसों में सर्व-श्रेष्ठ नहीं ठहरा।

करुण-रस का स्थायी भाव शोक है। कहते हैं, एक क्रौंच मिथुन-विहार कर रहा था। एक व्याधे ने उसमें से एक को मार डाला। दूसरा शोक-मग्न हो गया। वाल्मीकिजी ने इस दृश्य को देखा।

सहसा उनके मुँह से एक छंद निकल पड़ा। रामायण की रचना उसी छंद में हुई। कम-से-कम भारतवर्ष में करुण-रस को इस प्रकार का ऐतिहासिक महत्त्व दिया जाता है। करुण-रस-संबंधी इस ऐतिहासिक महत्त्व को यों ही मान लेने पर भी इससे रस की प्रधानता नहीं सिद्ध होती। करुण-रस और विप्रलंभ-श्रृंगार बहुत मिलते-जुलते हैं। दोनो में ही रुदन, खेद आदि पाए जाते हैं। दोनो में मनोव्यथा की समता है।

पर करुण-रस का स्थायी भाव शोक है, और विप्रलंभ का रति। इसके अतिरिक्त करुण निराशामय और विप्रलंभ आशा-पूर्ण है। करुण-रस के उपरि-दर्शित ऐतिहासिक महत्त्व के संबंध में भी इतना निवेदन करना है कि कदाचित् वाल्मीकिजी यदि एकाकी क्रौंच का वध देखते, तो उन्हें इतनी करुणा न उत्पन्न होती। सुंदर-वन में क्रौंच-पक्षी के जोड़े का मनोमोहक दृश्य उनके नेत्र-पटल के सामने था। इस आनंदमय भाव का भंग होना ऋषिवर को असह्य हो गया—उनको मर्मांतिक वेदना पहुँची। उसी के आवेश में उनके मुख से अनुष्टुप-छंद का प्रादुर्भाव हुआ। सो इस दृश्य-विशेष से एकमात्र करुण-रस की ही महत्ता नहीं प्रतिपादित होती है।

विप्रलंभ-श्रृंगार और शांत-रस की उपस्थिति में करुण-रस में ऐसी कोई बात नहीं रह जाती, जिससे रसों में उसे सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त हो सके।

वीर-रस तीन प्रकार का माना गया है, अर्थात् १ युद्ध-वीर, २ दया-वीर और ३ दान-वीर। इस रस का स्थायी उत्साह है। जान-बूझकर विना कारण पाशविक बल के प्रदर्शन-स्वरूप भी युद्ध हो सकता है, तथा दीनों की रक्षा, सत्सिद्धांतों के समर्थन एवं सभ्यता-संवर्द्धन के लिये भी युद्ध हो सकता है। पहले ढंग का युद्ध निंद्य, पर दूसरे ढंग का प्रशंनीय है।

यद्यपि युद्ध-वीर का स्थायी भाव उत्साह है, फिर भी इस उत्साह

का परिणाम विघातक है, संयोजक नहीं। दान और दया-वीर का उत्साह युद्ध-वीर के उत्साह की अपेक्षा मनुष्य में देव-प्रकृति का विशेष परिचायक है। परंतु समग्र वीर-रस के अंतर्गत केवल तीन ही प्रकार के (युद्ध, दान और दया-संबंधी उत्साह) उत्साह मानने से यह रस एक प्रकार से अपूर्ण-सा रह गया है। कुछ आचार्यों का यह कहना बिलकुल ठीक है कि जब उत्साह से ही वीर-रस की उत्पत्ति है, तो धर्म-वीर, कर्म-वीर, विद्या-वीर आदि और नाना प्रकार के वीर भी वीर-रस के अंतर्गत क्यों न माने जायँ? यहाँ हम यह बात स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि अन्य सभी प्रकार के वीर-रसों का समावेश युद्ध, दान और दया के अंतर्गत नहीं किया जा सकता है। उत्साह एक बड़ा ही अमूल्य स्थायी भाव है, परंतु उसमें उत्तेजक तथा प्रेरणा करानेवाली प्रवृत्ति ही विशेष है। संग्राहकत्व का सांगोपांग भाव उसमें पर्याप्त परिणाम में नहीं है। उसके आवेश में बड़े-बड़े काम हो सकते हैं, परंतु विकासमान सुशृंखलित रूप में सृष्टि का संगठन-कार्य उनके द्वारा कहाँ तक संभव है, यह कोई भी निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता। ऐसी दशा में वीर-रस को (जैसा कि वह साहित्य-ग्रंथों में सुलभ है) उत्साह स्थायी के आश्रित होने से सब रसों में श्रेष्ठता नहीं प्राप्त हो सकती है।

शृंगार-रस का स्थायी भाव रति या प्रेम है। प्रेम का महत्त्व सर्व-मान्य है। इंद्रिय-परितृप्ति के लिये विषय-वासना के भावों से पूर्ण काम-प्रवृत्ति और प्रेम एक ही वस्तु नहीं है। प्रेम एक दैवी विभूति है। यह संग्राहक है, और संयोजक भी। मनुष्य के हृदय में जो मृदुल-से-मृदुल भाव उठ सकते हैं, प्रेम उन सबसे बढ़कर है। उच्च-से-उच्च भाव प्रेम के पीछे-पीछे अनुधावन करते हुए पाए जाते हैं। सृष्टि की रक्षा का श्रेय प्रेम को है। धर्म का बंधन भी इसी के द्वारा परिपुष्ट है। चाहे उत्साह के विना संसार का काम चल जाय,

चाहे यह संभव हो कि संसार का कोई भी प्राणी शोक से संतप्त न हो, परंतु प्रेम के विना संसार-चक्र एक क्षण को भी नहीं घूम सकता है। प्रणय-सूत्र में बँधकर स्त्री-पुरुष की संसार-यात्रा सृष्टि की विजय है। स्त्री-पुरुष की प्रीति में उच्छृंखलता हो सकती है। प्रीति बिगड़कर काम-वासना-परितृप्ति के रूप में एक पापाचरण हो सकता है, इसलिये समाज में उसका नियंत्रण किया गया है। विवाह इस नियंत्रण का फल है। शृंगार-रस का स्थायी भाव प्रेम इसी वैवाहिक प्रेम का पोषक है। अन्य प्रकार के नर-नारी-प्रेम को वह रसाभास कहकर दूषित ठहराता है। सारांश, ऊपर दिखलाए सभी स्थायी भावों में प्रेम की महत्ता सर्वमान्य है। एक बार सब स्थायी भावों के संबंध में फिर से विचार कीजिए। क्या हास्य, क्रोध, भय, जुगुप्सा और विस्मय की बराबरी प्रेम से की जा सकती है? कदापि नहीं। प्रेम इन सबसे कहीं बढ़कर है। शोक और प्रेम का भी क्या मुक़ाबला? आशा-निराशा, संयोग और नाश में जो भेद है, वही प्रेम और शोक में है। शोक में मृदुल करुणा का जहाँ तक समावेश है, वह सब प्रेम के विरह-रूप में मौजूद है। शांति, निर्वेद अथवा प्रेम में कौन श्रेष्ठ है, यह बतलाना भी कठिन नहीं है। एक ओर संसार से विराग है, दूसरी ओर उससे अनुराग है। एक ओर सुख का अभाव है, दूसरी ओर आनंद का अगाध सागर है। एक ओर संपूर्ण क्रिया-शून्यता है, दूसरी ओर मृदुल मानुषी जीवन है। कम-से-कम इस मृत्यु-लोक में तो प्रेम की ही विजय है, और हमारा विचार है कि परलोक में भी मनोकामना पूरी कराने में इससे बड़ा और कोई सहायक नहीं मिल सकता है। उत्साह में उत्तेजना और प्रेरणा की अधिकता है, हर संग्राहकत्व और संयोजना में वह प्रेम के पीछे है। उत्साह के कई रूपांतर प्रेम के आश्रित हैं। सो सब स्थायी भावों में प्रेम की बराबरी करनेवाला और कोई स्थायी भाव नहीं है।

आलंबन-विभाव

प्रेम-जैसा सर्व-श्रेष्ठ स्थायी भाव नायक-नायिका के आलंबन को लेकर परिपाक अवस्था को प्राप्त होता है, अतएव श्रृंगार-रस के आलंबन-विभाव नायक-नायिका हैं। आलंबन-विभावों में नायक-नायिका के श्रेष्ठ होने का एक कारण तो यही है कि प्रेम-जैसा सर्वोच्च स्थायी भाव इन्हीं पर आलंबित है। दूसरी विशेषता यह कि नायक-नायिका का प्रेम पारस्परिक होता है। यदि नायक नायिका पर अनुरक्त होता है, तो नायिका भी नायक पर सर्वस्व न्योछावर करने के लिये तैयार रहती है। दोनो ओर से समान आकर्षण रहता है। तीसरी विशेषता यह कि नायक-नायिका में परस्पर सहानुभूति-मात्र का भाव नहीं रहता; वरन् प्रेम के प्रभाव से नायक-नायिका का द्विधाभाव ही नहीं रह जाता है। इन्हीं आलंबन-विभावों में तन्मयता पराकाष्ठा को पहुँच पाती है। अहं-भाव के मेटने का सर्वोच्च साधन यहीं पाया जाता है। अन्य स्थायी भावों के आलंबन-विभावों में यह बात आवश्यक नहीं है। अष्टावक्र को देखकर हमें तो हँसी छूटती है, पर हमारी हँसी से अष्टावक्र को क्रोध ही होता है। गुरु के बाग़ में अकालियों के जत्थे को आगे बढ़ते देखकर पुलिस के जवानों में आक्रमण करने का उत्साह उत्पन्न होता है। वे अकालियों को पीटते हैं, पर अकालियों के भाव क्या रहते हैं। इसी प्रकार से अन्य आलंबन-विभावों के संबंध में समझना चाहिए। उधर श्रृंगार के आलंबन-विभावों की यह दशा है कि—

सपने हूँ मनभावतो करत नहीं अपराध;
मेरे मन ही मैं रही सखी, मान की साध।

सारांश कि अन्य रसों के आलंबन-विभावों की अपेक्षा श्रृंगार-रस के आलंबन-विभाव विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। उनमें कई विशेषताएँ ऐसी हैं, जो औरों में नहीं पाई जातीं।

उद्दीपन-विभाव

जिस प्रकार से शृंगार-रस के आलंबन-विभाव महत्त्व-पूर्ण हैं, वैसे ही उसके उद्दीपन-विभाव भी औरों के उद्दीपन-विभाव से कहीं अधिक रमणीय और मनोरंजक हैं। ऋतुओं की रमणीयता, वन-विहार, सुंदर उपवन, भाँति-भाँति के फूल, विमल चंद्रिका, गीत-वाद्य-विनोद, मधुरालाप और निर्जन स्थान आदि का वर्णन शृंगार-रस के उद्दीपन के अंतर्गत आ जाता है। एक आचार्य की तो यह राय है कि संसार के सभी उत्तम और मेध्य पदार्थ शृंगार के उद्दीपक हैं। यह बात निश्चय-पूर्वक कही जा सकती है कि शृंगार-रस के उद्दीपकों में प्रकृति की रमणीयता तथा संसार की अन्य सभी मानसोल्लासकारिणी मेध्य सामग्री सम्मिलित है। ऐसी दशा में इसका उद्दीपन सहज ही अन्य रसों के उद्दीपन से हृदय पर विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि शृंगार-रस का उद्दीपन अन्य रसों के उद्दीपन से कहीं बढ़कर है।

अनुभाव और सात्त्विक भाव

रसों के अनुभावों का निश्चय नहीं किया गया है, परंतु ध्यान से देखने पर अनुभाव भी शृंगार-रस में ही परिपुष्ट दिखलाई पड़ते हैं। सात्त्विक भावों का संपूर्ण सामंजस्य तो शृंगार के बाँटे ही पड़ा है। हाव-नामक कुछ अन्य दशाएँ भी शृंगार की ही एकमात्र संपत्ति हैं।

निदान विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव आदि सभी के विचार से शृंगार-रस की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। उपरि-कथित इन सभी बातों में शृंगार को ही अधिक शक्तिशाली देखकर प्राचीन आचार्यों ने शृंगार-रस को 'रसराज' का पद प्रदान किया था। संस्कृत और हिंदी के बड़े-बड़े आचार्यों का यही मत रहा

है । प्राचीन कवियों में देवजी ने तथा आधुनिक कवियों में सरदारजी ने इस विषय पर कुछ विशेष विवेचना की है । उसका सारांश इस प्रकार है—

देवजी का मत

काव्य-शास्त्र में वर्णित नौ रसों में शृंगार, वीर और शांत मुख्य हैं । शृंगार और हास्य परस्पर मित्र रस हैं । इनका वर्णन साथ-साथ होने से रस-सौंदर्य में वृद्धि होती है । भयानक और शृंगार परस्पर विरोधी रस हैं । इनका वर्णन एक साथ न होना चाहिए ; परंतु यदि आलंबन-विभाव भिन्न-भिन्न हों, तो ऐसा वर्णन किया जा सकता है । साहित्य-दर्पण के सप्तम परिच्छेद में यह विषय भली भाँति प्रतिपादित हुआ है । भयानक और शृंगार का इस दशा में जो वर्णन होगा, वह क्षम्य है । इस प्रकार से शृंगार, हास्य और भयानक इन तीन रसों का वर्णन साथ-साथ हो सकता है । वीर-रस के साथ करुण और रौद्र-रस के व्यवहार में काव्य-शास्त्र किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं करता, इसलिये वीर, रौद्र और करुण-रस का भी वर्णन साथ-साथ हो सकता है । इसी प्रकार शांत, अद्‌भुत और बीभत्स-रस का भी साथ-साथ वर्णन हो सकता है । सारांश यह कि मुख्य शृंगार-रस के साथ हास्य और भयानक का तथा वीर के साथ रौद्र और करुण का एवं शांत के साथ अद्‌भुत और बीभत्स का वर्णन हो सकता है । अब देखना यह है कि क्या शृंगार के साथ वीर और शांत का वर्णन हो सकता है ? देवजी की राय है कि विशेष-विशेष अवस्थाओं में ऐसा वर्णन हो सकता है । साहित्य-दर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने भी इस मत का समर्थन किया है । वीर और शृंगार का यदि एक ही आलंबन हो, तो वे अवश्य विरोधी हैं, और उनका साथ-साथ वर्णन नहीं हो सकता, परंतु यदि आलंबन दूसरे-दूसरे हों, तो इन दोनो रसों का साथ-साथ वर्णन हो सकता है । एक उदाहरण

लीजिए। सीताजी के साथ रामचंद्रजी दंडकारण्य में बैठे हैं। शूर्पणखा की नाक काट चुके हैं। एकाएक बदला लेने के लिये खर-दूषण की सेना उन पर चढ़ दौड़ी। इस दृश्य को देखकर सीता के रोमांचित कपोलवाले मुख-कमल को देखते हुए और बार-बार राक्षसों की सेना के कलकल-शब्द को सुनते हुए श्रीरामचंद्रजी अपने जटाजूट की ग्रंथि को सँभालकर बाँध रहे हैं। यहाँ सीता को आलंबन करके शृंगार और राक्षसों को आलंबन करके वीर-रस एक ही श्रीराम में समाविष्ट हैं, परंतु यह दोष नहीं; क्योंकि शृंगार का आलंबन सीता है, और वीर का राक्षस लोग। अतएव यह स्पष्ट है कि भिन्न आलंबन होने से शृंगार और वीर का साथ-साथ वर्णन हो सकता है। देवजी की राय में शृंगार और शांत का भी साथ-साथ वर्णन हो सकता है। इस मत का समर्थन भी साहित्य-दर्पण से होता है। शृंगार और शांत का वर्णन यदि बिलकुल पास-ही-पास हो, ठीक एक के बाद दूसरा वर्णन आ जाता हो, तो वह दूषित है, परंतु यदि यह निरंतरता भंग हो गई हो, बीच में किसी और रस का भी निवेश कर दिया गया हो, तो ऐसा वर्णन सदोष नहीं। नागानंद-नाटक में जीमूतवाहन शांति-रस के पात्र हैं, परंतु उनका मलयवती में अनुराग वर्णित हुआ है। इस शांत और शृंगार-वर्णन के बीच में 'अहो गीतम्, अहो वादित्रम्' आदि अद्भुत रस-संस्थापक पदों का प्रयोग हो जाने से ऐसा शृंगार और शांत का वर्णन साथ-साथ किया जा सकता है। सो शृंगार-रस के साथ शांत का भी वर्णन हो सकना प्रमाणित हो गया। जब शृंगार के साथ शांत और वीर तक का वर्णन अवसर-विशेष पर संभव है, तो यह मानने में कुछ भी आपत्ति नहीं रह जाती कि करुण-रौद्र को अपने आश्रय में रखते हुए भी विशेष अवसर पर वीर-रस शृंगार के साथ-साथ बैठने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। तथैव शांत भी अद्भुत और बीभत्स को अपना पिछलगू बनाए हुए शृंगार

के साथ मज़े में विचरण कर सकता है। उधर स्वयं शृंगार महाराज हास्य और भयानक को अंगीकार कर सकते हैं, यह ऊपर दिखलाया ही जा चुका है। ऐसी दशा में शृंगार-रस की छत्रच्छाया में सभी रस एकत्र दिखलाई पड़ सकते हैं, यह सर्वथा संभव प्रतीत होता है। इस प्रकार जब शृंगार-रस में ऐसी सामर्थ्य है, तो उसे सब रसों का राजा या रसराज मानने में आपत्ति ही क्या रह जाती है? स्वयं देवजी के शब्दों में उनका मत इस प्रकार से है—

तीनि मुख्य नौहू रसनि, द्वै-द्वै प्रथमनि लीन;
प्रथम मुख्य तिन तिहूँ मैं, दोऊ तिहि आधीन।
हास्य रु भय सिंगार-सँग, रुद्र-करुन सँग बीर;
अद्भुत अरु बीभत्स-सँग बरनत सांत सुधीर।
ते दोऊ तिन दुहू जुत बीर सांत में आय—
संग होत शृंगार के, तातें सो रसराय।
निर्मल सुद्ध सिंगार-रसु 'देव' अकास अनंत;
उड़ि-उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अंत।
भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल सिंगार;
जो संपति दंपतिनु की, जाको जग बिस्तार।

देवजी ने अपने कथन की पुष्टि में उदाहरण भी दिए हैं; पर उन सबके यहाँ उद्धृत करने से ग्रंथ का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। यदि पाठकगण कृपा करके शब्द-रसायन का पाठ करेंगे, तो उन्हें दिखलाई पड़ेगा कि शृंगार-रस के साथ-साथ अन्य रसों का वर्णन एक प्रतिभावान् कवि कितनी सफलता के साथ कर सकता है। कवि-वर केशवदास ने भी अपनी रसिकप्रिया में अन्य सभी रसों का वर्णन शृंगार-रस के ही साथ किया है। प्रकारांतर से उन्होंने भी शृंगार को ही रसों में प्रधान पद दिया है। आधुनिक कवियों में कविवर सरदार ने काव्य-शास्त्र की विवेचना बड़े अच्छे ढंग से की है। शृंगार-रस के संबंध में उनके मत का भी सारांश दिया जाता है।

सरदार कवि का मत

सरदार कवि ने अपने 'साहित्य-सुधानिधि' ग्रंथ के आरंभ में, प्रश्नोत्तर-रूप में, इस बात पर, विवाद किया है कि रसराज कौन है ? आपकी दलील का सारांश इस प्रकार है—शृंगार-रस के देवता कृष्ण माने गए हैं। कृष्ण और विष्णु एक ही हैं, मगर संसार की सृष्टि के सर्वस्व कामदेव के साथ विष्णु की अपेक्षा कृष्ण का अधिक संपर्क है। विष्णु से कृष्ण में इतनी अधिकता है। विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र, ये सभी समान प्रभाववाले हैं। फिर भी राजा वही बनाया जाता है, जिसका काम पालन हो। यह काम विष्णु और कृष्ण बराबर कर सकते हैं; परंतु कृष्ण में विष्णु से कुछ विशेषता है, इसलिये वही रसराज के देवता माने गए। शृंगार के देवता कृष्ण बनाए गए, इसका अभिप्राय यह है कि इसका प्रभाव सृष्टि-स्थिति बनाए रखनेवाला माना गया है। यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसी के कारण शृंगार रसराज मान लिया गया। सरदारजी की राय है कि शृंगार में सब संचारी पाए जाते हैं। इस कारण भी वह सबसे बड़ा है। सारा संसार प्रकृति और पुरुष की क्रीड़ा का रंग-स्थल है। इसी के प्रतिबिंब के समान इस रस में नर-नारी की उचित प्रीति का वर्णन है, इसलिये भी वह रसराज है। उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—दैवी और मानुषी। ऋतु-रमणीयता आदि दैवी उद्दीपन हैं। और रसों के उद्दीपन अधिकतर मानुषी हैं; पर शृंगार के मानुषी और दैवी दोनो हैं। इसके उद्दीपन सर्वत्र और बारहो मास सुलभ हैं। इसी से यह रसराज है। इसके विरोधी रसों का भी इसके साथ मित्रवत् वर्णन किया जा सकता है। अन्य रस इसके अंगी बनाए जा सकते हैं। इससे भी शृंगार की प्रमुखता प्रमाणित होती है।

संस्कृत के कवियों का मत

संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने रसों का वर्णन करते समय

शृंगार को ही प्रमुखता का स्थान दिया है। सबसे अधिक वर्णन (भेद-भेदांतर आदि) भी इसी रस का किया गया है। बहुतों ने इस संबंध में अपना स्पष्ट मत प्रकट किया है कि यह रसराज है; परंतु बहुतों ने अपना मत गोल रक्खा है। चौदहवीं शताब्दी के कवि विद्याधर ने एकावली-नामक एक साहित्य-ग्रंथ लिखा है। इसके रस-प्रकरण में उन्होंने भोजदेव-नामक एक पूर्ववर्ती कवि के 'शृंगार-प्रकाश'-नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की रचना शृंगार की सर्व-श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये की गई थी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने संजीवन-भाष्य के ५वें पृष्ठ पर इन बातों की चर्चा की है। शृंगार-प्रकाश में कवि ने शृंगार की महत्ता निम्नलिखित श्लोकों द्वारा प्रतिपादित की है—

वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ;
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।
शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र-
बीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः ;
आम्नासिषुदशरसान् सुधियो वयन्तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।

सारांश

संसार प्रकृति-पुरुष की केलि-लीला की रंग-स्थली है। नारी-पुरुष की प्रीति प्रकृति-पुरुष की बड़ी प्रीति का प्रतिबिंब-मात्र है। शृंगार-रस में इसी प्रीति का प्रतिपादन है। इस रस का स्थायी भाव प्रीति है। अन्य आठ रसों का कोई भी स्थायी भाव प्रेम की बराबरी नहीं कर सकता। शृंगार-रस के आलंबन-विभाव में ये विशेषताएँ

हैं कि नायक-नायिका में समान आकर्षण एवं समता का भाव रहता है। परस्पर एक दूसरे पर न्योछार हो जाते हैं। तन्मयता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। द्वैतभाव का लोप हो जाता है। इस रस का उद्दीपन-विभाव और भी विशिष्ट है। दैवी और मानुषी, दोनो ही प्रकार के उद्दीपनों से इसका कलेवर भूषित है। इसके उद्दीपन सर्वत्र और सब काल में पाए जाते हैं। वे मेध्य हैं, और सुंदरता में सर्वोपरि हैं। इस रस में संचारी भाव भी अन्य सभी रसों से बहुत अधिक संख्या में पाए जाते हैं। सात्त्विक भाव और हाव का यदि विचार भी न करें, तो भी अनुभावों का आधिक्य भी इसी रस के भाव में पड़ता है। अन्य सब रस किसी-न-किसी अवस्था में इसके साथ वर्णित हो सकते हैं। इन्हीं सब बातों पर विचार करके पहले के आचार्यों ने शृंगार को 'रसराज' की पदवी से विभूषित किया है। शेष आठ रसों में से अन्य किसी में भी यह योग्यता नहीं कि शृंगार में पाई जानेवाली विशेषताओं का अर्द्धांश भी अपने में प्रदर्शित कर सके। असल बात तो यह है कि इसका स्थायी भाव 'प्रेम' इतना महान् है कि अन्य रसों के स्थायी भाव उसके निकट भी नहीं पहुँच सकते। तन्मयता, मृदुलता, स्वार्थनिलय, द्वैतभाव-शून्यता, संग्राहकत्व, विधेयात्मिकता तथा संसार-सृष्टि-रक्षा के जो दिव्यतम भाव प्रेम में मौजूद हैं, वे अन्यत्र कहाँ पाए जा सकते हैं? हमारी राय में तो अकेले प्रेम का स्थायी भाव होना ही शृंगार-रस को निर्विवाद रसराज-पद पर अभिषिक्त करने को समर्थ है। फिर यहाँ तो और बातें भी दिखलाई गई हैं। यह वही प्रेम है, जिसका लक्षण भवभूति ने यह दिया है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ;
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेमसु मानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

नायिका-भेद

नायिका का उपयुक्त पात्र नायक त्यागी, कृती, कुलीन, समृद्धिमान्, रूपयौवनोत्साही, दक्ष, लोकरंजक, तेजस्वी, विदग्ध और सुशील होना चाहिए। उसके अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ-नामक चार भेद माने गए हैं। अनुकूल नायक की प्रीति सदा अपनी विवाहिता पत्नी से रहती है। यह परनारी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उसके विषय में पत्नी को विवश होकर कहना पड़ता है—

सपनेहूँ मनभावतो करत नहीं अपराध;
मेरे मन ही मैं रही सखी, मन की साध।

नायिका मान करना चाहती है, पर अनुकूल नायक ऐसा अवसर ही नहीं आने देता कि मान कर सके। संयोगावस्था में तो यह दशा रहती है; जब कार्य-वश नायक को परदेश जाना पड़ता है, तो वहाँ भी अपनी पतिव्रता स्वकीया पत्नी के ध्यान ही में मग्न रहता है। वह उस अवसर की बाट ही जोहा करता है, जब प्रियतमा के दर्शन हों। अनुकूल प्रोषित नायक का वर्णन भी मतिरामजी ने अपूर्व ही किया है—

"प्यार-पगे बचन-पियूष पान करि-करि
उमँगि-उमँगि उर आनँद बिसेखिहौं;
'कवि मतिराम' तन-तपनि बुझाय जैहै,
तबै निज जनम सफल करि लेखिहौं।
ही-तल को सीतल करन चारु चाँदनी-सी
मंद, मृदु मुसकानि अनमिख पेखिहौं;
ह्वैहै तब निसा मेरे लोचन-चकोरनि की,
जब वाको आनन-अमल इंदु देखिहौं।"

दक्षिण नायक अपनी अनेक प्रियतमाओं पर समान प्रीति रखता है। कवि उसके विषय में कहता है—

दक्षिण नायक एक तुम मनमोहन ब्रजचंद !
फुलए ब्रज-बनितान के दृग-इंदीबर-बृंद ।

धृष्ट नायक निःशंक भाव से अपनी प्रियतमा के मान की परवा न करके मनमाना अपराध किया करता है । शठ नायक भी ऐसा ही है; पर वह ऊपर से तो मीठी-मीठी बातें करता है, और अंतर में अपनी शठता से नहीं चूकता । परकीयाओं में अनुराग करनेवाले नायक को उपपति तथा वेश्यानुरक्त नायक को वैशिक कहते हैं । अनेक नायक प्रियतमा से मान भी करते हैं, वे 'मानी' कहलाते हैं । क्रिया-चतुर और वचन-चतुर-नामक नायक के दो और भी भेद माने गए हैं ।

यथासंभव नायक के समान गुणवाली रमणी नायिका कहलाती है । ऊपर दिए नायक के अन्य सभी गुणों में समान होते हुए भी उसमें उत्साह, दक्षता तथा तेज आदि कई गुणों के मानने में आचार्यों को झिझक है, इसी कारण से उसके लक्षण में 'यथासंभव' शब्द को स्थान मिलता है ।

श्रृंगार-रस नायिका-नायक पर ही अवलंबित है । यही उसके आलंबन-विभाव हैं । इसी कारण से मतिराम ने रसराज में नायिका-भेद का वर्णन किया है ।

रसराज में वर्णित श्रृंगार-रसांतर्गत नायिका-भेद का—विशेष करके स्वकीया मुग्धा* का—सारांश आगे लिखा जाता है । मध्या और प्रौढ़ा, स्वकीया तथा परकीया और गणिका के भी दो-एक चमत्कार-पूर्ण उदाहरण यथास्थल दे दिए गए हैं ।

नायिका संज्ञा को प्राप्त कर सकनेवाली रमणी-विशेष को—

"ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैनन, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ।"

जितना ही सन्निकट से उसकी परीक्षा की जाती है, उतनी ही उसमें अच्छी-अच्छी बातें दृष्टिगत पड़ती हैं ।

---

*स्वकीया मुग्धा के प्रेम को देवजी ने बहुत अधिक महत्त्व दिया है ।

जो रमणी रात-दिन अपने पतिदेवता के अनुराग में पगी रहती है, जिसकी सहज लज्जा और शील-गुण को देखकर पति अपने को बड़भागी मानता है, उस नारी-रत्न को स्वकीया नायिका कहते हैं। वह—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ;
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ।

अभिनव यौवन के आगमन से मदन-विकार-युक्त, परंतु रति में वामा, मृदुल, मानवाली, सहज लजीली नायिका को मुग्धा कहते हैं। इसके—

अभिनव यौवन-जोति सों, जगमग होत विलास ;
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास ।

जब इसको अपने यौवनागम का हाल विदित नहीं रहता है, तब इसे अज्ञातयौवना कहते हैं। प्रियतम खेल में इसके नेत्र अपने हाथ से बंद करता है। इससे सात्त्विक-स्वेद का प्रादुर्भाव होता है। उस दशा में इसे ऐसा जान पड़ता है, मानो नायक ने मेरी आँखों में कपूर लगा दिया हो, तभी तो वह कहती है—

"लाल, तिहारे संग मैं खेले खेल बलाय ;
मूँदत मेरे नयन हौ करन कपूर लगाय ।"

उसे यौवनोचित सात्त्विक भाव-वश आनेवाले स्वेद का ज्ञान नहीं है, परंतु जब उसे ऐसा ज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञातयौवना कहलाती है। उस दशा में वह अपने पति की ओर—

"दीठि बचाय सखीन की, छनकु निहारत छाँह ।"

मुग्धा रति में वामा तो होती ही है। सो जब भय और लाज के कारण यह पति के संग में रति नहीं चाहती, तो उसे नवोढ़ा कहते हैं। उस दशा में—

ज्यों-ज्यों परसत लाल तन, त्यों-त्यों राखति गोय ;
नवल बधू उर-लाज ते इंद्र-बधू-सी होय ।

इसी नवोढ़ा में जब प्रियतम के प्रति प्रतीति का कुछ भाव बढ़ जाता है, तो वह विश्रब्ध नवोढ़ा के नाम से प्रसिद्धि पाती है। वैसी दशा में उसका कथन है—

प्रीतम, तुमरी सेज पै हौं आवत नँदलाल ;
दया गहौ, बात न कहौ, दुख न दीजिए लाल।

दस अवस्था-भेद से मतिरामजी ने भी दस प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं। हम तो यहाँ केवल मुग्धा के ऐसे दस भेद दिखलावेंगे।

प्रियतम के आने का निश्चय जानकर शृंगार करके जो मुग्धा सुंदरी अपना मनोरथ सफल करने के लिये तैयार रहती है, उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं। हम देखते हैं कि केलि-भवन जाकर वह—

"पौढ़ि रही छिन सेज तिय अति आनँद अधिकाय।"

शय्या पर पड़ी तो है, परंतु प्रिय के तब तक न आने के कारण चिंतित होती हुई उसकी यह दशा होती है कि—

"चंद बढ़्यो उदयाचल पै, मुख-चंद पै आनि चढ़ी पियराई।"

प्रिय-आगमन की उत्कंठा के कारण ही वह उत्कंठिता नायिका कहलाती है।

उत्कंठिता की उत्कंठा यों ही छोड़िए। देखिए, अब तो यह स्वयं अपने पतिदेवता से अन्यत्र मिलने जा रही है। उसके इस अभिसार-कौतूहल को देखकर ही उसे अभिसारिका की संज्ञा मिली है। जा तो रही है, पर मुग्धत्व के वश इस अभिसार में उसकी जैसी दशा है, वह देखते ही बनती है—

अली चली नवलाहि लै पिय पै साजि सिंगार ;
ज्यों मतंग अँड़दार को लिए जात गँड़दार।

संकेत-स्थान में जाकर भी जब प्रियतम के दर्शन न हुए, तो उसने दीनता से चंद्रमा की ओर देखा। आह ! अब तो—

"नवल बाल को कमल-सो गयो बदन कुँभिलाय।"

इस दशा में वह पूरी विप्रलब्धा नायिका हो गई ।

अपने प्रियतम के साथ अन्य स्त्री के मिलन-संबंधी चिह्नों को पाकर मुग्धा सुंदरी का दुःख बड़ा ही मर्मस्पर्शी है । कैसी सौम्य खंडिता है !—

"बाल नबेली न रूसनो जानति, भीतर भौन मसूसनि रोवै ।"

पर मुग्धा सुंदरी शीघ्र ही रूसने की क्रिया में भी दक्ष हो गई । पहले तो वह प्रियतम के मानमोचन-संबंधी अनुनय-विनय की उपेक्षा करती है; पर अंत में उसी को पछताना पड़ता है । कलह-अंतरित इस दशा के कारण वह कलहांतरिता नायिका हो गई है । उसके प्रति सखियों का यह उपालंभ कितना ठीक है—

आई गौने कालि्ह ही, सीखो कहाँ सयान ?
अब हीं ते रूसन लगी, अब हीं ते पछितान ।

पर यह रूसना और पछताना व्यर्थ नहीं गया । उसने धीरे-धीरे पति पर अपना पूरा प्रभाव जमा लिया । वह उसके बिलकुल वश हो गए । मुग्धा सुंदरी ने स्वाधीनपतिका की पदवी प्राप्त कर ली । पति उसके इतना अधीन हो रहा है कि यह स्वयं लज्जित है । इस विषय में सखी के प्रति उसके हृदयोद्‌गार कितने भले हैं—

"हौं लखि लाजन जात मरी, 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पी के;
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अब हीं तैं ये चेरे भए दुलही के ।"

कहाँ यह दशा, कहाँ प्रियतम के विदेश-गमन की तैयारी ! जिस दिन से प्रियतम के विदेश-गमन की चर्चा सुनी है, शरीर पीला पड़ गया है—शारीरिक श्रृंगार से उदासीनता हो गई है । सखियों से हँसी करके भी चित्त नहीं बहला पाती है । प्रवत्स्यत्प्रेयसी की कैसी करुण दशा है—

"सोवति न रैन-दिन, रोवति रहति बाल,
बूझे ते कहति—सुधि मायके की आई है ।"

पति विदेश चला गया। नायिका-प्रोषितभर्तृका हो गई। अब तो उसके नेत्रों की यही दशा है कि—

"पिय-बियोग तिय-दृग-जलधि, जल-तरंग अधिकाय;
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जात बिलाय।"

पति विदेश से लौट आया है। मुग्धा सुंदरी आगतपतिका हो रही है। आनंद की सीमा नहीं है—

पिय आयो, नव बाल-तन बाढ़यो हरख-बिलास;
प्रथम बारि बूँदन उठै, ज्यों बसुमती सुबास।

स्वकीयांतर्गत मुग्धा के अतिरिक्त मध्या और प्रौढ़ा-नामक दो और भेद हैं। मध्या में लज्जा और काम बराबर-बराबर होता है। प्रौढ़ा तो अखिल काम-कला-चतुर होती है। इन दोनो प्रकार की नायिकाओं में भी ऊपर-दर्शित दसो भेद पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, धीरा, धीराधीरा और अधीरा आदि कई भेद मध्या और प्रौढ़ा में अधिक होते हैं। परकीया में भी ऊपरवाली दसो प्रकार की नायिकाएँ मानी गई हैं। इसके अतिरिक्त ऊढ़ा, अनूढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयाना-नामक कई प्रकार की नायिकाओं का सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है। ऊपरवाला दस प्रकार की नायिकाओं का क्रम गणिका में भी बाँधा गया है। इसके अतिरिक्त अन्यसंभोगदुःखिता, प्रेम तथा रूपगर्विता-नामक नायिकाओं का उल्लेख भी रसराज में है। एक ही पुरुष की दो ब्याही स्त्रियों में जिस पर प्रीति विशेष हो, वह ज्येष्ठा और दूसरी कनिष्ठा कहलाती है। यह भेद-क्रम स्वकीया के अंतर्गत है। स्वकीया भी उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार की मानी गई है। उत्तमा पति-कृत हित या अहित की परवा न करके सदा पति का हित ही करती है। मध्यमा पति के हित का बदला तो हित में देती है; परंतु अहित का जवाब उसके पास मान में है। अधमा विना कारण ही मान करती है। मान करनेवाली

नायिका का नाम 'मानवती' भी है। श्रवण, स्वप्न, चित्र और प्रत्यक्ष-नामक चार दर्शनों को रसराजकार ने आलंबन के अंतर्गत वर्णन किया है। श्रृंगार-रस में नायक और नायिका आलंबन-विभाव हैं। उद्दीपन का लक्षण मतिरामजी ने यह दिया है—

"चंद्र, कमल, चंदन, अगरु, ऋतु, बन, बाग, बिहार ;
उद्दीपन - श्रृंगार के ये उज्ज्वल सृंगार।"

सखी के काम मंडन, शिक्षा, उपालंभ और परिहास हैं। दूतियाँ उत्तमा, मध्यमा और अधमा होती हैं। आलंबन और उद्दीपन-विभाव से परिपुष्ट स्थायी भाव को अनुभावों की सहायता अपेक्षित होती है। अनेक अनुभावों के अंतर्गत ही मतिरामजी ने सात्त्विक भाव भी मान लिए हैं। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय-नामक आठ सात्त्विक भावों का वर्णन भी रसराज में दिया है। 'जृंभा'-नामक एक नवें सात्त्विक का वर्णन भी कुछ कवि करते हैं। इस कारण मतिराम ने उसका भी उल्लेख किया है। अनुभावों की सहायता के पश्चात् स्थायी भाव में एक अपूर्व आनंदोद्भूति होती है। इसी को रस कहते हैं। रस दो प्रकार का होता है। जिसमें नायक-नायिका का सम्मिलन हो, वह संयोग-श्रृंगार कहलाता है, तथा जिसमें मिलाप नहीं हो पाता, उसे वियोग-श्रृंगार कहते हैं। दंपति की संयोगावस्था में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी 'हाव' नाम से विशेष संज्ञा है। इन हावों के नाम लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, विहृत तथा ललित हैं। वियोग-श्रृंगार के तीन भेद हैं, अर्थात् १. पूर्वानुराग, २. मान तथा ३. प्रवास। मान लघु, मध्यम और गुरु, इन तीन प्रकार का होता है। वियोग-दशा में नायिका अनेक प्रकार से कष्ट पाती है। प्रत्येक अवसर के कष्ट का लक्ष्य करके नायिका की नौ दशाएँ नियत की गई हैं। इनके नाम अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप,

उन्माद, व्याधि और जड़ता हैं। तेंतीस व्यभिचारी भावों का वर्णन रसराज में नहीं है।

(१) वचनों की रचना से अपने विवाहित पति के प्रति कोप प्रकट करनेवाली मध्या और प्रौढ़ा स्वकीया नायिका धीरा के नाम से विख्यात है। जब वचनों की रचना कठोरता लिए होती है, तो नायिका की संज्ञा अधीरा मानी गई है। जिसमें धीरा और अधीरा दोनो के गुण मौजूद हों, उसे धीराधीरा कहते हैं। मध्याधीरा पति की आँखों में अन्यत्र रात्रि-जागरण के कारण उत्पन्न लाली देखकर उससे कहती है—

"मनहूँ की जानी प्रानप्यारे 'मतिराम' यह,
नैंनन ही माँहि पाइयतु अनुराग है।"

वही मध्या अधीरावस्था में स्वामी की रसीली छेड़-छाड़ से बिगड़-कर कहती है—

"सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों हीं कहा रसबाद बढ़ायो ?
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो।"

नायक नायिका से पूछता है कि आज मान क्यों किया है ? धीराधीरा इसका उत्तर यों देती है—

"तुम सों कीजै मान क्यों बहुनायक मनरंज ?
बात कहत यों बाल के भरि आए दृग-कंज।"

प्रौढ़ा धीरा तो अपने पति को केवल—

"ढीली बाँहन सों मिली, बोली कछू न बोल ;
सुंदरि मान जनायके लियो प्रानपति मोल।"

(२) मध्या विप्रलब्धा को जब पति संकेत-स्थल में नहीं मिला, तो उसकी आँखों में आँसू भर आए, पर वे भूमि में नहीं निपतित हुए। इस व्यापार पर कवि की कल्पना यह है कि अश्रु-रूप मोती तीक्ष्ण कटाक्षों में भिदकर जहाँ-के-तहाँ ही रह गए—

"भूलि हुलास-बिलास गए, दुख ते भरिकै अँसुवा उमहे हैं ;
ईछनि-छोरनि ते न गिरे, मनो तीछन कोरन छेदि रहे हैं ।"

प्रौढ़ा विप्रलब्धा जब संकेत-स्थल को जा रही थी, तो उसका मुख-चंद्र ऐसा विहसित था कि बेचारा चंद्रमा लज्जित-सा हो रहा था; परंतु जब निर्दिष्ट स्थान में स्वामी से भेंट नहीं हुई, तो उसके मुख पर ऐसी विवर्णता छा गई कि मुख-चंद्र की सारी शोभा फीकी पड़ गई । अब चंद्रमा की पारी थी । मानो इस विपत्ति के अवसर पर वह नायिका को हँस रहा था । कैसी मनोहर उक्ति है—

"चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को ।"

(३) नवविवाहिता वधू को ले जाने के लिये पितृगृह से लोग आए हैं । पति से वियोग होगा, इस कष्ट को न सह सकनेवाली मध्या प्रवत्स्यत्प्रेयसी ने रात जागकर बड़े सोच-विचार में बिताई है । उसकी ऐसी दशा देखकर कोई कहता है—

"तू न बहू को पठाय अरी, यह देखि दुहून की प्रीति सुहाई ;
रोए-से लोचन, मोए-से रोचन, सोए न, सोचन राति बिताई ।"

अंतिम पद कितना चमत्कार-पूर्ण है !

प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी की सिफ़ारिश भी सखी अच्छे ढंग से करती है—

"कोपन ते किसलय जबै होयँ कलिन ते कौल ;
तब चलाइयो चलन की चरचा नागर नौल ।"

उद्दीपन की इस सामग्री की ओर यदि नायक का ध्यान न जाय, तो वह अज्ञ ही है ।

(४) एक स्थल पर मध्या नायिका का मान-मोचन ऐसे अच्छे ढंग से हुआ है कि—

"रिस ही के आँसू रस-आँसू भए आँखिन मैं,
रिस की ललाई, सो ललाई अनुराग की ।"

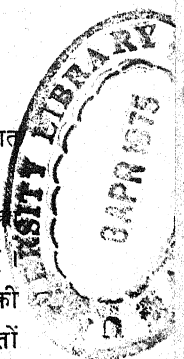
अनुराग का रंग लाल माना गया है।

(५) सात्त्विक भावों में 'प्रलय' भाव का वर्णन मतिराम ने बहुत अपूर्व किया है। प्रियतम से प्रत्यक्ष होने के बाद से उनकी मधुर मुस्कान नायिका के मन में ऐसी बस गई है कि वह सदा उसी का ध्यान किया करती है। उसको यह भान होता है कि प्रियतम सामने मुस्किराता हुआ खड़ा है। बस, उसके नेत्र भी निर्निमेष होकर रह जाते हैं। उसके शरीर की संचलन-शक्ति बंद हो गई है। ज्ञान भी जाता रहा है। बिलकुल स्थिर बैठी है, मानो कोई दीपक निर्वात स्थान में जल रहा हो—

"जा दिन ते छबि सो मुसुकान कहूँ निरखे नँदलाल बिलासी,
ता दिन ते मन-ही-मन मैं 'मतिराम' पियै मुसकानि सुधा-सी।
नेकु निमेष न लागत नैन, चके चितवैं तिय देव-तिया-सी;
चंद-मुखी न चलै, न हिलै निरबात निवास मैं दीप-सिखा-सी।"

कहते हैं, देवताओं के नेत्रों में पलक नहीं गिरती है। "निरबात निवास में दीप-सिखा-सी" इस पद में कैसी अच्छी उपमा है!

(६) (क) जहाँ थोड़े ही भूषण-वसन धारण करने से नायिका की अपूर्व शोभा प्रकट होती है, वहाँ 'विच्छित्ति' हाव माना गया है।



नायिका-विशेष ने केवल श्वेत साड़ी धारण की थी; परंतु उसकी उस श्वेत साड़ी के संयोग से ही ऐसी शोभा उमड़ पड़ी कि सब सौतों के मुँह काले पड़ गए। उधर प्रियतमजी उसी साड़ी के रंग में ऐसे रँगे कि श्याम से अनुराग-वश लाल हो गए। कैसी चतुरता से भरी उक्ति है—

"सेत सारी ही सों सब सौतैं रँगी स्याम रँग,
सेत सारी ही सों स्याम रँगे लाल रंग में।"

(ख) पति द्वारा अंग-विशेष के स्पर्श होने से संभ्रमित होना हाथ आदि का संचालन करना नायिका में कुट्टमित हाव प्रकट करता

है। इस हाव का उदाहरण भी मतिराम ने परम मनोहर दिया है—

"पीतम को मनभावती मिलति बाँह दै कंठ;
बाँही छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ।"

(७) पति के मुख से जब नायिका अन्य स्त्री का नाम सुनती है, जिससे नायक का उस दूसरी पर अनुरक्त होना समझ पड़ता है, वह मान करती है। इस प्रकार के मान को मध्यम मान कहते हैं।

एक दिन आषाढ़ की संध्या को दंपति आनंद से बैठे थे। बातों-ही-बातों में पति के मुख से अन्य स्त्री का नाम निकल गया। बस, सारा आनंद किरकिरा हो गया। नायिका मान के वश हो बैठी। उसकी भौंहें तन गईं। आँखों से आँसू की बूंदें गिरने लगीं। हास्य का कहीं पता ही न रहा—

"दोऊ अनंद सों आँगन-माँझ बिराजे असाढ़ की साँझ सोहाई;
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई उन मन मैं हँसी, कोपि तिया सुरचाप-सी भौंहैं चढ़ाई;
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाँई।"

उपर्युक्त छंद में जिस घटना का वर्णन है, वह प्रावृट्-काल की है। मतिरामजी ने भी मान-प्रकाशक भ्रू-संकोच, अश्रु-पात तथा हास्या-भाव की उपमा ऐसी ही चीज़ों से दी है, जिनके वर्षा के साथ वर्णन में ही विशेषता है। वर्षा-काल का अपूर्व इंद्रधनुष भौंहों के चढ़ने में देख पड़ा। आँसू क्या गिरे, मेह झरने लगा, और पावस के आते-न-आते जैसे हंस भाग जाते हैं, वैसे ही हास्य की भी बिदाई कर दी गई। हास्य और हंस का श्वेत रंग कितना अनुरूप है। कवि राजा मुरारिदान ने अपने वृहत् 'जसवंत-जसोभूषण' ग्रंथ में उपर्युक्त छंद को परंपरित उपमा के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(क) मतिराम ने नायिका की कई दशाओं का चित्र भी अनोखा खींचा है।

विरहावस्था में नायिका जब अपने प्रियतम के रूप की सराहना आदि करती है, तो उसे गुण-कथन कहते हैं। इस गुण-कथन का जीता-जागता चित्र निम्न-लिखित छंद में वर्तमान है—

"मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सुहाई;
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई?
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान-लुनाई।"

नेत्रों के अश्रु खारी होते हैं—उनमें लुनाई रहती है, पर नायिका को यह 'लुनाई' मीठी लगती है। प्रेमाधिक्य से प्रियतम की बुरी चीज भी अच्छी लगती है। सो लुनाई भी मिठाई हो रही है। जब लुनाई में ही मिठाई मिल रही है, तब मुख की मिठाई का क्या कहना। उसमें तो मिठाई पहले से ही थी।

(ख) विरह की व्याकुलता में जब नायिका को कुछ भी अच्छा नहीं लगता, तब उस अवस्था को उद्वेग-दशा कहते हैं।

संयोगावस्था में उद्दीपन विभाव-रूप सुधाकर दंपति के लिये पीयूषवर्षी था; परंतु आज इस विरह-विधुरा नायिका को उसी के मयूख बिच्छू के डंक के समान डँस रहे हैं। मतिरामजी की कैसी सुष्ठु योजना है—

"जे अंगनि पिय-संग मैं बरसत हुते पियूख,
ते बीछ के डंक-से भए मयंक-मयूख।"

विरह-वश इष्ट-अनिष्ट के विषय में कर्तव्य-विमूढ़ता तथा चित्त और अंगों का अचल हो जाना नायिका की जड़ता-दशा का प्रदर्शक है। इस दशा का वर्णन मतिरामजी यों करते हैं—

"सूँघै न सुबास, रहै राग-रंग ते उदास,
भूलि गई, सुरति सकल खान-पान की;
कवि 'मतिराम' इकटक अनमिस नैन,
बूझे न कहति बैन, समुझे न आन की।

थोरी-सी हँसी मैं है ठगोरी ऐसी डारी तुम,
बौरी करी भोरी ते किशोरी वृषभान की;
तब ते बिहारी, वह भई है पखान-कैसी,
जब ते निहारी रुचि मोर के पखान की।"

कितनी अच्छी योजना है! कैसा विकलकारी दृश्य है! थोड़ी-सी हँसी में ऐसी ठगोरी का डालना वास्तव में बड़े ही आश्चर्य की बात है। भोली नायिका ने अब बोलना भी बंद कर दिया है। 'भोरी' से अब वह 'बौरी' भी हो गई। अब वह 'पखान' के सदृश नहीं है, तो और क्या है? 'पखान-कैसी' के 'पखान' और 'मोर के पखान' वाले 'पखान' के दो भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। एक 'पखान' व्रजभाषा में संस्कृत के 'पाषाण'-शब्द का रूपांतर है, तथा दूसरा पक्ष (पर) का बहुवचन है। 'पखान' का यमक भी विचित्र ही है।

अलंकार-चमत्कार

कवितागत शब्दार्थ में जो चमत्कार और शोभा है, वह रसादिकों के कारण है, पर इस चमत्कार के अतिरिक्त भी एक प्रकार का चमत्कार कविता में सुलभ है। जिस प्रकार आभूषण धारण करने से शरीर की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार उपर्युक्त चमत्कार के होने से रसादि-संयुक्त कविता भी विशेष शोभावाली हो जाती है। इस चमत्कार को काव्य-शास्त्र में 'अलंकार' नाम से पुकारते हैं। मतिरामजी ने 'ललितललाम' में अलंकार का यह लक्षण दिया है—

"रस-अर्थन तैं भिन्न जो सब्द, अर्थ के माहिं—
चमत्कार भूषन-सरिस, भूषन मानत ताहिं।"

अलंकार दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार। अर्थालंकारों की संख्या साधारणतया १०१ है, पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भेदांतरों के मतभेद से इस संख्या में घटी-बढ़ी

भी कर दी है। अलंकारों (अर्थ) में उपमा और स्वभावोक्ति मुख्य हैं। बहुत-से अलंकार तो इन दोनो के रूपांतर कहे जा सकते हैं। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकार ही विशेष आदरणीय हैं; परंतु शब्दालंकार भी उपेक्षणीय नहीं। 'ललितललाम' में शब्दालंकारों का वर्णन नहीं हुआ। उसमें केवल अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। रसवदादि कई ऐसे अलंकार हैं, जिनकी गणना रसों के अंतर्गत भी की जा सकती है। मतिरामजी ने इन अलंकारों का भी वर्णन नहीं किया। मतिरामजी के निम्न-लिखित अलंकारों के लक्षण और उदाहरण बड़े ही अच्छे बन पड़े हैं—

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टांत, व्यतिरेक, अपह्नुति, अति-शयोक्ति और आक्षेप।

ये सब मुख्य अलंकार हैं। इनमें प्रत्येक अलंकार के कई भेद भी हैं। अमुख्य अलंकारों के भी लक्षण और उदाहरण मतिरामजी ने परम मनोहर दिए हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—

विषम, विकल्प, यथासंख्य और निरुक्ति।

कविराजा मुरारिदान ने अपने बृहत् 'जसवंत-जसोभूषण' में कुछ नए अलंकारों की कल्पना की है। इस प्रकार के नवीन कल्पित अलंकारों के उदाहरण आपने अधिकतर कविवर मतिरामजी की कविता से दिए हैं। मुरारिदानजी का परिणाम-अलंकार नाम-लक्षण के अनुरूप बतलाया गया है। परंपरित रूपक के अनुरूप उन्होंने परंपरित उपमा की कल्पना की है। अन्योन्य, विषाद और संकोच आदि कई अलंकारों की आपने पृथक् सत्ता स्वीकार की है। अन्य अलंकारों के समान इनके लक्षणों का समावेश भी आप नाम ही में मानते हैं। इनमें के कई अलंकारों को संस्कृत के आचार्यों ने पहले से ही मान रक्खा है। हिंदी के भी कई आचार्यों ने इनमें के कई अलंकारों का उल्लेख किया है।

एक बिद्वान् समालोचक की राय है—"साधारण कविजन अलं-

कारों के लाने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, तो भी उनकी कविता में एक-आध अलंकार कठिनता से आता है। उधर उत्कृष्ट कविजन साधारण वर्णन करते चले जाते हैं, परंतु वे ऐसे शब्द और भाव लाते हैं कि उनमें आप-से-आप अलंकारादि-संबंधी उत्तमताएँ बहुतायत से आ जाती हैं।"

उपर्युक्त समालोचना मतिरामजी के छंदों के विषय में बहुत ठीक समझ पड़ती है। इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ मतिरामजी की जो कविता उद्धृत है, उससे पाठकगण उपर्युक्त कथन की सत्यता का अंदाज़ा स्वयं कर सकते हैं।

ऊपर 'ललितललाम' के जिन उदाहरणों के अच्छे होने का उल्लेख किया गया है, उनके कुछ नमूने मनोरंजन के लिये पाठकों की भेंट किए जाते हैं।

पहले अमुख्य अलंकारों को ही लीजिए,—

यथासंख्य

कहे हुए पदार्थों का उसी प्रकार फिर उसी क्रम से जब कथन किया जाता है, तो उसे यथासंख्य अलंकार कहते हैं।

मतिरामजी ने इस अलंकार के उदाहरण में अपने नायक के आतंक का वर्णन किया है। कवि की राय में भावसिंहजी के तेज-पुंज में मारुत और मार्तंड-मंडल के सभी गुण आ गए हैं। इसलिये जिस प्रकार से मारुत और मार्तंड लोगों को अपने प्रभाव से नाना प्रकार के कष्ट पहुँचा सकते हैं, उसी प्रकार राव भावसिंहजी अपने शत्रुओं को भी ठीक उन्हीं कष्टों से पीड़ित कर सकते हैं। वायु जिसको चाहे, उड़ा सकती, झुका सकती, तोड़ सकती और फोड़ सकती है। उसके वे चरित्र भिन्न-भिन्न वस्तुओं के प्रति स्पष्ट देखने में आते हैं। हल्की रुई को वह कैसे मज़े में उड़ा देती है, उन्नत तृण

(घास-फूस) उसके झोंके खाकर कैसा झुक जाता है, विशालकाय वृक्ष को वह कैसे सहज में तोड़ डालती है, तथा उसके प्रबल प्रवाह के सामने घनघोर मेघ-मंडल भी क्षण-भर में कैसा छिन्न-भिन्न हो जाता है ! भावसिंहजी का तेज-पुंज भी शत्रु-मंडल का पराभव वैसे ही करता है, जैसे रुई, तृण, वृक्ष और बादल का वायु करती है। जिस क्रम से उड़ना, नवना, टूटना और फूटना क्रियाएँ दी हुई हैं, उसी क्रम से आगे तूल, तिनका, तरुवर और तोयद दिया हुआ है। तेज-पुंज में पहले मारुत के गुण आरोपित किए गए हैं। इससे पहले मारुत के प्रभाव का उल्लेख है। इसके बाद 'मार्तंड' के गुण देखिए। सूर्योदय होते ही रात में पाई जानेवाली अनेक वस्तुएँ मिट जाती हैं। भुवन-भास्कर का प्रभाव ही ऐसा है ! अनेक वस्तुएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, अनेक पदार्थ घोर विकल हो पड़ते हैं, तथा बहुत-सी वस्तुओं के सूखने की नौबत आ जाती है। उदाहरण के लिये देखिए कि तारा-मंडली का लोप, अंधकार का छिन्न-भिन्न होना, चंद्रदेव की विकलता तथा जल का शोषण प्रचंड मार्तंड के उदित होने पर ही तो होता है। अब देखिए, जिस क्रम से मिटना, फटना, विकल होना और सूखना क्रियाओं का प्रयोग हुआ है, ठीक उसी क्रम से तारा, तिमिर, तमीपति और तोय का न्यास है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भावसिंह का तेज-पुंज शत्रु-रूप उपर्युक्त पदार्थों पर समान प्रभाव प्रदर्शित करता है। मारुत और मार्तंड के प्रभाव-प्रदर्शन के लिये आठ क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। जिन-जिन वस्तुओं पर उनका प्रभाव हुआ, उनका आगे उल्लेख है। जिस क्रम से क्रियाएँ हैं, ठीक उसी क्रम से उन वस्तुओं का स्थान है, पहली चार क्रियाएँ मारुत की प्रभाव-सूचना देती हैं, तो पहली चार चीज़ें भी वही वर्णित हैं, जिन पर मारुत का प्रभाव पड़ा है। दूसरी चार क्रियाएँ सूर्य का प्रभाव दिखलाती हैं, तो पाँच से लगाकर आठ तक वर्णित चीज़ें

भी वही हैं, जिन पर सूर्य का प्रभाव पड़ा है। तेज-पुंज में मारुत और मार्तंड दोनो के प्रभाव सम्मिलित हो गए हैं, इसलिये तीसरे और चौथे पद पूरे-पूरे तेज-पुंज के अधीन हैं। कितना विस्तृत और मनो-मोहक यथासंख्य है! अंतिम पद की अनुप्रास-रमणीयता की कहाँ तक प्रशंसा की जाय! कवि को इस छंद में केवल यथासंख्य दिखलाना था, पर और भी कई अलंकार स्वभावतः कवि-प्रतिभा से आकृष्ट छंद में अपने दिव्य दर्शन दे रहे हैं। विभावना, प्रतीप, समुच्चय और उपमा की मनोहर झलक मन को मुग्ध करती है। ओज-गुण और शब्द-चमत्कार का ठाट ही निराला है। सत्कवि के कर्तब ऐसे ही होते हैं। हिंदी-साहित्य में इस जोड़ का दूसरा यथासंख्य ढूँढ़ने से न मिलेगा। तोषनिधि ने मतिराम के यथासंख्य की नक़ल उतारी है, पर उसमें यथासंख्य का न तो वैसा निर्वाह ही हुआ, और न वह चमत्कार ही आया है—

"महाबीर, सत्रु साल नंदराव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय-भोय-से;
कहै 'मतिराम', तेरे तेज-पुंज लिए गुन,
मारुत औ' मारतंड-मंडल बिलोय-से।
उड़त, नवत, टूटि, फूटि, मिटि, फाटि जात,
बिकल, सुखात बैरी दुखन समोय-से;
तूल-से, तिनूका-से, तरोवर-से, तोयद-से,
तारा-से, तिमिर-से, तमीपति-से, तोय-से।"

विकल्प

विकल्प उसे कहते हैं, जिसमें समान बलवाली वस्तुओं का विरोध चतुरता-पूर्वक दिखलाया गया हो। मतिराम का लक्षण इस प्रकार है—

"सम बलजुत द्वै बात को बरनत जहाँ बिरोध,
कबि-कोबिद सब कहत हैं, तहँ बिकल्प स्रुति-सोध ।"

उदाहरण में भावसिंहजी के आतंक का वर्णन है। शत्रुओं की भयभीत स्त्रियाँ अपने पतियों से कहती हैं—देखो, पहले तो हमारा कहना नहीं माना, परंतु अब दो में से केवल एक ही बात करनी होगी, या तो दाँतों में तिनका दबाओ या हाथ में तलवार धारण करो। दाँतों में तिनका दबाना संपूर्ण पराजय और अधीनता का लक्षण है। इससे संधि की इच्छा प्रकट होती है। उधर कृपाण धारण करने में युद्ध की सूचना का भाव भरा हुआ है, पर संधि और विग्रह, दोनो एक ही समय में हो नहीं सकते। अतः दोनो में स्पष्ट विरोध है। एक के पर्यवसान में ही दूसरे का आश्रय लिया जा सकता है। तात्पर्य यह कि अब या तो चुपचाप संधि कर लो या जमकर युद्ध करो। मतिरामजी के संपूर्ण छंद में इस प्रकार की समान बलवाली वस्तुओं का विरोध चार बार हुआ है। इन चारो में से एक भी विरोध शिथिलता-पूर्ण नहीं है। मतिरामजी का विकल्प का उदाहरण बहुत उत्तम बन पड़ा है। संपूर्ण छंद इस प्रकार है—

"बिपिन-सरन कै चरन तकौ राव ही के,
चढ़ौ गिरि पर कै तुरंग परवर मैं;
राखौ परिवार कौं कि आपनीय हठ, राज-
संपति दै मिलौ कै नगारे दै समर मैं।
कहै 'मतिराम', रिपुरानी निज नाहनि सों
कहै यों डरानी भावसिंहजी के डर मैं ;
बैर तो बढ़ायौ, कह्यौ काहू को न मान्यो, अब
दाँतनि तिनूका के कृपान गहौ कर मैं।"

विषम

जहाँ कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ द्वितीय विषमालंकार की कल्पना की गई है। यथा—

"जहाँ बरनिए हेतु ते उपजत काज बिरूप ;
और विषम तहँ कहत हैं 'कवि मतिराम, अनूप ।"

मतिरामजी का इस अलंकार का उदाहरण भी बड़ा ही अनूठा बन पड़ा है। नायिका ने श्वेत सारी धारण की है। बस, इसके प्रभाव से सपत्नियों के शरीर में श्यामता छा गई है। श्वेत हेतु के ठीक विरुद्ध श्याम कार्य हुआ है, और भी आश्चर्य-घटना घटी है। इसी श्वेत साड़ी के प्रभाव से श्यामसुंदर लाल (अनुराग) रंग में रँग गए हैं। कैसी विषम घटना है! गौरांगिनी सपत्नियाँ एक सफ़ेद साड़ी के प्रभाव से काली पड़ गई हैं, और श्यामवर्ण कृष्णचंद्र अनुराग-रँग (लाल) में सराबोर हो रहे हैं। सफ़ेद ने सफ़ेद को काला और काले को लाल कर दिया—

"वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
हाहा !! न पहिरि आभरन और अंग मैं;

×　　×　　×
×　　×　　×

सेत सारी ही सों सब सौतैं रँगी स्याम रंग,
सेत सारी सों रँगे स्याम लाल रंग मैं।"

अपह्नुति

अब कुछ प्रधान अलंकारों के उदाहरण भी लीजिए। ऐसे अलंकारों में अपह्नुति का स्थान निर्विवाद है। अपह्नुति के कई भेदांतरों में से शुद्धापह्नुति और छलापह्नुति के उदाहरण बहुत ही स्पष्ट और मनोहर हैं। पहले शुद्धापह्नुति को लीजिए—

लोग कहते हैं, वह देखो भगवती जाह्नवी प्रियतमा के रूप में अपने प्रियतम सागर को मिल रही हैं। मतिराम कवि को यह कथन ठीक नहीं समझ पड़ता। उनका मत तो यह है कि बेचारा समुद्र बड़वानल की ज्वालमालाओं से झुलसा जा रहा है। भगवान् ब्रह्मा से, इस

भयंकर आपदा से त्राण पाने के लिये, पुकार-पुकारकर प्रार्थना कर रहा है। सागर-तरंगों का करुणा-पूर्ण शब्द इसी प्रार्थना की सूचना देता है। ब्रह्मा को भी दया आ गई है। यह बड़ा-सा चंद्रमा उनका कंमडलु है। इसमें लवालब पीयूष भरा हुआ है। झुलसे हुए समुद्र को जिलाने के लिये उन्होंने अपने इस कमंडलु से सुधा ढरका दी है। यह गंगा नहीं हैं, वही ब्रह्मा के चंद्र-कंमडलु से गिरी सुधा-धारा है, जिसे समुद्र पान कर रहा है। कैसी अनोखी अपह्नुति है—

"पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग,
बरनत कोऊ कबि - कोबिद निहारिकै;
सो तो मतो मतिराम के न मन मानै, निज—
मति सो कहत यह बचन बिचारिकै।
जरत, बरत बड़वानल सों बारिनिधि,
बीचिनि के सोर सों जनावत पुकारिकै;
ज्यावत बिरंचि ताहि, ध्यावत पियूख निज,
कलानिधि - मंडल - कमंडल तें ढारिकै।"

अब छलापह्नुति को भी देखिए।

ब्रह्मा ने ख़ूब कौशल से श्रीराधिकाजी का मुख-मंडल बनाया। चंद्रदेव को अब तक अपने सौंदर्य का घमंड था, पर अब उनके यशो-ह्रास का अवसर आया। उन्होंने अपनी पूर्व मर्यादा बनाए रखने के लिये चोरी का महापातक अपने सिर पर ओढ़ा। रात को चुपके-चुपके अपने कर (किरण और हाथ) इसलिये फैलाए कि राधिकाजी का सौंदर्य चुरा लें, परंतु बेचारे पकड़े गए। ब्रह्मा के दरबार में इनका मुक़द्दमा हुआ। इन पर निशिचर चोर होने का अभियोग प्रमाणित हो गया। कमलासन ने क्रोध करके इनके लिये अपमान-जनक दंड की व्यवस्था कर दी। तब से यह बेचारे अपने मुख में कलंक-रूपी कालिमा लगाए दिन-रात अमरालय के चारो ओर पहरा दिया करते हैं—

"सुंदर-बदन राधे, सोभा को सदन तेरो
बदन बनायो चार-बदन बनायकै;
ताकी रुचि लैन को उदित भयौ रैन-पति,
मूढ़-मति राख्यो निज कर बगरायकै।
'मतिराम' कहै, निसिचर चोर जानि याहि
दीनी है सजाय कमलासन रिसायकै;
रातौ-दिन फेरै अमरालय के आस-पास,
मुख मैं कलंक-मिस कारिख लगायकै।"

प्रकृत का प्रतिषेध करके अन्य का स्थापन अपह्नुति है। शुद्धापह्नुति में सच्चा धर्म छिपाया जाता है, और छलापह्नुति में छल, कैतव तथा मिस आदि पदों के सहारे सच्ची बात छिपाई जाती है। उपर्युक्त छंद में चंद्रमा की जैसी विडंबना की गई है, उससे भी बढ़कर विडबना एक दूसरे छंद में है। मतिराम का वह छंद भी हम यहाँ देते हैं—

"एरे मतिमंद चंद, धिक है अनंद तेरो,
जो पै बिरहिनि जरि जाति तेरे ताप ते;
तू तौ दोषाकर, दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि-संग देखो सिर छाप ते।
कहै 'मतिराम', हाल जाहिर जहान तेरो,
बारुनी के बासी, भासी रबि के प्रताप ते;
बाँध्यो गयो, मथ्यो गयो, गयो पियो, खारो भयो,
बापुरो, समुद्र तो कुपूत ही के पाप ते।"

शब्दार्थावृत्ति दीपक

जहाँ वर्ण्य (प्रस्तुत) और अवर्ण्य (अप्रस्तुत) का धर्म एक होता है, उसे दीपक-अलंकार कहते हैं। इसी प्रकार जहाँ अनेक क्रियाओं का कारक वही हो, वहाँ भी दीपक-अलंकार माना गया है। दीपक में

शब्द की, अर्थ की तथा शब्दार्थ की, इस प्रकार तीन प्रकार की आवृत्ति मानी गई है।

शब्दार्थावृत्ति दीपक का उदाहरण लीजिए—

"सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु आपु ही करति है;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जब,
पौन लागे घूँघट के पट उघरत है।
जमुना के तट, बंसीबट के निकट,
नंदलाल पे सकोचन ते चाह्यो ना परत है;
तन तो तिया को बट-भाँवरे भरत,
मन साँवरे बदन पर भाँवरे भरत है।"

उपर्युक्त छंद के अंतिम पद पर ध्यान दीजिए। नायिका का शरीर तो वट-वृक्ष की भाँवरें कर रहा है, परंतु मन श्यामसुंदर के वदनारविंद पर मँडरा रहा है। 'भाँवरें भरना' शब्दों की आवृत्ति हुई है; परंतु एक स्थान पर भाँवरों का अर्थ वास्तव में चक्कर लगाना है, पर दूसरे स्थान पर उसका अर्थ श्यामसुंदर में तन्मय होना है। सो शब्द की आवृत्ति भी हो गई, और अर्थ की आवृत्ति भी। यह छंद रसराज में 'विहृतहाव' के उदाहरण में दिया गया है। दलपतराय वंशीधर ने अपने 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रंथ में इस छंद को बड़े गौरव के साथ स्थान दिया है।

अर्थांतरन्यास

अर्थांतरन्यास आठ प्रकार का होता है। मतिराम ने केवल दो प्रकार का अर्थांतरन्यास माना है, अर्थात् जहाँ विशेष से सामान्य का और सामान्य से विशेष का समर्थन हो। इन दो में से पहले प्रकार का जो उदाहरण मतिरामजी ने 'ललितललाम' में दिया है, वह बड़ा ही मनोहर बन पड़ा है। परकीया खंडिता नायिका की उक्ति है। नायिका की कैसी मृदुल फटकार है—

"आपके स्नेह के कारण मैंने लज्जा का त्याग किया। घर के सब काम-काज भूल बैठी। गुरुजनों का भय भुला डाला। गाँव में अपने विषय में चवाव होने दिया। मेरा नाम बदनाम हुआ। मैंने ये सब हित की बातें कीं भी, तो क्या हुआ? आपने तो सभी कुछ भुला डाला। सच है, कोई लाख-लाख तदवीरें क्यों न करे, पराया प्रियतम कभी अपना भी हुआ है?"

"रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसराए;
डारि दियो गुरु लोगनि को डरु, गाँव-चवाय मैं नाम धराए।
हेत कियो हम जो, तौ कहा? तुम तो 'मतिराम' सबै बहराए;
कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीय पराए?"

इसमें अंतिम पद में जिस सामान्य का कथन किया गया है, उसका समर्थन पहले तीन पदों में कही गई बातों से किया गया है। इसलिये अर्थांतरन्यास स्पष्ट है। अंतिम पद में जो झिड़की है, वह बड़ी सुकुमार, मृदुल और रसीली है। नायिका ने नायक के लिये जिन दोषों का आश्रय लिया, उनसे जो दोष या गुण प्रादुर्भूत हुए, उनका असर नायक पर बिलकुल नहीं पड़ा, इस दृष्टि से देखने पर इसमें 'अवज्ञा'-अलंकार की भी स्थिति मानी गई है।

"जसवंत-जसोभूषण' में जिन कतिपय अलंकारों पर कविराजा मुरारिदानजी ने ज़ोर दिया है, उनमें से कई का वर्णन 'ललितललाम' में अलंकारों के उदाहरण में नहीं है। फिर भी इनमें से कई एक के उदाहरण जसवंत-जसोभूषणकार ने इन्हीं की कविता से खोज निकाले हैं। मतिरामजी की कविता के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है। मुरारिदानजी प्रत्येक अलंकार का लक्षण उसी के नाम में मानते हैं। उनकी राय में लक्षण का बोध नाम ही करा देता है। उसके अलग कहने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे अलंकारों के भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) **संकोच**— नाम ही लक्षण है।

ज्यों-ज्यों परसे लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोय ;
नवल बधू डर - लाज ते इंद्रबधू-सी होय।"

रसराज में उपर्युक्त दोहा 'नवोढ़ा' के उदाहरण में दिया हुआ है। अर्थ स्पष्ट है।

(२) **विषाद**—नाम ही लक्षण है।

रसराज के नष्टसंकेत अनुशयना नायिका के उदाहरण में वह छंद दिया हुआ है। मुरारिदानजी इसमें विषाद-अलंकार मानते हैं, और वह स्पष्ट दिखलाई भी पड़ता है।

आई ऋतु पावस, अकास, आठौ दिसनि मैं
सोहत सुरूप जलधरन की भीर को ;
× × ×
भौन ते निकसि वृषभानु की कुँवरि देख्यो ,
तासु में सहेट को निकुंज गिरो तीर को ;
नागरि के ननिन मैं नीर को प्रबाह बढ़चो ,
देखत प्रबाह बढ़चो जमुना के नीर को।

(३) **अन्योन्य**—नाम लक्षण है।

रसराज के प्रौढ़ा विप्रलब्धा में मुरारिदानजी यह अलंकार स्थापित करते हैं—

"साँझ ही सिंगार साजि, संग लै सहेलिन को,
सुंदरि मिलन चली आनंद के कंद को;
कबि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि-
देख्यो परजंक मैं न प्यारे नँदनंद को।
नेह तें लगी है देह दारुन दहन गेह,
बाग के बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद को;
चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चंद लागो हँसन तिया के मुख-चंद को।"

(४) **परिणाम**—नाम ही लक्षण है ।

प्राणपति अन्यत्र रात्रि बिताकर प्रातःकाल आया, नायिका ने मान किया । छली पति पैरों पर गिर पड़ा । नेत्रों में जो क्रोध के आँसू आ गए थे, वे रस के आँसू हो गए, तथा जो क्रोधमयी लालिमा नेत्रों में मौजूद थी, वह अनुराग की लालिमा हो गई । मान के चिह्नों का परिणाम यह हुआ—

रिस ही के आँसू रस-आँसू भए आँखिन मैं,
रिस की ललाई सो ललाई अनुराग की ।

(५) **परंपरित उपमा**—नाम ही लक्षण है । परंपरित रूपक के समान ।

प्यारी और प्यारे आषाढ़ की संध्या को बैठे थे । प्यारे के मुँह से और स्त्री का नाम निकल गया । नायिका पावस-ऋतु का रूप ही बन गई । भौंहें इंद्रधनुष के समान चढ़ीं । आँसू बूँदियों के समान गिरे, और हास्य हंस के समान उड़ गया—

"दोऊ अनंद सों आँगन-माँझ बिराजे असाढ़ की साँझ सोहाई;
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई ।
आयो उनै मुँह मैं हँसी, कोपि तिया सुरचाप-सी भौंहें चढ़ाई;
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाँई ।"

भाषा-सौंदर्य

भाषा का सबसे प्रधान गुण यह है कि उसके द्वारा लेखक या कवि अपने जो भाव प्रकट करना चाहता हो, उनको प्रकाशित करने में वह पूर्णतया समर्थ हो । भाव प्रकट कर सकने की पूर्ण सामर्थ्य अच्छी भाषा के लिये परमावश्यक है । जिस भाषा में इस गुण का अभाव है, वह अपूर्ण है । भाषा के लिये दूसरा आवश्यक गुण यह है कि वह पाठक को लेखक या कवि के अभिप्राय तक झटपट पहुँचा दे । यह न हो कि पाठक बेचारा समर्थ भाषा में अभिव्यक्त भाव

तक पहुँचने के लिये भटकता फिरे। भाषा का तीसरा प्रधान प्रशंसनीय गुण यह है कि वह ठीक मतलब की बात बहुत थोड़े से शब्दों में प्रकट कर दे। इस प्रकार भाव प्रकट करने की पूर्ण सामर्थ्य, पाठक को भाव तक तत्काल पहुँचा सकना और वह सुंदरता के साथ थोड़े शब्दों में, तीन गुण भाषा के लिये परमावश्यक हैं।

भाषा के और भी अनेक गुण हैं। उसमें सरलता होनी चाहिए। भाषा में जितना ही कृत्रिमता का अभाव होगा, वह जितना ही स्वाभाविक ढंग से विना उद्योग के प्रवाहित होगी, उतनी ही उसकी प्रशंसा होगी। वसंत-ऋतु के आते ही पुराने वृक्ष भी नए-से जान पड़ते हैं। वे पूर्णतया हरे-भरे दिखलाई पड़ते हैं। वृक्षों की यह तरोताज़गी, यह नव भाव बड़ा ही रमणीय है। भाषा में भी इस तरोताज़गी और नव भाव की आवश्यकता है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के साथ जब सुकुमारता का सम्मिलन हो जाता है, तो सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है।

भाषा में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल झुक जाने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए। ऐसा न हो कि एक भाव या वर्णन से दूसरे भाव या वर्णन की ओर ले जाते समय वह उखड़ जाय। सारांश यह कि भाषा में लचकीलापन भी चाहिए*। सामंजस्य-पूर्ण, स्वाभाविक प्रवाह को अपनाने की रुचि भी भाषा को अपेक्षित है। कवियों की भाषा में आप-ही-आप अलंकारों का प्रादुर्भाव होता जाता है। अलंकार-प्रस्फुटन के इस गुण पर जो भाषा कृपालु है, उसे अच्छी भाषा कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। पर इस अलंकार-प्रस्फुटन का

---

*"We test a language by its elasticity, its response to rhythm, by the kindness with which it looks upon the figurative desires of a child and the poet."

ERNEST RHYS

यह अर्थ कदापि नहीं कि भाषा द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला भाव अलंकारों के बोझ से इतना दबा दिया जाय कि कुचल ही जाय। अलंकार भाव की रमणीयता बढ़ाने के लिये हैं, न कि भाव को सामने से पीछे ढकेलने के लिये।

कविता की भाषा में कुछ विशेषताएँ हैं। 'कवि-स्वातंत्र्य' से लाभान्वित होकर कविगण अपनी भाषा में साधारण गद्य की भाषा से कुछ अलगाव कर लेते हैं। जिन भाषाओं का व्याकरण अधिक जटिल है, उनमें वह अलगाव कम होता है, पर जिन भाषाओं में व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उनमें यह अलगाव अधिक दिखलाई पड़ता है। अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते रहना, प्रचलित शब्दों को तोड़-मरोड़ लेना, व्याकरण की उतनी परवा न करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो कवियों की भाषा में पाई जाती हैं। हिंदी की व्रजभाषा-कविता में एवं अँगरेज़ी के कवियों की भाषा में यह अलगाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। कविवर शेक्सपियर के विषय में एक विद्वान् समालोचक की राय है कि व्याकरण-संबंधिनी प्रत्येक प्रकार की निरंकुशताओं का प्रयोग उनकी कविता में प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। हिंदी-भाषा के सूर, तुलसी, देव और बिहारी आदि सभी कवियों ने शब्दों की तोड़-मरोड़ की है। इन दो-एक विशेषताओं के होते हुए भी भाषा के ऊपर दिखलाए गुणों का संपूर्ण समावेश सत्काव्य मे अवश्य पाया जाता है। यही क्यों, एक विद्वान् की तो राय है कि जहाँ पर सर्वोत्तम* शब्द सर्वोत्तम क्रम से स्थापित हों, वही कविता है। महाकवि टेनिसन की राय† है कि कभी-कभी कविता के एक ही शब्द में सारी कलाओं का सौंदर्य उमड़

*"Poetry is the best words in their best order."

†"All the charm of all the muses often flowing in a lovely word." TENNYSON

पड़ना है । कहने का तात्पर्य यह कि कविता की भाषा में शब्दों का प्रयोग और भी विदग्धता-पूर्ण होना है। संस्कृत एवं हिंदी-साहित्य के आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में ओज, प्रसाद और माधुर्य-गुणों का उल्लेख किया है । सुष्ठु योजना की प्रशंसा की गई है । भाषा के जिन गुणों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनमें ये सब गुण भी सहज ही में पाए जा सकते हैं ।

भाषा की उत्तमता जाँचने की जो कसौटी हमने ऊपर स्थिर की है, उसको भाषा-तत्त्ववित् धुरंधर आचार्यों ने माना है । व्रज-भाषा कविता में उपर्युक्त सभी गुण बहुतायत से पाए जाते हैं । इस भाषा के कवियों में जहाँ तक भाषा-सौंदर्य का संबंध है, वहाँ तक कविवर मतिरामजी से बढ़कर अच्छी भाषा लिखने में कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ है। इसके कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं कि सूर, तुलसी, देव, बिहारी और पद्माकर आदि कोई भी कवि भाषा-सौंदर्य में मतिराम को पीछे नहीं छोड़ पाते हैं । हाँ, यह मानने को हम तैयार हैं कि इनमें से भी कई कवियों की भाषा ऐसी है कि जिससे मतिराम की भाषा अच्छी नहीं कही जा सकती । भाषा-सौंदर्य में उनके बराबर कई कवि अवश्य हैं, पर उनसे बढ़कर कोई भी नहीं है।

मतिरामजी का भाषा-सौंदर्य पाठकगण निम्न-लिखित अवतरणों में सावधानी के साथ देखें—

(१) कवि नायिका के सौंदर्य का वर्णन करना चाहता है । वह चाहता है कि सौंदर्य का परिचय ऐसे कौशल से दिया जाय कि पूरे सौंदर्य का वर्णन भी न करना पड़े, और मतलब भी पूरा बन जाय । बस, वह अंग-दीप्ति पर निगाह डालकर चटपट आकर्षक नेत्रों के सामने पहुँचता है, और वहाँ से अपना पीछा छुड़ाकर मुस्कान पर मुग्ध होता है । फिर तो वह जिस अंग पर निगाह डालता है, उसमें उसे सौंदर्य-ही-सौंदर्य देख पड़ता है । मतिरामजी ने अपने इस भाव

को जिस भाषा द्वारा प्रकट किया है, वह इसे पूर्ण रूप से प्रकाशित करने में समर्थ हुई है—

(१) **"कुंदन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई ;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि-मिठाई ?
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।"**

सो मतिरामजी की भाषा में भाव प्रकट करने की पूरी सामर्थ्य है। इस भाव तक पहुँचने में पाठक को भटकना नहीं पड़ता। भाषा आप-ही-आप उसे इस भाव तक पहुँचा देती है। इसमें भाषा का दूसरा गुण अर्थात् तत्काल प्रधान भाव तक पहुँचाना भी मौजूद है। मतलब की बात जितने थोड़े शब्दों में प्रकट की जा सकती थी, की गई है। भिन्न-भिन्न अंगों का सौंदर्य वर्णन करने के लिये बहुत-सा स्थान चाहिए था, पर 'ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई'—इस पद ने इतने थोड़े शब्दों में सबका सौंदर्य वर्णन कर डाला। इसी में सब कुछ आ गया। सुंदरता-पूर्वक थोड़े शब्दों में सब कुछ कह डाला गया। काव्य शास्त्र का सुप्रबंध, सुष्ठु योजना और प्रसाद-गुण सभी एक साथ उपस्थित हो गए।

उपर्युक्त छंद की भाषा सरल है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। भाषा जिस स्वाभाविक प्रवाह के साथ बहती है, वह भी देखने ही योग्य है। उसमें तरोताजगी भी स्पष्ट झलक रही है। स्वाभाविक प्रवाह के साथ-साथ भाषा की सुकुमारता और भी मनोमोहिनी है।

अब भाषा के लचकीलेपन पर भी विचार कीजिए। छंद में कवि ने नायिका की अंग-दीप्ति का वर्णन किया, फिर आँखों की सरसता का बखान किया, फिर मुस्कान की मधुरता पर बिका; अंत में निकट से सभी अंगों को ध्यान से देखा, और सभी में बराबर सौंदर्य का उत्कर्ष ही पाया। चारो ही वर्णन भिन्न-भिन्न

हैं, और होने भी चाहिए; पर मतिराम की रसीली और लचकीली भाषा ने इन चारो वर्णनों को एक ही पदार्थ में इस प्रकार गूँथ दिया है कि एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करते समय भाषा के निरंतर प्रवाह में रुकावट नहीं पड़ती। भाषा की मधुर धारा एक ही रूप में चारो वर्णनों का सिंचन करती है। अलंकार-प्रस्फुटन पर निगाह डालिए। 'कुंदन को रँगु फीको लगै' में प्रतीप, संपूर्ण छंद में स्वभावोक्ति, 'को बिन मोल बिकात नहीं' में काकु और लोकोक्ति तथा 'निहारिए, नेरे, नैननि, निकरै और निकाई' में अनुप्रास-चमत्कार मौजूद है। छंद में ये अलंकार कवि के प्रयास से नहीं आए, वरन् सहज ही समर्थ रचना की सेवा करने को साथ हो लिए हैं। उपर्युक्त पद्य में संभवतः 'सरसाई' का व्यवहार 'सरसता' के लिये किया गया है। यह प्रयोग काव्येतर भाषा में चिंत्य हैं, परंतु यहाँ तो साधारण कवि-स्वातत्र्य के अंतर्गत आ जाता है। इस छंद के विषय में यहाँ जो कुछ लिखा गया है, प्रायः वे ही सब बातें आगे के उदाहरणों के विषय में भी कही जा सकती हैं। इस कारण वे वहाँ पर दोहराई नहीं गई हैं। हमारी मंद बुद्धि के अनुसार आगे के चार छंदों के अंतिम पदों में उत्तम शब्दों को उत्तम क्रम से स्थान मिला है। कदाचित् टेनिसन की कविता की परिभाषा ऐसे ही शब्द-समूह के लिये है—

(२) "गुच्छनि को अवतंस लसै सिखिपच्छन अच्छकिरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी कर पल्लव सो 'मतिराम' सुहायो।
गुंजनि के उर मंजुल हारनि कुंजनि ते कढ़ि बाहेर आयो;
आजु को रूप लखे ब्रजराज को आँखिन को फल आजु ही पायो।"

---

(३) "मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सोहाई;
मोहन की मुसकानि मनोहरि कुंडल डोलनि मैं छबि छाई।
लोचनि लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई!
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठो लगै अँखियान-लुनाई।"

(४) "ह्वाँ मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँदवारी;
तेई लता-द्रुम देखत दुःख चले अँसुवा अँखियान ते भारी।
आवति हौं जमुना-जल को नहिं जानि परै बिछुरे गिरधारी;
जानति हौं सखि, आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंजबिहारी।"

(५) "कोउ नहिं बरजै 'मतिराम', रहौ तितही, जितही मन भायो;
काहे को सौ हैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों ही कहा रसबाद बढ़ायो;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय, सो मानै मनायो।"

उपयुक्त छंदों में जो साहित्य-चमत्कार भरा हुआ है, वह सर्वत्र सहज सुलभ नहीं है। इन सबके अंतिम पद तो इतने मनोहर हैं कि बस, मतिराम की लेखनी चूम लेने की इच्छा होती है। कुछ पद अथवा पद्यांश और लीजिए—

(६) "तै बरने निज बैननि सों सखि! मैं निज नैननि सों मनु देखे।"
(७) "सौतुक-सा सपनो भयो, सपनो सौतिक रूप।"
(८) "और भटू न भई कछु बात, गई इतने ही मैं नींद निगोड़ी।"
(९) "कौन तिन्हैं दुख है, जिनके तुम-से मन-भावन छैल छबीले?"
(१०) "कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीव पराए।"

इन पद्यांशों में जो सरसता भरी हुई है, उसके साक्षी सहृदयों के हृदय ही हैं।

(११) "दारिद-दैत्य-बिदारिबे को भई भाऊ दिवान की रीझ भवानी।"
(१२) "सत्ता के सपूत राजऋषि भावसिंह कीन्हो
आपने चरित्रनि प्रगट रूप राम को।"
(१३) "कहा चतुराई ठानियतु प्रानप्यारी, तेरो
मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सों।"
(१४) "सकल जगति पानिप रह्यो बूँदी मैं ठहराय।"

इन पद्यांशों में रेखांकित शब्दों में कला का सौंदर्य लबालब भरा हुआ है। मतिरामजी के भाषा- ैंदर्य का केवल एक उदाहरण और दिया जाता है—

(१५) **"बेलिन सों लपटाय रही हैं तमालन की अवली अति कारी;**
कोकिल कूक, कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।
सोच करै जनि, होहु सुखी 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी;
मंजुल बंजुल कुंजन के घन पुंज सखी, ससुरारि तिहारी।"

गज-वर्णन

कविवर मतिराम ने 'ललित ललाम' में बहुत-से छंद राव भाऊसिहजी के हाथियों की प्रशंसा के भी दिए हैं। इस प्रकार के वर्णनों में भी कवि की प्रतिभा का अच्छा चमत्कार दिखलाई पड़ता है। भाषा के कवि हाथियों की प्रशंसा करते समय सूँड़ की चंचलता, उनकी उँचाई और गंडस्थल में मद के छलकने आदि का वर्णन अवश्य करते हैं। ब्रिटिश-राज्य के पहले भारतीय रण-सैन्य का एक अंग हाथियों से भी सुसज्जित रहता था। इस कारण उस समय हाथियों का बड़ा महत्त्व था। अँगरेज़-सरकार ने फ़ौज से हाथियों का बहिष्कार-सा कर दिया है। इस कारण अब उनका उपयोग केवल शोभा और प्रदर्शन (नुमायश) के लिये रह गया है। सवारी और खासकर शेर के शिकार में हाथी अब भी उपयोगी हैं। संस्कृत-साहित्य में भी हाथियों के परम मनोहर वर्णन हैं। समुद्र-मंथन से जो चतुर्दश रत्न प्राप्त हुए थे, उनमें इंद्र का ऐरावत भी प्रसिद्ध है। उधर पृथ्वी का भार धारण करनेवाले आठ दिग्गजों का कथन तो कवियों ने बहुत ही अधिक किया है। धर्म-शास्त्र के अनुसार गज-दान की बड़ी महिमा है; इस प्रकार के दान से दाता को बड़ा पुण्य होता है। कवि लोग गज-दान पाना बड़े

सौभाग्य की बात समझते हैं। हिंदी के कवियों ने हाथियों का बड़ा ही अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया है। उनकी उँचाई पहाड़ों से भी अधिक बतलाई गई है, उनके मद-जल से समुद्र बन गए हैं, इत्यादि। मतिरामजी के वर्णन भी ऐसी अतिशयोक्तियों से ख़ाली नहीं हैं। तो भी उन्होंने जो वर्णन उठाया है, उसका अंत तक मार्मिकता के साथ निर्वाह किया है। हम पाठकों के मनोरंजन के लिये यहाँ 'ललितललाम' से कुछ छंद उद्धृत करते हैं—

(१) अधिक-अभिन्न-रूपक के उदाहरण में मतिरामजी हाथियों को सजीव पर्वत बतलाते हैं। पहले तीन पदों में पर्वत और गजों की अभिन्नता का निर्वाह करके अंतिम पद में सजीवता-रूप अधिकता का बड़ा ही सुंदर उल्लेख हुआ है। पर्वत पत्थर आदि कठोर वस्तुओं के बने होते हैं, तो गज भी संग्राम में अपने शरीर की कठोरता का पूरा परिचय देते हैं। यदि पर्वतों पर अनेकानेक झरने बहते दिखलाई पड़ते हैं, तो हाथियों के गंडस्थल से भी मद-धारा का प्रवाह जारी रहता है। यदि पर्वतों पर विविध प्रकार के वृक्षों के फूल फूलते हैं, तो हाथियों की रंग-बिरंगी झूलें भी वैसी ही शोभा दिखलाती हैं। यहाँ तक कि यदि पर्वतों में गेरू की लाल-लाल चोटियाँ देख पड़ती हैं, तो हाथियों के मस्तक भी सुंदर सिंदूर-मंडित रहते हैं। फिर पर्वतों और इन हाथियों में अंतर ही क्या रह जाता है? और तो कुछ नहीं, केवल इतना ही अंतर दिखलाई पड़ता है कि पर्वत तो एक स्थान पर स्थिर हैं, पर ये हाथी, जिधर देखो, उधर ही चलते-फिरते नज़र आते हैं। उदार भावसिंहजी ने ऐसे ही 'सजीव पहार' (अभिन्न-रूपक में अधिकता-सूचक शब्द) याचकों को बख़शिश में दिए हैं। पूरा छंद इस प्रकार है—

"जग मैं अंग कठोर महा, मद-नीर झरैं, झरना सरसे हैं;
झूलनि रंग घने 'मतिराम' महीरुह-फूल-प्रभानि कसे हैं!

सुंदर सिंदुर-मंडित कुंभनि गैरिक सृंग उतंग लसे हैं;
भाउ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं।"

(२) पावस-ऋतु में विरह-पीड़िता वियोगिनियों को बहलाते समय सखियाँ बड़ी चतुराई से कहती हैं कि तुम सामने जिनको मेघ (उद्दीपन विभाव) समझकर और भी विकल हो रही हो, वे वास्तव में मेघ नहीं, बल्कि रावराजा भाऊसिंहजी के दिए हुए हाथियों का समूह है। वियोगिनियाँ पूछ सकती हैं—"फिर यह इंद्र-धनुष कैसा? बक पंक्ति कैसी? और, वर्षा-काल में ही सुलभ यह गंभीर गर्जन कैसा?" सखियाँ इन प्रश्नों का भी समाधान बड़ी ख़ूबी से करती हैं। वे कहती हैं—"जिन बहुमूल्य जवाहरात से गजों के शरीर सजाए गए हैं, उन्हीं की विविध-वर्ण ज्योति से इंद्र-धनुष का भ्रम होता है। वैसे ही लंबे-लंबे और श्वेत गज-दंतों की अवलियाँ 'बक-पंक्ति' का भाव उत्पन्न करती हैं। दुंदुभी का शब्द ही घोर घन-गर्जन के अनुरूप समझ पड़ता है। स्वयं कवि के शब्दों में सुनिए—

"पावस-भीत बियोगिनी बालनि यों समुझाय सखी सुख साजैं;
जोति जवाहिर की 'मतिराम', नहीं सुर-चाप छिनौं छबि छाजैं।
दंत लसैं, बक पाँति नहीं, धुनि दुंदुभी की न, घने घन गाजैं;
रीझिकै भाऊ नरिंद दिए कबिराजनि के गजराज बिराजैं।"

उल्लिखित छंद में वास्तविक पावस-ऋतु को छिपाकर हाथियों का वर्णन होने से छेकापह्नुति-अलंकार स्पष्ट है।

(३) बूँदी-नरेश रावराजा भाऊसिंह उदार पुरुष थे, यह बूँदी के इतिहास द्वारा बिल्कुल स्पष्ट है। समय-समय पर उन्होंने जी खोलकर दान दिए, यह भी इतिहास-प्रेमियों को विदित ही है। गज-दान का महत्त्व भारतीय नरेशों को ही विदित है। शायद बूँदी के राजघराने के समय गज-दान करने का सौभाग्य तत्कालीन दिल्ली-श्वर को छोड़कर और किसी भी राजघराने को उस समय नहीं प्राप्त

हो सका था। भाऊसिंहजी के पूर्वज छत्रसालजी ने अपने विवाह में, जो कि उदयपुर में हुआ था, इतना दान किया था कि लोग आश्चर्य-चकित रह गए थे। बूँदी के इतिहास से पता चलता है कि दान में दिए जानेवाले अकेले हाथियों की संख्या ही सात सौ थी। भाऊसिंहजी अपने पूर्वजों के ऐसे गौरव को भुलानेवाले पुरुषों में न थे। गज-दान करने में उन्होंने भी अपने हृदय को कभी कुंठित नहीं किया। ऐसे ही दानों के स्मारक-स्वरूप मतिरामजी के छंद और कतिपय छंदांश ध्यान देने योग्य हैं—

"हाथिन बिदारिबे को हाथ हैं हथ्यार तेरे,
दारिद बिदारिबे को हाथियै हथ्यार हैं।"

अर्थात् किसी दरिद्र का दारिद्रय नष्ट करने का विचार उठते ही 'गज-दानों' से छोटा दान करना आप जानते ही नहीं।

"दुज्जन के दल, कबि लोगनि के दारिदनि
नीके करि गजनि की फौजनि ते मारे हैं।"

"सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत
छहू ऋतु छके मद-जल छलकत हैं;
मंगन की कहा है, मतंगन के माँगिबे को
मनसबदारन के मन ललकत हैं।"

ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अंजन, पुष्पदंत, सार्वभौम और सुप्रतीक नाम के आठ दिग्गज प्रसिद्ध हैं। रत्नावली-अलंकार में संपुटित करके मतिरामजी ने इन दिग्गजों से भाऊसिंहजी के हाथियों की तुलना की है, और फिर यह दिखलाया है कि भाऊसिंहजी ऐसे ही हाथियों के दान किया करते थे—

"जीतयँ जे रावत ऐरावत सों जंग, अंग
पुंडरीक के गनत पुंडरीक-छद हैं;
बामन बामन, मृदु कुमुद कुमुद गनैं,
अंजन के जैतवार अंजन-से कद हैं।

पुष्पदंत हू के दंत तोरचो ज्यों पुहुप-सार,
छीन लेत सार्वभौमहू के सदा मद हैं;
प्रबल प्रतीक सुप्रतीक के जितैया रैया
राव भावसिंह तेरे दान के दुरद हैं।"

कविराजा सूर्यमल्ल का 'वंश-भास्कर'-नामक ग्रंथ पढ़ने से जाना जाता है कि कविवर मतिरामजी को भी राव भाऊसिंहजी ने बत्तीस हाथी दिए थे। मतिरामजी ने बूँदी-नरेश के हाथियों की जिस प्रकार प्रशंसा की है, उससे भी यह कथन सत्य जान पड़ता है।

(४) गज और ग्राह की पुराण-प्रसिद्ध घटना का वर्णन भी मार्मिक कवि मतिराम ने बड़े ही अनूठे ढंग से किया है। 'ललित-ललाम' में उनके इस संबंध के दो छंद बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। उनमें का एक छंद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"जूथ-पति पैठचो पानी, पोषत प्रबल मद
कलभ करेनुकन लीने संग सुख ते;
ग्राह गह्यो गाढ़े, बैर पाछिले के बाढ़े,
भयो बल-हीन, बिकल करन दीह दुख ते।
कहै 'मतिराम', सुमिरत ही समीप लखे,
ऐसी करतूति भई साहब-सुरुख ते;
दोऊ बातें छूटीं गजराज को बराबरि ही,
पाँव ग्राह-मुख ते पुकार निज मुख ते।"

(५) हिंदी-भाषा के कवियों में जैसा गज-वर्णन मतिरामजी ने किया है, वैसा वर्णन करने में अन्य कवि समर्थ नहीं हो सके। यदि कोई कवि ऐसे वर्णनों में इनकी समता करता है, तो वह इनके भाई कविवर भूषणजी ही हैं। लेकिन, हमारी राय में, यह उनके आगे ही रहते हैं। तुलना के लिये उभय कविवरों के कुछ छंद यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा।

भूषणजी के शिवराज कविराजों को ऐसे-ऐसे हाथी दान में देते हैं कि उनकी फ़िक्र मिट जाती है। ज़र्बाफ़ की बनी झूलें उन हाथियों पर पड़ी झिलमिलाती हैं। पैर ज़ंजीरों से जकड़े रहते हैं। भ्रमर भन-भन करते हैं। घंटे घनघनाते हैं। उनकी गरज सुनकर दिग्गज शरमा जाते हैं, और मद इतना बहता है कि उसमें पर्वत डूब जाते हैं। भूषणजी का इस आशय का छंद नीचे लिखा जाता है—

"साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं;
झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जँजीर जोर करत किरिरि हैं।
'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट,
पग झननात, मनो घन रहे घिरि हैं;
जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गड़काब होत गिरि हैं।"

भूषणजी का यह वर्णन उत्तम होने पर भी कुछ असंबद्ध-सा है। कविराजजी गजराज पाने से ऐसे कुछ बेफ़िक्र हो गए हैं कि उनको उस पर बारीक निगाह डालने का मौक़ा ही नहीं मिल रहा है। झूल पर निगाह पड़ी, फिर पैरों पर जा ठहरी; भ्रमर-शब्द सुना, फिर घंटा घनघनाने लगा। जब कहीं गरज सुनी, तब मद-जल पर निगाह गई। कहने का तात्पर्य यह कि भूषणजी की निगाह पीठ से पैरों पर फिर वहाँ से गंडस्थल पर (पहली बार गंडस्थल पर पहुँचकर भी कविजी को मद-जल नहीं देख पड़ता), फिर पैरों पर, फिर सूँड पर (गरज सुनकर), तब फिर गंडस्थल पर बिछली-बिछली फिरती है। इस बेफ़िक्री में हाथी की उँचाई, उसका सुडौलपन, उसका युद्ध के उपयुक्त होना आदि सब कुछ भूषणजी भूल जाते हैं, लेकिन मतिरामजी ऐसे 'बे-फिकिरि' कवि नहीं हैं। उनकी निगाह जहाँ गड़ती

है, वहाँ की थाह लिए विना नहीं हटती। सबसे पहले वह हाथी की उँचाई देखते हैं, पर बड़ डील-डौल से ही क्या होता है ? सो उनके हाथी 'जैतवार' (जीतनेवाले) ठहरते हैं। पर बहुत-से हाथी जैतवार होते हुए भी आतंक जमानेवाले नहीं होते। इस कारण मतिरामजी के हाथियों की 'चिक्कार'-धुनि सुनकर दिग्गज काँपते (हलत) हुए पाए जाते हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर भी हाथियों की बनावट कुढंगी हो सकती है। वे अकेले काम के होने पर भी और हाथियों के साथ, सेना में, काम न दे सकनेवाले हो सकते हैं; पर मतिरामजी के हाथी तो 'सैन-सोभा के ललाम' हैं। पर क्या वे कृत्रिम साज से हीन हैं ? नहीं, वे 'अभिराम जरकस-झूल झाँपे झलकत हैं'। यह सब होने पर भी संभव है, वे समय-विशेष पर ही काम देनेवाले हों, अन्य समय उनमें युद्ध के उपर्युक्त मस्ती न रहती हो। सो यह बात भी नहीं है। वे 'छहू ऋतु छके मद-जल छलकत हैं।' भाऊ सिंहजी के ऐसे हाथियों को पाने के लिये कवि, चारण, ब्राह्मण (मंगन) आदि ही उत्सुक नहीं रहते, बल्कि सैकड़ों हाथियों के अधिपति बड़े-बड़े मनसबदारों के मन भी उनकी प्राप्ति के लिये ललकते रहते हैं। छंद इस प्रकार है—

"अंगनि उतंग, जंग जैतवार जोर जिन्हैं,
चिक्करत दिक्करि हलत कलकत हैं;
कहै 'मतिराम', सैन-सोभा के ललाम,
अभिराम जरकस झूल झाँपे झलकत हैं।
सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत,
छहू ऋतु छके मद-जल छलकत हैं;
मंगन की कहा है, मतंगन के माँगिबे को,
मनसबदारन के मन ललकत हैं।"

मतिरामजी का शब्द-समूह बहुत ही सुदृढ़ और हर ओर से

भाव को पुष्ट करनेवाला है। उसमें गंभीरता के साथ 'अर्थ-व्यक्ति' का भी समावेश है।

"उलदत मद, अनुमद ज्यों जलधि जल,
बलहद, भीम कद, काहू के न आह के;
प्रबल प्रचंड, गंड-मंडित मधुपबृंद,
बिंध्य-से बलंद, सिंधु सातहू के थाह के।
'भूषन' भनत, झूल झंपति झपान झुकि,
झूमत झुलत, झहरात, रथ डाह के;
मेघ से घमंडित, मजेजदार, तेज-पुंज,
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ-नरनाह के।"

(भूषण)

"सजल जलद जिमि झलकत मद-जल,
छितितल हलत चलत मंद गति मैं;
कहै 'मतिराम', बलबिक्रम बिहद्द सुनि,
गरजनि परैं दिगवारन बिपति मैं।
सत्ता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कबिराजनि की मति मैं;
मधुकर-कुल करिनीनि के कपोलनि तें,
उड़ि-उड़ि पियत अमिय उडुपति मैं।"

(मतिराम)

उभय कविवरों के दोनो ही छंद परम प्रसिद्ध हैं। रसिकों का हृदय ही इस बात का साक्षी है कि दोनो छंदों में आगे कौन निकल रहा है। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि—

"प्रबल प्रचंड, गंड-मंडित मधुप-बृंद,
बिंध्य-से बलंद, सिंधु सातहू के थाह के।"

इस पद द्वारा कुमाऊँ-नरनाह के हाथियों की उँचाई का जो वर्णन

भूषणजी ने किया है, वह अत्यंत उदात्त होने पर भी मतिरामजी के तादृश अनुपम वर्णन को नहीं पाता—

"मधुकर - कुल करिनीनि के कपोलनि तें,
उड़ि - उड़ि पियत अमिय उड़पति मैं ।"

इस पद में उदात्त के साथ जिस सौंदर्य का सामंजस्य हुआ है, वह अनुपम है, इसमें कोई भी संदेह नहीं ।

विस्तार-भय से गज-वर्णन-संबंधी अन्य छंदों को यहाँ उद्धृत करना ठीक न होगा । जो पाठक इस विषय में कविवर के रचना-कौशल का पूर्ण रूप से अध्ययन करना चाहें, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे एक बार 'ललित ललाम' को मन लगाकर पढ़ जायँ । मतिरामजी का गज-वर्णन अपूर्व है ।

मृदु हास्य

साहित्य-दर्पणकार ने हास्य को छ प्रकार का माना है । मुस्किराहट, इतनी मुस्किराहट कि दाँत भी दिखलाई पड़ जायँ, मधुर मुस्किराहट, भली भाँति हँसना, हँसते-हँसते नेत्रों में पानी का आ जाना तथा हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाना, ये ही हास्य के छ भेद हैं । इनमें से प्रथम तीन का कुछ विशेष आदर है । मतिरामजी के काव्य में 'मृदु हास्य' का ठौर-ठौर पर वर्णन है । उनके वर्णनों से जान पड़ता है कि मृदु हास्य से उनका प्रयोजन उपरि-दर्शित हास्य के प्रथम तीन भेदों से है । मृदु हास्य के अतिरिक्त भी उन्होंने हास्य का वर्णन किया है, परंतु वह बहुत कम । ललित लालम और रसराज के मृदु हास्य-संबंधी कुछ पद्यांश यहाँ गद्य-लेख-रूप में दर्शित किए जाते हैं—

चंद्रानन उदित हुआ है, जिसमें मृदु, मंजु हँसी की ज्योत्स्ना छिटक रही है । इस मृदु मुस्कान का उद्योत तो ऐसा ही है, मानो गंगाजी के उज्ज्वल निर्मल जल में चंद्रमा की दीप्ति झलक रही हो । क्या कभी आपने चंपकबल्ली से चमेली के फूल झरते देखे हैं ? यदि

नहीं, तो उस चंपक-वर्णवाली नायिका के मृदु हास्य को जाकर देखिए। श्रीकृष्णजी के श्यामल कोमलांग के साथ एक सफ़ेद फूलों की माला झूल रही है। बेचारी का रंग बदरंग हो गया है। उस पर श्यामता छा गई। पर वह देखिए कि राधिकाजी ने ज़रा-सा मुस्किरा दिया। हार की सारी श्यामता न-जाने कहाँ गई। वह फिर सफ़ेद-का-सफ़ेद दिखलाई पड़ रहा है। मृदु मुस्कान का कैसा रमणीय प्रभाव है! इस मृदु मुस्कान का पान श्रीकृष्ण भगवान् के नेत्र दिन-रात किया करते हैं, फिर भी बेचारों की पिपासा-शांति नहीं होती। यह मंद मुस्किराहट कंदर्प के अजेय दर्प का प्रकट रूप है। शरच्चंद्र की चाँदनी इसका सामना कैसे कर सकती है? प्रभात-काल के विकसित अरविंद इसे देखकर लज्जित हो जाते हैं। इसके थोड़े-से प्रभाव से मोहिनी-सी पड़ जाती है। प्रेमिकाएँ अपने प्रेमी को बहुमूल्य हीरों की भेंट देने के वादे का स्मरण कराने के लिये थोड़ा-सा मुस्किरा दिया करती हैं। मुस्किराहट और हीरे के समान उज्ज्वल आभा का स्मरण करके तुरंत प्रेमी को अपने वादे याद आ जाते हैं। कलह-रूप वर्षाकाल में जब अश्रु-बुंदों की झड़ी लग जाती है, तो यह मृदु हास्य भी हंस के समान न-जाने कहाँ चला जाता है। कैसा अपूर्व मृदु हास्य है! क्या सरस्वती देवी का श्वेत उत्तरीय हिल रहा है? क्या यह कामदेव का धवलित यशःपुंज है? सुवासित सुमनों का पराग तो नहीं बिखर गया? श्रीराधिकाजी की नथ में पड़े हुए गजमुक्ताओं की आभा का विस्तार तो नहीं? मूर्तिमान् हो करके हृदयोल्लास तो नहीं निकल रहा है! श्रीकृष्णचंद्र के नेत्रों को शीतल करने के लिये यह कर्पूर-चूर्ण तो नहीं फेंका गया है? अनोखे मृदु हास्य, तूने कैसे-कैसे संदेह उत्पन्न कर दिए हैं—

"बानी को बसन कैधौं बात के बिलास डोलै,
कैधों मुख - चंद चारु चंद्रिका-प्रकास है?

'कबि मतिराम' कैधौं काम को सुजस कैं,
पराग - पुंज प्रफुलित सुमन - सुबास है ?
नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधौं,
देहवंत प्रकटित हिये को हुलास है ?
सीरे करिबे को पिय-नैन घनसार कैधौं,
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है ?"

ललित लोचन

दृग सामंत के समान कुवलय को भी जीत लेते हैं। जलधि की समता भी नेत्रों से बड़ी ही अच्छी है। पर जलधि का खारापन अच्छा नहीं लगता। इधर आँखों की लुनाई अच्छी लगती है। ललित लोचनों को सजल जलद भी कह सकते हैं।

इनकी विविध अवस्थाओं को देखकर ही कवि ने कह डाला है—

"एक ओर मीन मनो एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन, चकोर एक ओर हैं।"

इनका प्रभाव ऐसा है कि—

"खोलि कै नैनन देखौ जो नेक, तो स्याम सरोज पराजय साजै।"

पर ये भयकारी नहीं हैं। दूर से इनको देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, तभी तो किसी ने अपने प्यारे के स्वागत में—

"दृग-कमलन के द्वार मैं बाँधे बंदनवार।"

इनकी किस-किस बात की प्रशंसा की जाय। कभी-कभी तो इनमें सहज श्यामता ऐसी पाई जाती है कि—

"कजरारी अँखियान मैं भूल्यो काजर एक।"

पूर्ण प्रफुल्ल नेत्रों की बात ही क्या, यहाँ तो यह दशा है कि—

"अधमूँदी अँखियन दई मूँदी प्रीति उघारि।"

पर इस प्रीति को समझनेवाले ही समझ पाते हैं। सबके पहुँच की यह बात नहीं है—

"वेई नैन लागत रुखाई-भरे लोगन को,
वेई नैन लागत सनेह-भरे नाह को।"

परंतु जब रुखाई छोड़कर आँखें विहँस उठती हैं, तो किसी को शब्द के विना ही उत्तर मिल जाता है—

"लाज-भरी अँखियन बिहँसी बलि, बोल कहे बिन ऊतरु दीन्हो।"

परंतु कभी-कभी आँखों की इस हँसी का परिणाम इस हद तक भी पहुँच जाता है कि कवि को चेतावनी देनी पड़ती है—

"बढ़ि जैहै इन दृगन के हाँसन ते उपहास।"

देवांगनाओं की आँखों में यह विशेषता होती है कि उन्हें पलक नहीं मारनी पड़ती। नायिका की चकितावस्था में उसकी आँखें भी निर्निमेष हो जाती हैं—

"नेकु निमेख न लागत नैन, चकी चितवै तिय देवतिया-सी।"

एक ओर नेत्रों के स्थिर भाव का यह दृश्य है, तो दूसरी ओर मुंह-जोर दृग-तुरंग किसी की मानते ही नहीं—

"मानत लाज-लगाम नहिं, नैक न गहत मरोर;
होत लाल लखि बाल के दृग-तुरंग मुँहजोर।"

ख़ैर, जहाँ इच्छा होती है, वहाँ जाते तो हैं ही; पर वे शूर भी ऐसे हैं कि समर-भूमि (रणस्थल—समर-भूमि—काम-स्थान) से फिर विचलित भी किसी प्रकार नहीं होते। इन नेत्र शूरमाओं की कमान भौंहें और तीर कटाक्ष हैं—

"भौंह कमान, कटाछ सर, समर-भूमि बिचलै न;
लाज तजेहूँ दुहन के सजल सूर-से नैन।"

कवि क्या ठीक पूछता है—

"तिरछी चितौनि मैन बरछी-सी कौन की"

बरछी तो बरछी, पर ये तीक्ष्ण सर भी कैसे बेढब हैं ! हृदय में कितना गहरे गड़े हैं ! मतिरामजी का कितना अच्छा नेत्र-वर्णन है—

"आलस - बलित कोरैं काजर - कलित,
'मतिराम' वै ललित, अति पानिप धरत है;
सारस सरस, सोहैं सलज सहास ,
सगरब, सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं ।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाच्छ ,
बड़े लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं;
गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत ,
मैन बान-से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ।"

नेत्र-वाणों का दृश्य पाठकों ने देखा, अब इनके और भी कर्तब देखने चाहिए। ये बाजीगर भी पूरे हैं। देखते-न-देखते श्याम रसाल को कंटकित कदंब में परिवर्तित कर देना भी इनके बाएँ हाथ का खेल है। देखिए—

"नैसुक निहारे ते नबेली नैन-कोरनि सों
ऐसी अद्‌भुत को कलानि आचरित है;
ललित, ललाम, स्याम; रसिक रसाल को
कदंब मुकुलित के कुलनि सों करति है ।"

आइए, इन नेत्रों की और भी बुराई आपको सुनाई जाय। देखिए, इन्होंने कैसी अनीति मचा रक्खी है ! सबके देखते-देखते चित्त की चोरी कर ही डालते हैं। चोरी यों ही महापातक है। बड़ा भारी अपराध है; पर ये अस्त्र चलाकर घायल भी कर डालते हैं। इनके कटाक्ष जब छाती में गड़ते हैं, तभी समझ पड़ता है कि ये काम-शरों से भी तीक्ष्णतर हैं। चोरी और दूर से फेककर अस्त्रों द्वारा घायल करने की बात निंद्य होने पर भी डाके की अपेक्षा कम घृणित है। परंतु ये दुष्ट नेत्र तो कमल और खंजन तथा मछलियों की छवि को जबरदस्ती छीन बैठे हैं। मृगों के नेत्रों की शोभा भी

बलात् लूट ली गई है। यह कितने दुःख की बात है। फिर भी आश्चर्य तो इस बात का है कि इतनी अनीति करके भी इन नेत्रों की प्रशंसा क्यों होती है ? देखिए—

"देखत ही सबके चुरावती है चित्तनि को,
फेरि कै न देती, यों अनीति उमड़ाई है;
'कबि मतिराम' काम-तीर हू ते तीछन
कटाछनि की कोरैं छेदि छाती में गड़ाई है।
खंजरीट, कंज, मीन, मृगनि के नैननि की
छीन-छीन लेती छबि, ऐसी तैं लड़ाई है;
तेरी अँखियान मैं बिलोकी यह बड़ी बात,
इते पर बड़ी-बड़ी पावती बड़ाई है।"

मन और हृदय

यदि इस हृदय में स्नेह का अंकुर नहीं उगता तो निस्संदेह यह ऊसर क्षेत्र के समान है। उर भी कितना कठोर होगा, इसका पता तो इसी बात से मिलता है कि उरोज कितने कठोर होते हैं। प्रेमी की शिकायत है कि उसका स्मरण नहीं किया जाता, परंतु जो कठिनता है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। स्मृति-मूर्ति का निवास-स्थान हृदय-मंदिर है; परंतु दुर्भाग्य-वश वह हृदय ही खो गया है। अब कहिए, स्मृति कैसी की जाय ? हृदय की बातें ही निराली हैं। आग लगती है कहीं, और ज्वाल-मालाएँ उठती हैं हृदय में। हृदय का साथी मन भी वैसा ही रँगीला है। उसके कर्तव्य और भी निराले हैं। कभी तो वह विराट्काय ईश्वर तक को अपने मंदिर में फाँस लेता है, और फिर छुटकारा देने का नाम भी नहीं लेता। कभी वह स्वयं श्रीकृष्णचंद्र की वनमाला में बैठकर वन-वन में मारा-मारा घूमता है। बवंडर में पड़े हुए पत्ते की दशा तो पाठकों ने देखी ही होगी। बस, कभी-कभी यह मन भी उसी के समान किसी प्रेमी

के ऊपर ही मँडराया करता है। उस समय इसकी सामर्थ्य न-जाने कहाँ हवा खाने चली जाती है। पर यह रसिक भी परम प्रवीण है। सुधा-सरोवर में मीन के समान कलोलें भी खूब करता है। धूर्तता भी इसमें कम नहीं है। देखो न, शिवजी को धतूर के फूल-मात्र देकर ऐसा राज़ी किया कि तीनो लोक की साहिबी अपने हाथ में कर ली। इसके हलकेपन की बातें तो आपने जानीं; परंतु यह गरुआ भी बहुत है। इसका नाम क्या सूचित करता है? सो अत्यंत सूक्ष्म कटिवाली नायिकाएँ इससे सदा सशंकित रहती हैं। यद्यपि यह उनके अनुरूप रहता है, फिर भी उन्हें इसके भार से अपनी पतली कमर के टूट जाने का भय बना ही रहता है। शिवजी को इसने जिस प्रकार से अपने वश में किया है, वह तो आप जानते ही हैं। बस, हमारी तो मन से यही प्रार्थना कि जैसे अब तक नाना प्रकार के कष्ट उठा-उठाकर भी हमने उसका कहना माना है, उसी प्रकार उसे भी अब हमारा कहना मान करके थोड़े में सिद्धि देनेवाले श्रीशंकर के चरणों का आश्रय लेना चाहिए। इससे संपूर्ण संताप दूर हो जायगा। शीतलता छा जायगी। इससे सरल और दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। त्रिलोकीनाथ महादेव को छोड़कर धतूर और मदार के फूलों से और कौन संतुष्ट होते देखा गया है?

"तेरो कह्यो सिगरो मैं कियो, निसि-द्योस तप्यो तिहुँ तापनि ताई;
मेरो कह्यो अब तू करि जोरि जो, सब दाह मिटै, परिहै सियराई।
संकर-पायनि मैं लगि रे मन, थोरे ही बातन सिद्धि सोहाई;
आक-धतूरे के फूल चढ़ाए तें रीझत हैं तिहुँ लोक के साँई।"

फिर वन में डाकुओं के समान रहकर जो-जो घोर कर्म इसने किए हैं, उनका प्रायश्चित्त विना अपने आपको शंकर के अर्पण किए कैसे होगा। अरे मन, क्या तुझे याद नहीं कि तूने—

"भौंह कमान कै, लोचन बान कै, लाजहि मारि रहै बिसवासी;
गोल कपोलनि केलि करै, भयो कुंडल लोल हिंडोल बिलासी।

कोट किरीट किए 'मतिराम' केलि करै चढ़ि मोर पखान मवासी;
क्यों मन हाथ करौं सजनी ? बनमाल मैं बैठि भयो बनबासी।"

आँसू

आँखें किसी पर रीझ गई हैं। इसलिये उन पर रीझ का भार है। सुकुमार नेत्रों के लिये यह कितना अधिक बोझ है! आख़िर श्रम-भार से जल-बिंदु झलक ही तो आए। यही श्रम-बिंदु आँसू हैं। आइए, इन आँसुओं का पहले वह सौंदर्य देखें, जो इनके नेत्रों से पृथक् न होने पर है—जिस समय ये बरुनियों का मूल छूकर फिर लौट जाते हैं। वाह! यह दृश्य तो समुद्र में ज्वार-भाटा आने के समान है। समुद्र भी तो बेला के आगे नहीं बढ़ता है। फिर ज्यों-का-त्यों लौट जाता है। नेत्र-जल की भी यही दशा हुई है। अहो! मोती के समान आँसू नेत्र के किनारों पर कैसे अटके हुए हैं! जान पड़ता है, कटाक्षों से छिदकर वे अपने स्थान से आगे नहीं बढ़ पाते हैं—

"ईछन छोरनि ते न गिरे, मनो तीछन कोरनि छेदि रहे हैं।"

यह कल्पना भी हो गई। अब देखिए, आँसू टपाटप गिर रहे हैं। मानो आकाश से तारे टूट-टूटकर गिर रहे हों। यह दृश्य भय उत्पन्न कराता है। तारों का टूटना भावी अमंगल का सूचक है। अच्छा तो तारोंवाले रूपक को भूल जाइए। मंगलमय चित्र देखिए—

"आँखिन ते आनँद के आँसू उमगाय प्यारी
प्यारे को दिवावति सुरति मुकतान की।"

अब यह तो भली भाँति प्रकट हो गया कि आँसू सुख के भी होते हैं, और दुख के भी! पर ये बंद कैसे किए जायँ—

"बिन देखे दुख के चलहिं, देखे सुख के जाहिं;
कहो लाल, इन दृगन के अँसुवा क्यों ठहराहिं ?"

बंद होना तो दूर की बात है; यहाँ तो यह अवस्था हो रही है कि—

"नागरि के नैनन ते नीर को प्रबाह बढ़्यो,
देखत प्रबाह बढ़्यो जमुना के नीर को।"

कितना ज़बरदस्त अश्रु-प्रवाह है ! पर आश्चर्य तो यह कि इतना प्रबल होते हुए भी वह वियोगाग्नि को बुझाने में सर्वथा असमर्थ पाया जाता है। इसकी दशा तो ठीक समुद्र के समान है। अगाध सागर के लिये यह कितनी हीनता की बात है कि उसका बड़वानल बुझाया न बुझे। आँसू भी वैसे ही वियोगाग्नि नहीं बुझा पाते हैं—

"बाल-बिलोचन-बारि के बारिध बढ़ै अपार,
जारै जो न वियोग की बड़वानल की झार।"

प्रेम और मान

पतंग का दीपक पर कैसा सहज निष्कपट प्रेम है। उसकी एक झलक देखते ही वह उस पर शरीर और प्राण दोनो ही न्योछावर कर देता है। कैसा सच्चा आत्मनिलय है। सुख में प्रेम की क्या दशा रहेगी, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, पर वह देखो, प्रणयियुग्म की देह जैसे-जैसे सूखती जाती है, वैसे-वैसे प्रेम का पानिप और भी सरस होता जाता है। दुख में भी जो बढ़ता रहे, वही सच्चा प्रेम है। प्रेम अपने और प्रेम-पात्र में कोई भेद नहीं रखता। उसके लिये उसका प्रेम-पात्र ही मूर्तिमान् प्रेम है। उसे यही जान पड़ता है कि संसार के सारे प्रेम की उत्पत्ति मेरे प्रेमपात्र से ही हुई है। सौंदर्य प्रेम का सहायक है, पर प्रेम से सौंदर्य की उत्पत्ति है। सौंदर्य से प्रेम की उत्पत्ति नहीं है। चंद्रमा का आविर्भाव सिंधु से हुआ है, यह विचार ठीक नहीं है। असल तो यह है कि किसी के मुख-चंद्र से ही यह प्रेम-पयोधि उमड़ पड़ा है। यह यौवन-काल मस्त हाथी के समान है। इसके पैरों में लज्जा-रूपी शृंखला पड़ी हुई है, और इसका संचालक महावत प्रेम है। वह जिधर इसे ले जाता है, उधर ही यह मंद गति से चलता रहता है। प्रेमियों में प्रेम-संबंधी मान भी अनूठी वस्तु है। यद्यपि यह एक प्रेम का खिलवाड़ है, फिर भी गर्मी पाकर जैसे कभी-कभी पारा उड़ जाता है, वैसे ही इससे भी कभी-कभी प्रेम की हानि

होती है। मान की ज्योति दीपक की ज्योति के समान है। दोनो ही स्नेह को जला दिया करती हैं। मान की शोभा अधिकतर स्त्रियों में ही है, यद्यपि मानी पुरुषों का भी अभाव नहीं कहा जा सकता है। मान तीन प्रकार का होता है—लघु, मध्यम और गुरु। मान-लीला बड़ी ही विचित्र और रसीली है। श्रीकृष्णचंद्र मानिनी राधा को मना रहे हैं, पर वह कैसे स्वाभाविक मान-सूचक शब्दों में कहती है—"मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय, सो मान मनायो।" पर चतुर कृष्ण कब चूकनेवाले हैं। उनका विनीत उत्तर कितना क्षमा-याचना के भावों से भरा हुआ है। वह कहते हैं—"कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सों।" मान-लीला का यह वार्तालाप-प्रकरण कितना मधुर है! पर परस्पर आलिंगन होते हुए भी मान की सूचना देने की तरकीब भी प्रियतमा जानती है। उसने प्रियतम का आलिंगन तो किया, पर ढीली बाँहों से, और बातचीत बिलकुल न की। बस, मान की सूचना हो गई। ये सब मान के सौम्य रूप हैं। विकट रूप में मामला कुछ नाजुक हो जाता है। हठ परा काष्ठा को पहुँच जाता है। पैरों पड़ने की नौबत आती है। फिर भी प्रियतम को झिड़की सुनने को मिलती है। कभी-कभी तो इस प्रकार के वचन भी सुनने को मिलते हैं—

"ताके पग लागो, निसि जाके उर लागे लाल,
मेरे पग लागी उर आगि न लगाइए।"

क्रोध से प्रियतमा के नेत्र लाल हो जाते हैं। अश्रु-धारा बहने लगती है। मान की विकट अवस्था उपस्थित होती है; परंतु प्रियतम अंत में मनाकर छोड़ता है। क्षण-मात्र में अपूर्व परिवर्तन उपस्थित होता है—

"रिस ही के आँसू रस-आँसू भए आनँद के
रिस की ललाई, सो ललाई अनुराग की।"

परंतु मान-मृदुता का दृश्य तो उस नवेली की लीला में है, जो—

"बाल सखिन की सीख तें मान न जानति ठानि;
बिन पिय-आगम भौन में बैठो भौंहैं तानि।"

नहीं जानते, प्रियतम के घर में आने पर यह भौंहों की तनेनी बनी रह सकेगी या नहीं। मान का यह निर्बोध, सरल और कलह-शून्य दृश्य है। एक और ऐसा ही मनोहर दृश्य है, पर उसमें कुछ हृदय पर चोट पहुँचानेवाला मसाला है। देखिए—

"बाल नबेली न रूसिबो जानति, भीतर मौन मसूसनि रोवै।"

पर इससे भी मृदुलतर दृश्य तो तब देखने को मिलता है, जब नायिका मान करने के अवसर की खोज में रहती है, अपने नायक में दोष ढूँढ़ती है। पर उसे हताश होना पड़ता है। उसका प्रियतम निर्दोष पाया जाता है। मान की साध अपूर्ण रहती है।

मतिराम की जानकारी

कवियों का ज्ञान बहुत ही विस्तृत होता है। वे संसार की सभी बातों पर ध्यान रखते हैं, और समय पड़ने पर अपनी इस प्रकार की जानकारी से पूरा लाभ उठाते हैं। हिंदी-भाषा के कवियों का ज्ञान परिमित नहीं कहा जा सकता। महात्मा तुलसीदास से मानव-प्रकृति की कौन-सी बातें छिपी थीं? महात्मा सूरदास का ज्ञान कितना गहरा और बहुव्यापी था! शृंगारी कवियों में कविवर देव और बिहारीलाल की जानकारी कम न थी। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी यह समग्र जानकारी विशेषतया नायक-नायिकाओं के वर्णन-संबंध में प्रकाशित की हो। देव और बिहारी शृंगारी कवि थे। उनकी कविता शृंगारमयी है। सो उनके विस्तृत ज्ञान का दर्शन भी हमें उनकी ऐसी ही कविता में होता है। कविवर मतिरामजी भी शृंगारी कवि थे। उनका ज्ञान भी ख़ब विस्तृत था; पर इस ज्ञान

की थाह लेने के लिये हमें विवश होकर उनके श्रृंगार-सरोवर में डुबकी लगानी पड़ती है, और कोई दूसरा उपाय नहीं है। मतिरामजी के बहुव्यापी ज्ञान के कुछ उदाहरण लीजिए—

प्रकृति-विज्ञान

(१) बहुमूल्य धातु सोना गलाया जा सकता है। इसके गलाने में सोहागा विशेष उपयोगी है। सोने का एक नाम 'सुवर्ण' भी है। इसी 'सुवर्ण' का विकृत रूप 'सुबरन' है। 'सोहागा' को 'सोहाग' भी कहते हैं। 'सुवर्ण' और 'सोहाग' का दूसरा अर्थ क्रम से अच्छा रंग और सौभाग्य भी हो सकता है। सधवत्व-सूचक सौभाग्य का विकृत रूप 'सोहाग' प्रसिद्ध ही है। सुवर्ण और सोहाग शब्द श्रृंगार-कविता में अपने पिछले अर्थों के कारण बड़ी ही सरलता से व्यवहृत हो सकते हैं। मतिरामजी ने इन दोनो शब्दों के दोहरे अर्थों को देखा। उन्होंने देखा कि 'सोहाग' में 'सुवर्ण' को द्रवीभूत करने की कैसी मनोमोहिनी शक्ति है। इस अन्वेषण के उपलक्ष्य में प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को 'श्लेष' अलंकार पहना दिया। वह कहते हैं—

"ऐसौ पति पायो बड़भागनि सो प्यारी सदा
सुबिरन ही को पघिलावत सुहाग सों।"

सुंदर नायक को सौभाग्यवती के अतिरिक्त कौन द्रवीभूत करेगा? सोने को पिघलाने के लिये सोहागा अवश्य ही चाहिए। मतिरामजी मानव-प्रकृति और 'स्वर्णकारी' के इस तत्त्व को भली भाँति समझते थे।

(२) आतशी शीशे पर सूर्य की किरणें पड़ने से आग पैदा होना 'प्रकृति-विज्ञान' में एक साधारण घटना है। मतिरामजी प्रकृति-विज्ञान के इस तत्त्व से परिचित थे। संभवतः उन्होंने शीशे में इस प्रकार से अग्नि प्रदीप्त होते देखा था। किसी विरहिणी नायिका को चंद्र-किरणों के स्पर्श से छटपटाते देखकर उन्हें उस शीशे की यदि

आ गई, जिस पर सूर्य-रश्मियों के पड़ने से अग्नि का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने अपने इस पूर्व अनुभव को एक सुकुमार विचार अभिव्यक्त करने में लगाया। वह कहते हैं—

"चंद-किरनि लगि बाल-तन उठै आगि यों जागि;
दुपहर दिनकर-कर परसि ज्यों दरपन मैं आगि।"

(३) पारा गर्मी पाकर उड़ जाता है। एक मानवती नायिका अपने प्रियतम से रूठ कर बैठी है। मिज़ाज में गर्मी ज़्यादा चढ़ गई है। मतिरामजी ने देखा, कहीं ऐसा न हो कि नायक में भी ऐसी ही गर्मी आ जाय। क्योंकि यह स्पष्ट है कि यदि दोनो ओर से 'गर्मागर्मी' हुई, तो प्रेम देवता के भागने में देर न लगेगी। प्रेम का गर्मी (तेज) से भागने का विचार उत्पन्न होते ही मतिरामजी को 'पारा और गर्मी' का अनुभव स्मरण हुआ। इस अनुभव से तत्काल लाभ उठाकर कविवर कहते हैं—

"कहा लियो गुरु मान को अति ताती ह्वै नेम?
पारद-सो उड़ि जायगो अलि अंतर यह प्रेम।"

(४) समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, परंतु वह एक अपनी निर्दिष्ट सीमा से आगे नहीं जाता। वहाँ पहुँचकर पानी धीरे-धीरे पीछे को लौट जाता है। सीमा के बाहर होकर वह नहीं बहता है। जहाँ से आता, वहीं को लौट जाता है। उस सीमा-प्रांत को जिसके आगे ज्वार-भाटा का भय नहीं रहता है, 'बेला' कहते हैं। ज्वार-भाटे के रूप में प्रकृति के इस खिलवाड़ से मतिरामजी परिचित थे। लज्जा से विवश मुग्धा सुंदरी का विरह बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है। आँसू उमड़े पड़ते हैं, परंतु लज्जा के कारण सुंदरी नेत्रों के आँसू नेत्रों ही में किसी प्रकार से विलीन कर डालती है। बरुनियों तक आकर आँसू फिर ग़ायब हो जाते हैं। निर्दिष्ट सीमा के आगे आँसुओं का आना बंद है। ज्वार-भाटा और मुग्धा सुंदरी के अश्रु-प्रवाह में

यह अद्भुत साम्य है । मर्मज्ञ मतिराम इन दोनो भावों का सहयोग निम्न-लिखित दोहे में कैसे अनोखे ढंग से करते हैं—

"पिय-बियोग तिय-दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय;
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जाति बिलाय ।"

लोक-प्रसिद्ध ज्ञान

कवि को जिस प्रकार विविध शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए, वैसे ही उसको लोक-प्रसिद्ध ज्ञान से पूर्ण परिचय रखना चाहिए। सर्व-साधारण किन बातों को किस दृष्टि से देखते हैं, इस बात को विना समझे कवि उन लोगों के हृद्गत भावों का परिस्फुटन कदापि नहीं कर सकता । मतिरामजी लोक-प्रसिद्ध ज्ञान से भी पूर्ण परिचित थे—

(१) तारों का टूटना अमांगलिक समझा जाता है । वृद्धजन अब भी तारे का टूटना देखकर 'शिव-शिव' कहने लगते हैं । उल्का-पात (तारों का टूटना) भावी उत्पात का सूचक माना गया है । नायक को नायिका की विरहावस्था जताने के अवसर पर उन्होंने अपने इस ज्ञान का अच्छा चमत्कार दिखलाया है । नायिका के नेत्रों से आँसू क्या गिर रहे हैं, मानो तारे टूट-टूटकर गिर रहे हैं, जो भावी अनिष्ट के सूचक हैं । कवि के शब्दों में—

"हौ न कहत, तुम जानिहौ लाल, बाल की बात;
अँसुवा-उड़ुगन परत हैं, होन चहत उत्पात ।"

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे भावी अमंगल की शांति के लिये उपाय किए जाते हैं, वैसे ही नायक को 'मिलन'-उपाय द्वारा इस होनेवाले 'उत्पात' का निवारण करना चाहिए ।

(२) यात्रा के समय खाली घड़ा देखना अशुभ है । उससे यात्रा के निर्विघ्न समाप्त होने में संदेह उपस्थित होता है । अशकुन में विश्वास करनेवाला यात्री मार्ग में खाली घड़े देखने पर अपनी यात्रा स्थगित कर देता है । नायिका-विशेष को अपने पति की

विदेश-यात्रा-निवारण करने का जब और कोई उपाय न सूझा, तो वह मार्ग में ख़ाली घड़े लेकर खड़ी हो गई। यथा—

"नागरी नबेली रूप-आगरी अकेली रीती
गागरी लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट मैं।"

जिस प्रकार 'रीति गागरी' का मिलना अशुभ है, वैसे ही जल-पूर्ण कुंभों का मिलना शुभ है। ऐसा शकुन मिलने पर यात्री दूने उत्साह से यात्रा करता है। मतिरामजी ने ऐसा अवसर उपस्थित कराकर रसिकता-विशेष का परिचय देते हुए यात्रा निवृत्त कराई है। कैसा कवि-कौशल है!

"प्यो राख्यो परदेश तें अति अद्भुत दरसाय—
कनक-कलस पानिप-भरे सगुन उरोज दिखाय।"

(३) केवड़ा-फूल फूल-बाग़ में लगाना मना है। कहा जाता है, वह 'मनहूस' फूल है। बहुत लोग इस कथन पर विश्वास करते हैं। परंतु अनेक लोग केवड़े के अनुपम आमोद पर मुग्ध होकर उसे सादर 'गेह-आराम' में स्थान देते हैं। एक ऐसे ही 'गेह-आराम' से लौटी हुई नायिका अपने सुरत-गोपन का कार्य किस चतुरता से करती है—

"भलो नहीं यह केवरो सजनी, गेह-अराम;
बसन फटै कंटक लगैं निसि-दिन, आठो याम।"

(४) हरिल-पक्षी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह जिस लकड़ी को अपने पंजों में दबा लेता है, उसको छोड़ना ही नहीं जानता। मति-राम ने मानिनी के हठ की 'हारिल की लकरी' से अच्छी समता की है—

"हा-हा कै निहारेहू न हेरति हरिन-नैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी।"

विविध विषय का ज्ञान

(१) **"मेरे दृग-बारिद बृथा बरसत बारि-प्रबाह;**
उठत न अंकुर नेह को तो उर-ऊसर माह।"

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि कवि ने साधारण-सी किसानी की बात को अपनी युक्ति में कैसे अच्छे ढंग से बिठला दिया !

(२) **"गुन-अवगुन को तनकऊ प्रभु नहिं करत बिचार;**
केतिक-कुसुम न आदरत, हर सिर धरत कपार।"

केतकी का फूल महादेवजी पर नहीं चढ़ाया जाता, इसके विषय में एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। मतिरामजी ने पौराणिक कथा का समावेश सुंदरता से किया है।

(३) **"कहा दवागिनि के पिए? कहा धरे गिरि धीर?**
बिरहानल मैं जरत ब्रज, बूड़त लोचन-नीर।"

कृष्ण का दावानल-पान और गिरि गोवर्धन धारण करना—एक बार अग्नि से और दूसरी बार जल से व्रज का बचाना मतिराम को मालूम है। इतिहासज्ञ मतिराम मीठी चुटकी लेते हुए कृष्णचंद्र से कहते हैं कि पहले दो बार की विपत्ति-निवारण का ध्यान करके विरहिणी के अश्रु-प्रवाह की बहिया में डूबनेवाले एवं विरहानल में जलनेवाले व्रज की फिर रक्षा करो, नहीं तो पहले दोनो कामों का कोई महत्त्व न रह जायगा।

(४) **"लाल, तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाय;**
मूँदत मेरे नयन हौ करन कपूर लगाय।"

सात्त्विक के कारण नायिका को नायक के हाथ शीतल और सुगंधित जान पड़ते हैं। सो कपूर का अनोखा धोखा हो जाता है।

(५) **"जैसे मिही पट मैं चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे।"**

किसी रँगरेज़ से पूछिए कि महीन कपड़े में चटकीला रंग चढ़ाने का क्या उपाय है?

(६) **"इंद्रजाल-कंदर्प को कहा कहै 'मतिराम'?**
आगि लपट बर्षा करै, ताप धरै घनस्याम।"

इंद्रजाल के खेल ऐसे ही होते हैं। जादूगर क्या नहीं कर सकते!

काम-जादूगर की भी यही दशा है। मतिरामजी ने इंद्रजाल के खेल देखे थे, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

(७) मछली का शिकार करनेवाले जलाशय के किनारे बैठकर बंसी (काँटा) के द्वारा जिस प्रकार शिकार करते हैं, वह मतिराम ने अवश्य देखा होगा। वारविलासिनी मछली (विशेष शुद्ध वारि-विलासिनी) का विशेषण हो सकता है, और वह वेश्या का भी नाम है। लोचन जलाशय है, जहाँ कुटिल अलक-रूप बंसी बार-बार गिरती है।

"लोचन-पानिप ढिग सजी लट-बंसी परबीन;
मो मन बारबिलासिनी फाँसि लियो मनु मीन।"

(८) जो चोरी करता है, उसकी निंदा होती है। मालूम होने पर चोरी का माल वापस न देने से और भी निंदा होती है। ऊपर कहे हुए अभीष्ट-साधन के लिये किसी को घायल करना—चोट पहुँचाना—नीचता का काम है। खुल्लमखुल्ला लड़कर किसी का माल उठा लेना डाका डालना है। ये सब बातें नीति-विरुद्ध हैं। इनका करने-वाला समाज में बदनाम होता है। उसकी बड़ाई कोई भी नहीं करता। सभी उसकी निंदा करते हैं। नीतिज्ञ मतिरामजी इन सब बातों को जानते हुए जब किसी के 'नेत्रों' को इसी प्रकार का उपद्रव करते हुए पाते हैं, तब उन्हें हार्दिक खेद होता है। पर जब वह ऐसे नीच नेत्रों की समाज में 'बड़ाई' सुनते हैं, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रह जाता। ऐसी अनीति का ऐसा सुंदर पुरस्कार देख-कर किसका धीरज न छूट जायगा। ऐसे कामों के करने वाले को 'बड़ाई' मिलना क्या 'बड़ी बात' नहीं है? देखिए, मतिरामजी क्या कहते हैं—

"देखत ही सबके चुरावती हैं चित्तनि को,
फेरिकै न देती, यौं अनीति उमड़ाई हैं;

कवि 'मतिराम' काम तीरहू सुतीछन
कटाच्छन की कोरैं छेदि छाती मैं गड़ाई हैं।
खंजरीट, कंज, मीन, मृगन के नैनन की
छीन-छीन लेती छबि, ऐसी तैं लड़ाई हैं;
तेरी अँखियान मैं बिलोकी यह 'बड़ी बात'
इते पर बड़ी-बड़ी पावती 'बड़ाई' हैं।"

(९) प्राचीन काल में चोरी करनेवाले को बहुत ही कठोर दंड दिया जाता था। चोर के मुख में स्याही पोतकर नगर के आस-पास घुमाना भी एक प्रकार का दंड था। नायिका की छवि (रुचि) चुरा लेने को चंद्रमा ने अपने कर (हाथ—किरण) फैलाए थे— चोरी करने का इरादा किया था। इसी कारण ब्रह्मा ने उसके मुख में कारिख (कलंक) लगा दी, और अमरालय के आस-पास घूमने का हुक्म दे दिया—कैसा अच्छा इंसाफ़ किया! चोर को यही दंड मिलना चाहिए था। मतिरामजी कहते हैं—

"सुंदरिबदनि राधे, सोभा को सदन तेरो
बदन बनायो चारिबदन बनायकै;
ताकी रुचि लैन को उदित भयो रैनिपति,
मूढ़मति राख्यो निज कर बगरायकै।
'मतिराम' कहै, निसिचर चोर जानि याहि
दीनी है सजाय कमलासन रिसायकै;
रातौ-दिन फेरै अमरालय के आस-पास
मुख मैं कलंक-मिस कारिख लगाय कै।

मतिरामजी के ग्रंथों में उनके विस्तृत ज्ञान का पद-पद पर प्रमाण मिलता है। ऊपर केवल दिग्दर्शन-स्वरूप कुछ उदाहरण दिए गए हैं।

मतिराम-सतसई के कुछ दोहे

नीचे हम मतिराम-सतसई के कुछ अच्छे दोहे पाठकों की भेंट करते हैं।

विरह-वर्णन

सतसई में विरह का वर्णन बहुत उत्कृष्ट हुआ है। कविवर देव तथा बिहारीलालजी का विरह-वर्णन तो अच्छा है ही, पर मतिरामजी ने भी एतादृश वर्णन में अपनी प्रतिभा का ख़ासा चमत्कार दिखलाया है। मतिराम-सतसई की प्राप्त प्रति में से कुछ दोहों का यहाँ संकलन किया जाता है—

(१) विरहाधिक्य की यह दशा है कि सखियाँ नित्यप्रति जो कुछ उद्योग करती हैं, उससे विरह-शांति तो होती नहीं, हाँ, विपत्ति बढ़ती जाती है। विरह-ताप इतना अधिक हो गया है कि शीतलता पहुँचाने के लिये उरोजों में यदि कमल-पुष्पों का स्पर्श करा दिया जाता है, तो वे झुलस जाते हैं—

"सखिन करत उपचार अति, परति बिपति उत रोज;
झुरसत ओज मनोज के, परस उरोज सरोज।"

उपर्युक्त दोहे में अनुप्रास का जैसा कुछ चमत्कार मतिरामजी ने उपस्थित कर दिया है, वह सर्वथा दर्शनीय है।

(२) विरहिणी के अंग-ताप का निवारण करने को सखियों ने एक उपाय सोचा। उन्होंने कमल के पत्तों में ख़ूब गाढ़ा-गाढ़ा चंदन लगाया, और फिर उनको नायिका के अंगों पर चिपका दिया। आशा थी कि इससे विरह-संताप बहुत कुछ दूर होगा, पर घटना और ही प्रकार से घटी। 'पुरैन' के इन चंदन-पंकिल पत्तों का नायिका के अंगों से स्पर्श होते ही वे सब ऐसे झुलस गए, मानो आग में पापड़ भूने गए हों। कैसी अनूठी उक्ति है! कैसी सुंदर सूझ है!

"जागत ओज मनोज के परसि तिया के गात—
पापर होत पुरैनि के चंदन-पंकिल पात।"

(३) विरह-विधुरा नायिका रुदन कर रही है। बड़े-बड़े आँसू नेत्रों से झर-झरकर नीचे गिर रहे हैं। आप समझते होंगे कि इस

प्रकार के अश्रुपात से विरहिणी के दोनो उन्नत उरोज भीग रहे होंगे, पर बात ऐसी नहीं है। विरह के कारण वे इतने संतप्त हैं, उनमें इतनी अधिक गर्मी है कि उन तक आँसू पहुँचने ही नहीं पाते। बीच ही में सूखकर रह जाते हैं। बस, ऐसा जान पड़ता है, मानो आसमान से तारे टूट-टूटकर गिर रहे हैं, और पृथ्वी पर पहुँचने के पहले ही संपूर्ण नष्ट हो जाते हैं—

"बिरह-तचे तिय-कुचनि लौं, अँसुवा सकल न आय;
गिरि उड़गन ज्यों गगन तें, बीचहि जात बिलाय।"

(४) विरहिणी नायिका के निकट आने में भी नींद को डर लगता है। वह देखती है, विरहिणी के नेत्रों से ऐसा अविरल अश्रु-प्रवाह जारी है कि उसे पार किए विना नेत्रों तक पहुँच नहीं। नींद को साहस नहीं कि वह इस गंभीर प्रवाह को पार कर लेगी। उसका विश्वास है कि वह इसमें पड़ी नहीं कि डूबी नहीं, फिर कहीं की भी न रह जायगी। ऐसी दशा में 'आत्मानं सततं रक्षेत्'-जैसे नीति-वचन का अनुसरण करती हुई वह यदि नायिका के नेत्रों के निकट नहीं फटकती, तो क्या आश्चर्य है? विरहिणी को नींद न आने का कैसा मनोरम कारण मतिरामजी ने ढूँढ़ लिया—

"अँसुअन के परवाह मैं, अति बूड़िबे डेराति;
कहा करै? नैनानि को, नींद नहीं नियराति।"

(५) आँच पाकर स्नेह (स्निग्ध पदार्थ=तैल, घी आदि) में उफान आ जाता है। फिर भला विरहानल के आधिक्य में नायिका के शरीर में स्नेह (प्रेम) की उद्दीप्त अवस्था क्यों न दिखाई पड़े?

"ज्यों-ज्यों बिषम बियोग की अनल-ज्वाल अधिकाय,
त्यों-त्यों तिय के देह मैं नेह उठत उफनाय।"

(६) कामदेव 'अनंग' है। उसके शरीर नहीं है। अपने इस

अतनुभाव को वह विरहिणी नायिका में भी स्थापित किया चाहता है। अपने में और प्रोषितपतिका में वह कोई भेद नहीं रहने देना चाहता। मानो नायिका को उसकी बदौलत सायुज्य-भुक्ति मिलने जा रही है। विरह के कारण नित्यप्रति नायिका के अंग-प्रत्यंग क्षीण पड़ते जा रहे हैं। इससे कवि कल्पना करता है, मानो कामदेव उसे अपने ही समान विना शरीरवाली बना लेगा—सायुज्यता प्रदान कर देगा—

"लाल, तिहारे बिरह नित, छीन बाल के अंग;
जानति हौं, चाहत दियो, निज सायुज्य अनंग।"

(७) वर्षा क्या आई, मानो कामदेव ने विरहिणी को जलाने के लिये दावाग्नि जला दी है। ये घटाएँ बिलकुल धुएँ के अनुरूप हैं, तथा चंचला की चमक दावानल की ज्वालमालाओं की समता करती है। पावस के 'प्रथम पयोद' को लक्ष्य करके महाकवि बिहारीलाल ने यह भाव अपने एक दोहे में दिखलाया है—

"ज्वाल-जाल बिज्जुल-छटा, घटा धूम-अनुहारि;
बिरहिन-जारन को मनो, लाई मदन दवाँरि।"

(८) व्रजबाला की दशा ग्रीष्म-सरिता के समान हो रही है। निदाघकाल में सरिता का जीवन (जल) सूखने लगता है। विरहिणी का भी जीवन क्षीण हो रहा है। वर्षा आने पर घनश्याम (काली-काली मेघ-मालाएँ) रस (जल) बरसाकर सरिता को फिर परिपूर्ण कर देते हैं। उसी प्रकार घनश्याम (श्रीकृष्णचंद्र) रस-वृष्टि करके मृतप्राय विरहिणी को फिर जिला सकते हैं। इस सुंदर उपमा के सहारे सखी ने कैसा सुंदर हृदयस्पर्शी विरह-निवेदन किया है—

"बाल अलप जीवन भई ग्रीषम-सरित-सरूप;
अब रस-परिपूरन करौ तुम घनस्याम अनूप!"

कविवर रघुनाथजी ने मतिरामजी के इस भाव को अपने एक छंद में ज्यों-का-त्यों अपना लिया है।

खंडिता नायिका

व्रजभाषा के कवियों ने खंडिता नायिका के बड़े ही मनोहर वर्णन किए हैं। कविवर बिहारी, देव तथा सूरदास के खंडिताओं के चित्र जैसे कुछ बन पड़े हैं, वह अनुभव करने ही की बात है, कहने की नहीं। महाकवि मतिराम ने भी खंडिता नायिका को लेकर कई ऐसे भाव-चित्र खींचे हैं, जो अनुपम हैं। उपलब्ध सतसई की प्रति से हम यहाँ चार उदाहरण देते हैं—

(१) नायक ने नायिका के नेत्रों का चुंबन किया। ऐसा करने से उसके ओष्ठ में आँख का काजल लग गया है। उसे यह विदित नहीं। ओठ में वैसे ही काजल लगाए प्रातःकाल वह अपनी स्त्री के सामने उपस्थित हुआ। उसने नायक महोदय के अन्यत्र रमण की बात जान ली। नायक के अपराध को वह बड़ी ही मार्मिकता के साथ प्रकट करती है। कहती है—देखिए-देखिए प्राणनाथ, आनन-कमल के अरुण अधर-दल पर एक भौंरा आ बैठा है। इसे जल्दी से उड़ा दीजिए, नहीं तो यह काट ही खायगा। पर वहाँ भौंरा कहाँ? इशारा तो काजल के दाग़ की ओर है, नायिका अपनी अबोधता का बहाना करती हुई मानो यह दिखलाती है कि उसे कज्जल-दाग में भ्रमर का भ्रम हुआ है। इस प्रकार वह प्रकट रूप में नायक को लज्जित भी नहीं करना चाहती, साथ ही उसको उसकी करतूत भी सुझा देना चाहती है। कैसी रसीली चुटकी है!

"बैठ्यो आनन-कमल के अरुन अधर-दल आय;
काटन चाहत भावते, दीजै भौंर उड़ाय।"

(२) ऊपर के भाव को और भी अधिक स्पष्ट रीति से मतिराम-जी ने दूसरे दोहे में भी प्रकट किया है, पर 'भ्रांति' का आश्रय लेकर पहले दोहे में जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है, वह उपमा के सहारे दूसरे दोहे में नहीं आ सका। यहाँ बात बहुत खोलकर कह दी गई है—

"अजौ उड़ावत हौ नहीं, पीर न होत सभाग;
ठौर-ठौर ये भौंर-से लगे अधर-दल दाग।"

(३) खंडिता की और भी स्पष्टोक्ति देखिए। वह अपराधी नायक से कहती है—भावतेजी, आपके उरःस्थल पर भावती ने जो यह वेणी की छाप लगा दी है, अर्थात् आपके हृदय-स्थल पर जो यह अन्य नायिका के साथ आलिंगन होने के कारण उसकी वेणी का चिह्न बन गया है, वह कामदेव की सीढ़ी के समान होने से मुझे बड़ा ही भला लगता है। कहने का कैसा निराला ढंग है!

"भली लगै उर भावते, करी भावती आप—
काम-निसेनी-सी बनी यह बेनी की छाप।"

(४) "प्राणनाथ ने आज नवीन चंद्रहार धारण किया है, पर इसकी छवि तो नक्षत्रों के समान है। बारीक कपड़े से ढके रहते भी किसी प्रकार दृष्टि-पथ से विलग नहीं है।" ऐसा कथन करके नायिका ने अपराधी नायक को पानी-पानी कर दिया—

"झीने झँगा बिलोकियत नख-छत छबिधर नाह!
भले बिराजत ये नए चंद्रहार हिय माँह।"

कविवर बिहारीलाल के भी एक दोहे में कुछ ऐसा ही भाव प्रकट हुआ है।

भिन्न प्रकार के छंदों में समान भाव

मतिरामजी ने अपने उन अनेक भावों को, जिन्हें वह एक बार कवित्त और सवैया-जैसे लंबे छंदों में प्रकट कर चुके हैं, फिर से दोहा-छंदों में भी वर्णन किया है। दोहा-जैसे छोटे छंद में स्थल-संकोच होते हुए भी उन्होंने मुख्य भाव की सफलता-पूवक रक्षा की है। यही क्यों, कहीं-कहीं तो दोहे में और भी चमत्कार की वृद्धि हो गई है। सतसई में हमें ऐसे अनेक दोहे मिले हैं, जिनमें प्रकट होनेवाले भाव 'रसराज' के कवित्त और सवैया-छंदों में वर्तमान हैं। ऐसे भावों को साथ-साथ

देखने से कवि के कौशल का दर्शन तो होता ही है; पर प्राय: यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि 'सतसई' और 'रसराज', दोनो का रचयिता एक ही कवि है। इस प्रकार के केवल दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

"बाल लाल-मुख सौति को सुनो नाम परकास;
बरखै बारिद सैन पर उड़्यो हंस-सम हास।"

"दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजे असाढ़ की साँझ सुहाई;
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आयो उन्हैं मुँह मैं हँसी, कोपि तिया सुरचाप-सी भौंहैं चढ़ाई;
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं।"

सवैए की व्याख्या अन्यत्र मौजूद है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि एक ही भाव दो भिन्न छंदों में होने पर भी वह अपने मुख्य चमत्कार को स्थिर रखने में पूर्ण रीति से समर्थ हुआ है—

"अनमिख नैन, कहै न कछु, समुझै-सुनै न कान;
निरखे मोर-पखान के भई पखान-समान।"

"सूँघै न सुबास, रहै राग-रंग ते उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की;
कवि 'मतिराम' इकटक, अनमिख नैन,
बूझै न कहति बैन, समुझे न आन की।
थोरी-सी हँसनि औ' ठगोरी ऐसी डारि ठग,
बारी करी भोरी ते किशोरी बृषभानु की;
तब ते बिहारी, वह भई है पखान-कैसी,
जब ते निहारी रुचि मोर के पखान की।"

दोहे को देखकर बिहारी का और कवित्त को देखकर देव का स्मरण होता है। धन्य मतिराम! तुममें बिहारी और देव, दोनो के ही वर्णन-शैली-संबंधी गुण वर्तमान हैं।

स्फुट सूक्तियाँ

सतसई की प्राप्ति प्रति में सुंदर सूक्तियों की अधिकता है। एक से बढ़कर एक भाव मौजूद हैं। कोई भी दोहा शिथिल नहीं दिखलाई पड़ता। ऐसी दशा में संकलन-कार्य बड़ा कठिन है। फिर भी कुछ सूक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

(१) श्रीकृष्ण की मुरली बज रही है। उसका मधुर रव गोपियों के कानों में गूँज रहा है। इस सरस नाद का स्वाद उन्हें आनंदमय अनुभव हो रहा है। उनका तो कहना है कि श्यामसुंदर के अधरों की माधुरी ही इस नाद-रूप में निकलकर चारो ओर व्याप्त हो रही है। कैसा ऊँचा विचार है! कितनी दूर की सूझ है!—

"सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समझो सरस सवाद;
कढ़ी अधर की माधुरी ह्वै मुरली को नाद।"

(२) नंदलालजी, देखिए तो, छत पर यह कैसा सौंदर्य है? यह स्थिर दामिनी कैसी? क्या चंचला ने चपलता त्याग दी? यह निष्कलंक चंद्रमा कैसा? क्या चंद्रमा का कलंक जाता रहा? कैसा अभूतपूर्व व्यापार है? स्थिर दामिनी तथा निष्कलंक चंद्रमा के समान नायिका का परिचय कवि ने किस हस्तलाघव के साथ दिया है—

"अटा ओर नंदलाल, उत निरखौ नैक निसंक;
चपला चपलाई तजी, चंदा तज्यो कलंक।"

(३) अरी मानिनी, मान जा, इस शरत्कालीन ज्योत्स्ना में तेरे चित्त में क्या कुछ भी काम-पीड़ा नहीं उत्पन्न हो रही है? देख, मित्र के शरीर की आभा हरिद्रा से भी अधिक पीली पड़ गई है—

"हरद-बरन ते अधिक बढ़ि जरद होत वह मित्त;
सरद-जोन्ह मैं मानिनी, दरद न आवत चित्त।"

(४) अरे, यह वनमाला तो सदा ही श्रीकृष्णचंद्र के हृदय से लगी रहती है। इस कारण इसकी खबर भली भाँति लेनी चाहिए,

यही सोचकर जिस समय गोपी और श्रीकृष्ण का परिरंभण हुआ, तो उस गोपी ने वनमाला को भली भाँति दल-मल डाला। ईर्ष्या के भाव को कैसा अच्छा निवाहा है—

"लगी रहै हरि-हिय यहै करि ईरखा बिसाल;
परिरंभन मैं बल्लवी भली दली बनमाल।"

(५) कृष्णचंद्र ने अपने कान से उतारकर गुलाब के फूलों का एक गुच्छा प्रणय-सूचना के रूप में एक प्रेयसी गोपी को दे दिया। वह उस गुलाब-गुच्छ पर इतनी अधिक अनुरक्त हो रही है कि लज्जा की कुछ भी परवा न करके गुरुजनों में भी उसे प्रकट कर रक्खा है—

"दियो कान्ह, निज कान ते तुम गुलाब को गुच्छ;
गुरुजन मैं अवतंस करि फिरति लाज करि तुच्छ।"

देवजी का भी एक ऐसा ही भाव दर्शनीय है—

"अरिकै वह आज अकेली गई खरिकै हरि के गुन-रूप-लुही;
उनहूँ अपनी पहिराय हरा मुसकायकै, गायकै गाय दुही।
कहि 'देव', कहो किन कोऊ कछु, तब ते उनके अनुराग-छुही;
सब ही सों यही कहै बालबधू, यह देखु री माल गोपाल-गुही।"

(६) सखी, तू गुलाब की कली के फूलने के वास्तविक भाव को नहीं देख रही है। कली फूलती क्या है, मानो चुटकी के इशारे से मधुप को बुला रही है, बड़ा ही व्यापक भाव है। अनेक प्रसंगों पर इसका उपयोग हो सकता है। उक्ति-सूक्ष्मता ध्यान देने योग्य है—

"फूलति कली गुलाब की सखि, यह रूप लखै न;
मनो बुलावति मधुप को दै चुटकी की सैन।"

(७) केलि-भवन में रात्रि के समय सुंदर दीपक जल रहे हैं। एकाएक उनकी आभा क्षीण हो गई। जैसे दिन में जलता दीपक

निष्प्रभ-सा लगता है, वैसा ही हाल उन दीपकों का हुआ। बात क्या थी, सो कवि से सुनिए—

"बसन हरच्यो पिय सुरत मैं तिय-तन जोति-समीप;
केलि-भौन में राति हू भए द्यौस के दीप।"

अंग-दीप्ति का और क्या परिचय दिया जाय?

(८) अकेले ब्राह्मण की अपेक्षा यदि ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनो साथ-साथ खिलाए जायँ, तो क्या बात है? फिर सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण और ब्राह्मणी के न्योते की बात तो और भी पुण्यमयी है। ऐसे मेहमानों के लिये 'सुधा-भोजन' से घटकर पदार्थ भी न होना चाहिए। सखी नायिका को यही सलाह देती है कि वह ऐसा ही न्योता कर डाले। भोजन तो सहज-सुलभ है, क्योंकि उसके अधरों में ही सुधा-भोग मौजूद है। रहा 'दुजराज और दुजराजिन', सो वे कृष्णचंद के मुँह में मौजूद हैं। बस, अधरामृत पान करा दो, ब्राह्मण-भोजन से भी बढ़कर पुण्य होगा। 'दुज' (द्विज) दाँत को भी कहते हैं। सारे दाँत मुख के आश्रित हैं। इसलिये 'मुख' दुजराज हुआ। 'दुजराजी' (द्विजराजी) दाँतों की पंक्ति को कहेंगे, इसलिये 'द्विज-राजिनि' दाँतों की पंक्तियाँ हुईं। यों दुजराज और दुजराजिनि का अभिप्राय दंत-संयुक्त मुख हुआ। ऐसे मुख का न्योता उसी अधरा-मृत-पान का होगा। कैसा चमत्कार-पूर्ण दोहा है—

"अली, तिहारें अधर मैं सुधा-भोग को साज;
दुजराजिनि-जुत न्योतिए लाल बदन दुजराज।"

(९) नायक-नायिका दोनो के मुख चंद्रमा के समान प्रकाश फैला रहे हैं। बेचारी लज्जा-रूप अँधियारी को कहीं टिकने का अवसर ही नहीं मिलता—

"दुहूँ ओर मुख दुहुँनि के बिधु लौं करत प्रकास
लाज-अँधियारी दुहुँनि की कहूँ न पावति बास।"

(१०) नायिका के नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही है। आँखों में काजल रहने से आँसू भी काजल के वर्णवाले हो रहे हैं, उधर नेत्रों की छवि मीन के समान है, सो कज्जल-कलित अश्रु-प्रवाह तो नील दंड के समान शोभा पा रहा है, और उस पर नेत्र मछली के समान स्थित हैं, बस, कामदेव की पताका की अनुरूपता हो रही है—

"अंजन-जुत अँसुवा ढरत, लोचन मीन-समान;
लसत नील मनि-दंड-जुत मनो मनोज-निसान।"

(११) आप चाहे जितना अपराध करें, पर वह रुष्ट नहीं होने की। ऐसे कौन-से दोष हैं, जो प्रियतम के स्नेह-सागर में नहीं डूब जाते। वास्तविक स्नेह होने से फिर सभी दोष मिट जाते हैं—

"करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष;
नाह-सनेह-समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष।"

(१२) विप्रलब्धा की रात्रि और वामन महाराज के शरीर की समता पर भी ध्यान दीजिए। कैसी अनूठी सूझ है—

"प्रथम अरध छोटी लगी, पुनि अति लगी विशाल;
बामन-कैसी देह निसि भई बाल को लाल!"

परकीया और वेश्या

संस्कृत और व्रजभाषा-काव्य में शृंगार-रस के अंतर्गत नायिका-भेद का वर्णन बड़ी ही सुंदरता और बारीकी से किया गया है। अनेक सज्जन शृंगार-रस में स्वकीया नायिका के भेद और भेदांतरों तक तो 'नायिका-भेद' की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, पर इसके आगे परकीया और गणिकाओं के संबंध में होनेवाले वर्णनों को वे केवल कुरुचि-प्रवर्तक मानते हैं। लेखक भी परकीया और गणिका-वर्णन को आदर की दृष्टि से नहीं देखता, पर इस विषय में प्राचीन कवियों के जो वर्णन हैं, उनमें कहीं-कहीं भाव-चमत्कार बड़े ही अनूठे हैं। इन वर्णनों को पढ़कर यदि अपरिपक्व समझ और

अवस्थावाले युवकों में कुरुचि का संचार होता हो, तो आश्चर्य नहीं। पर, तो भी, कविता-सौंदर्य इनमें अवश्य है। एक बात और है। हिंदी-कविता में परकीया और गणिका नायिकाओं का वर्णन बुरा प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होने पर भी इतना गया-बीता नहीं है, जितना बायरन आदि कई अँगरेज़-कवियों के अश्लील वर्णन। बायरन के ऐसे ही घृणित काव्य को लक्ष्य करके समालोचक न्यूमैन कहते हैं—

"इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा काव्य भी मिलता है, जिसके सौंदर्य के विषय में तो इनकार नहीं किया जा सकता; परंतु वह सौंदर्य जिस अयोग्य वस्तु में समाविष्ट होता है, उसे देख क्रोध उत्पन्न होता है।"

अस्तु, समालोचक महोदय रुष्ट होकर भी कवि बायरन के महा-घृणित काव्य में सौंदर्य का अभाव कहने का साहस नहीं कर सके हैं। इसी प्रकार कवि रोचेस्टर की कविता में अश्लील वर्णन पाए जाते हैं, पर हैज़लिट-जैसे समालोचक ने उसके काव्य-सौंदर्य से इनकार नहीं किया है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ऐसे वर्णनों में जो काव्य-सौंदर्य है, वह सराहनीय ही है, फिर उसका प्रभाव चाहे जैसा हो। मतिराम कवि के काव्य में भी परकीया और गणिका के अनेक वर्णनों में खासा सौंदर्य समाविष्ट है। पाठकों से प्रार्थना है कि वे मतिराम के ऐसे वर्णनों को पढ़ते समय उन्हें नैतिक उपदेशक की दृष्टि से न देखें, वरन् एक ऐसे कवि की दृष्टि से देखें, जिसका काम सभी स्थलों से सौंदर्य संकलन करना है।

(१)

नायिका गुप्त रीति से अपने प्रियतम से मिल आई है। प्रियतम ने उसका शृंगार किया है। प्रियतम-कृत शृंगार साधारणतः सखी-कृत शृंगार के समान नहीं है। कई कारणों से उसके किए हुए शृंगार में कुछ विशेषता है।

सखी की बारीक निगाह इस विशेषता को समझ लेती है।

नायिका का प्रियतम से मिलन सखी को लक्षित हो जाता है। नायिका से वह इस बात को साफ़-साफ़ बतला देती है। ऐसी एक लक्षिता नायिका का चित्र मतिरामजी ने यों खींचा है—

"आई हौ पाँय दिवाय महावर कुंजन सों करिके सुखसेनी;
साँवरे आजु सवाँरो है अंजन, नैननि को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करिए, भटू भौंह तनेनी;
मूँदी न राखति प्रीति अली, यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी।"

उपर्युक्त छंद में प्रियतम-कृत शृंगार का होना पैरों के महावर, आँखों के अंजन और सिर की वेणी में ही संभव है, तो क्या महावर लगाने में नायक ने कोई भूल की? क्या वह ठीक तौर से काजल न लगा सका? क्या वेणी बाँधना भी उसे न आता था? क्या वह इतना अज्ञ था? यदि उसने कोई भूल नहीं की, तो सखी ने भेद कैसे पा लिया? क्या सखी का यह कहना कि गोपाल (गाय पालनेवाला अहीर-गँवार-अज्ञ) की गुही वेणी प्रीति प्रकट कर रही है—इसी अभिप्राय से है कि नायक गँवार है? उत्तर में निवेदन है कि बात ऐसी नहीं है। सखी के द्वारा 'गोपाल' के प्रयोग में हास्य की पुट होना संभव है; पर नायक अज्ञ न था। उसने महावर और अंजन लगाने तथा वेणी बाँधने में भूल नहीं की, पर उसके सतर्क रहते भी इन तीनो ही कामों में विकार हो गया है।

सात्त्विक भाव से पैर में स्वेद का प्रादुर्भाव हुआ है, इसलिये नायक का लगाया महावर फैल गया है। नेत्रों में कज्जल की भी यही दशा हुई है, यहाँ तक कि नायिका के नेत्र श्यामता में हरिणी के नेत्रों से भी बढ़ गए हैं। उधर वेणी बाँधने में दूसरी ही बात हुइ है। सखी या नाइन तो कसकर वेणी बाँधती—उसका लक्ष्य तो वेणी ठीक बँध जाय, इसी पर रहता; पर नायक महोदय प्रेमाधिक्य के कारण कसकर बाँधने से घबरा गए। उन्हें भय हुआ कि

कहीं नायिका को पीड़ा न पहुँचे। बस, इसी विचार से उनकी बाँधी वेणी ढीली रह गई। सखी इन सब बातों को समझ गई, इसलिये नायिका के भौंह चढ़ाने की परवा न करके उसने सब कुछ कह डाला।

मतिराम के इस छंद में सूक्ष्म दृष्टि और स्वाभाविकता का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। बुद्धि पर ज़रा-सा ज़ोर देने से मतिराम की अनोखी काव्य-कला का परिचय होता है। माधुर्य तो छंद में लबालब भरा हुआ है। "बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करिए, भटू भौंह तनेनी" में स्वाभाविकता कूट-कूटकर भरी गई है। मनुष्य-प्रकृति के पारखी होने का सच्चा प्रमाण दिया गया है। 'दासजी' ने अपने 'रस-सारांश, में मतिराम के इस भाव का अपहरण किया है, पर दोहे में मतिराम के हाथ की वह सफ़ाई कहाँ—

"प्रगट कहै ढीली कसनि, चुवत स्वेद-कन-जाल;
ऐनिनैनि ऐनी भई बेनी गुही गोपाल।"

छंद के काव्यांगों की आलोचना करने के लिये कम-से-कम इतना ही स्थान और चाहिए, इसलिये उस पर विचार न करेंगे।

(२)

संकेत-स्थल में प्रियतम के मिलने को जाकर, वहाँ उनके आगमन की प्रतीक्षा में चिंतित होनेवाली नायिका को उत्कंठिता कहते हैं। मतिराम के रसराज से एक ऐसी ही उत्कंठिता का चित्र नीचे दिया जाता है। इस छंद का अंतिम पद अनमोल है। नेत्रों की विविध अवस्थाओं का लक्ष्य करके उनकी क्रम से मीन, कंज, खंजन और चकोर से उपमा दी गई है। मछली से नेत्रों की समता उनकी चंचलता और दीर्घता दर्शित करती है। नेत्र किसी की खोज में हैं। वे उससे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं। फिर उनको आशा होती है। वे अपनी सहज सुघराई के साथ प्रफुल्लित हो उठते हैं। अब उनमें

अस्थिरता के स्थान में स्थिरता आ जाती है। वे विकसित अरविंद का रूप धारण करते हैं। पर जिस आशा ने उन्हें 'मीन', 'कंज' किया था, उसी के फली भूत न होने से उनमें निराशा-प्रेरित अस्थिरता का पुन: प्रादुर्भाव होता है, या विशेष आशान्वित होकर प्रिय-मिलन को अत्यंत समीप जानकर वे खंजन के समान थिरकने लगते हैं। काजल दुख या सुख के अश्रुओं में गलित होकर नेत्रों को ऐसा सित-स्याम कर देता है कि बस शरद् के खंजन भुलाए ही नहीं भूलते। निराशा का पुन: प्रस्थान हो, या आशा का प्रबलतम प्रादुर्भाव हो— अब की नेत्रों की स्थिरता देखते ही बनती है। 'शरद-शशिहि जनु चितव चकोरी' की उपमा पूरी उतरती है। आशा और निराशा वायु से विकंपित या आशावायु के प्रबल, प्रबलतर और प्रबलतम झोंकों से आक्रांत नेत्रों की परिवर्तनशील शोभा का चित्रण छंद में मार्के का हुआ है—

"जमुना के तीर बहै सीतल समीर जहाँ,
मधुकर मधुर करत मंद सोर है;
'कबि मतिराम' तहाँ छबि-सी छबीली बैठी,
अंगन ते फैलत सुगंध की झकोर है।
पीतम बिहारी के निहारिबे की बाट ऐसी,
चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर है;
एक ओर मीन मनो, एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन, चकोर एक ओर है।"

यमुना का जल मीन और कंज की सहज ही याद दिलाता है। सामने ही विकसित अरविंद और सुख से तैरती हुई मछलियाँ मौजूद हैं। केवल शीतल समीर बहता है। इससे जान पड़ता है कि घटना शरत्काल की है। शरद् में खंजन होते ही हैं। चकोर की शरच्चंद-प्रीति परम प्रसिद्ध है। अस्तु, मतिरामजी ने अपनी सूक्ष्म-दर्शिता के बल से

एक उत्तम समता का ही निर्वाह नहीं किया, वरन् घटना-काल के अनुकूल ऐसे उपमेय-उपमान जुटाए कि उनकी अनोखी मर्मज्ञता पर बलात् बधाई देनी पड़ती है। समग्र छंद में स्वभावोक्ति का मनोरम चमत्कार है। माधुर्य पाठक के मुँह को बाँधे देता है। पहला पद एक अनिर्वचनीय आनंद उत्पन्न करता है। 'चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर है' बड़ी ही मार्मिकता से भरा हुआ है। दीर्घ नेत्रों की दौड़ चारो ओर हुई है। तभी तो एक ओर मछली पड़ी तड़प रही है, दूसरी ओर कमल फूला है, तीसरी ओर खंजन थिरक रहा है, और चौथी ओर स्थिर चकोर निर्निमेष नेत्रों से सुधाकर का पीयूष पान कर रहा है। धन्य मतिराम ! धन्य तुम्हारा अपूर्व काव्य-कौशल !

(३)

अनुरागिनी वेश्या कहाँ ? उनकी प्रीति तो बहाना-मात्र है। इंद्रिय-सुख-भोग के लिये नायक उन पर भले ही जान दे दे, पर पवित्र प्रेम की परछाईं वहाँ कहाँ ? विषयाकृष्ट नायक जब तक धन द्वारा वेश्या का सम्मान कर सकता है, तभी तक वह उसकी है। उसका शृंगार, हाव-भाव, सभी कुछ धन वसूल करने के लिये है। नायक का सम्मान वह इसलिये नहीं करती कि हृदय-मंदिर में बैठकर पवित्र प्रेम-देव उससे ऐसा करने का आग्रह करते हैं, वरन् इसलिये करती है कि अपने रूप-जाल में फाँसकर उससे मनमाना धन ऐंठे। वेश्याओं की ऐसी ही प्रवृत्ति के कारण उनकी प्रीति में 'रसाभास' माना गया है। मतिरामजी ने एक गणिका आगतपतिका नायिका का वर्णन बड़े ही कौशल से किया है। नायक के आगमन से गणिका प्रसन्न अवश्य हुई है, पर यह प्रसन्नता नायक से धन वसूल होने की संभावना के कारण है, इस बात को कविवर ने बड़ी ही चतुरता से दिखलाया है। नायिका और नायक की बातें हुई हैं। नायिका ने बातचीत में सुबरन (अच्छे पद और स्वर्ण) का प्रयोग किया है। क्या ये अच्छे-अच्छे पद

अर्थात् मीठी बातचीत वास्तविक प्रेम के परिचायक हैं ? नहीं, सुबरन (स्वर्ण) नायक को इस बात की याद दिलाने को हैं कि स्वर्ण देने का वादा किया था, वह अब मिलना चाहिए। हँसी भी हुई है; पर यह हँसी भी प्रेम की कली खिलानेवाली रात की पुरवाई नहीं है, वरन् इस बात की याद-दिहानी है कि हास्य के समान उज्ज्वल हीरे कब मिलेंगे। आनंदाश्रु-प्रवाह भी हुआ है; पर ये आँसू उन मोतियों की याद में गिरे हैं, जिनका वसूल करना नायक से परमावश्यक है। सुबरन से सोने, हास्य से हीरे और अश्रु से मोतियों की माँग हो गई। चतुर नायक सब बात समझ गया। पहले दिन के मिलाप में भी धन की ही प्राप्ति का ख़याल रहा। प्रेम का प्रभाव कहाँ है ? फिर भी मूढ़ नायक गणिका का साथ नहीं छोड़ता ? ऐसे विषय-जन्य प्रेमाभास को धिक्कार तथा ऐसे नायकों की कुमति पर बार-बार फटकार है—

"नागर बिदेश मैं बिताय बहु द्यौस आयो,
नागरि के हिए मैं हुलासनि की खानि की;
कबि 'मतिराम' अंक भरिके मयंकमुखी,
नेहै सरसाय मति कीनी सुखदानि की।
सुबरन बोलिकै बतावति है सुबरन,
हीरन बतावति है छबि मुसकानि की;
आँखिन ते आनँद के आँसू उमँगाय प्यारी,
प्यारे को दिवावति सुरति मुकतान की।"

कविराजा मुरारिदान ने अपने जसवंत-जसोभूषण में इस छंद को पर्यायोक्ति अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

दोष या गुण

कविवर मतिराम के काव्य में अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनके विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों की राय से मतिराम वहाँ अपने

भाव-पूर्ण रीति से निबाहने में समर्थ नहीं हो सके—उनकी कविता सदोष हो गई है। पर कुछ विद्वानों का कहना है कि मतिराम ने वहाँ अपना पांडित्य दिखलाया है, उनसे भूल नहीं हुई; उन्होंने जान-बूझ-कर सहृदय और विद्वान् पाठकों के खोलने के लिये कुछ मनोरंजक और सरस ग्रंथियाँ लगा दी हैं। इन ग्रंथियों का मोचन होते ही पाठकों को कवि की मर्मज्ञता और रसज्ञता प्रकट हो जाती है। यहाँ हम तीन-चार ऐसी कविताएँ उद्धृत करते हैं। सहृदय पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि वे सदोष हैं अथवा गुणमयी—

(१)

"क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै;
नेकु निहारे कलंक लगै, यहि गाँव गँवार में कैसक जीजै।
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरारस लीजै।"

रसराज में यह छंद परकीया के भेदांतर ऊढ़ा के उदाहरण में दिया गया है। ऊढ़ा उसे कहते हैं, जो ब्याही और पुरुष को हो, और रसलीन हो दूसरे पुरुष से। जो समालोचक उपयुक्त छंद को सदोष बतलाते हैं, उनका आक्षेप यह है कि छंद की शब्दावली में ऊढ़त्व की सूचना देने में कवि असमर्थ रहा है। संभव है, छंद में जिस सुकुमारी की कात-रोक्ति है, उसका विवाह ही न हुआ हो। सामाजिक नियमों से जकड़ी हुई—गुरुजन की लज्जा से किंकर्तव्य-विमूढ़, यौवन में प्रवेश करनेवाली किसी कन्या का भी तो यह कथन हो सकता है! क्या प्रेम की चोट खाई हुई कोई अविवाहिता कन्या इस प्रकार की उक्ति नहीं कह सकती? फिर उसे ऊढ़ा क्यों माने? इसके उत्तर में दूसरे पक्ष का कथन यह है कि कवि ने छंद में ऊढ़त्व पूर्ण रीति से स्थापित कर दिया है; उसे समझने के लिये सूक्ष्मदर्शिता अपेक्षित है। छंद के तीसरे और चौथे पद पर बारीक निगाह डालने से कवि की मर्म-

ज्ञता पर मुग्ध होना पड़ता है। सुकुमारी का कथन है कि प्यारे की प्राप्ति के लिये वन में जाकर तप करने की आवश्यकता है। प्यारा इस रूप में इस नारी-शरीर द्वारा तो प्राप्त होने का नहीं, इसलिये उद्योग यह होना चाहिए कि जन्मांतर में वनमाला अथवा मुरली का शरीर प्राप्त हो, तब प्यारे के सन्निकट रहने की पूर्ण संभावना रहेगी। सुकुमारी का यह कथन विशेष विचारणीय है। यदि सुकुमारी ऊढ़ा नहीं है, तो पार्वती के समान इसी शरीर से प्यारे को प्राप्त करने के लिये तपस्या क्यों नहीं करती? पर वास्तव में वह ऊढ़ा है। वह समाज नियम जानती है। वह जानती है कि हिंदू-ललना का दूसरा विवाह नहीं होने का, इसलिये तप द्वारा यदि प्यारा मिलेगा, तो दूसरे जन्म में, इस जन्म में नहीं। बस, इतना कथन ऊढ़त्व प्रतिपादित करने के लिये पर्याप्त है।

(२)

"बिछुरत रोवत दुहुन के सखि यह रूप लखै न;
दुख-अँसुवा पिय-नैन हैं, सुख-अँसुवा तिय-नैन।"

यह मुदिता का उदाहरण है। पति-पत्नी का वियोग होता है। पति वियोग से दुखी हो आँसू बहा रहा है, पर नायिका के आँसू सुख के हैं। प्रियतम के विदेश चले जाने पर उसके लिये अपने अन्य प्रेमी के साथ रमण करने में रुकावट न रहेगी, इस विचार से उसके आनंदाश्रु बह रहे हैं। यही उपर्युक्त दोहे का भाव है। दोहे में 'सखि यह रूप लखै न', इसी पद पर विवाद है। कहा जाता है, एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि ऐसा दृश्य और कब देखने को मिला है? 'सखि यह रूप लखै न' का यही मतलब लगाया गया है। अब आक्षेप यह है कि सखी यह कैसे जान सकती है कि प्रिय के नेत्रों के आँसू दुःख के हैं, और तिय के सुख के? इस पर उत्तर यह दिया जाता है कि अंतरंगा सखी ऐसा जान सकती है। पहले कुछ सखियाँ आँसू

पोंछने के काम पर भी रहती थीं, इधर आँसू बहे नहीं, और उधर उन्होंने पोंछे नहीं। अतएव अश्रु-जल को छूने का उन्हें सदा अवसर रहता था। यह भी कहा जाता है कि ठंडे और गर्म दो प्रकार के आँसू बहते हैं। इनमें से एक प्रकार के आँसू सुख के तथा दूसरे प्रकार के दुःख के परिचायक हैं। सखी बराबर आँसू पोंछती रही है। इसलिये किसके आँसू गर्म हैं तथा किसके ठंडे, यह बात वह जान सकती है। अतः उसका कहना कि अमुक के आँसू सुख के और अमुक के दुख के हैं, अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक तो यह गंभीर भाव है। पर इसके अतिरिक्त 'सखि यह रूप लखै न' का अर्थ यह भी तो हो सकता है कि सखी इस रूप को लख नहीं पाती। वह नहीं जान पाती कि वास्तव में दुःख से कौन रो रहा है, तथा सुख से कौन ? यह अर्थ मानते समय दोहे को कवि की उक्ति मानना होगा।

हमने दोनो पक्षों का कथन पाठकों के सामने रख दिया।

(३)

"मोहिं पठाई कुंज मैं, सठ आयो नहिं आपु;
आली, औरौ मीत कौ मेरो मिट्यो मिलापु।"

यह गणिका विप्रलब्धा का उदाहरण है। आक्षेप यह है कि इसमें गणिकात्व किस बात से पाया जाता है ? कोई कुलटा भी तो एक यार के न मिलने पर दूसरे यार से मिलाप न हो सकने का खेद इसी प्रकार प्रकट कर सकती है। फिर इसे गणिका विप्रलब्धा क्यों मानें ? दूसरे पक्ष का कथन है कि यदि कुलटा होती, तो तुरंत आली (सखी) से अन्य पुरुष से मिलन कराने को कहती। पर उसने ऐसा नहीं किया। उसे अपने और मित्र न मिलने का ही दुःख अधिक हुआ है। यह दूसरा मित्र और कोई नहीं, केवल 'धन' है। बस, मित्र धन का अभिप्राय होने से गणिकात्व सूचित हो जाता है। दोनो पक्षों के मत सामने हैं। निर्णय स्वयं पाठक कर लें।

(४)

"साँझ ही सिंगार साजि प्रानप्यारे-पास जाति,
बनिता बनिक बनी बेलि-सी अनंग की;
कबि 'मतिराम' कल किंकिनी की धुनि बाजै,
मंद-मंद चलनि बिराजति गयंद की।
केसरि रँग्यो दुकूल, हाँसी मैं झरत फूल,
केसनि में छाई छबि फूलनि के बृंद की;
पीछे-पीछे आवति अँधेरी-सी भँवर-भीर,
आगे-आगे फैलति उज्यारी मुख चंद की।"

यह गणिका अभिसारिका का उदाहरण है। आक्षेप यह है कि यह कैसे माना जाय कि यह गणिका अभिसारिका है? गणिकात्व की सूचना तो धन के लालच से होती है। वह कहीं छंद में पाया नहीं जाता। दूसरी चिंत्य बात यह है कि संध्या (निशा-प्रारंभ) में भ्रमरों का वर्णन कैसा? समर्थनकारी पक्ष का कथन है कि साहित्य-दर्पण में वेश्याभिसारिका का जो लक्षण है, वह मतिराम के उपर्युक्त छंद पर पूरा उतरता है। नायिका विचित्र और उज्ज्वल वेष में, खुल्लमखुल्ला, बेधड़क कंकणों को झनकाती, आनंद से मुस्काती चली जा रही है, इसीलिये वह वेश्या अभिसारिका है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। छंद में धन के लालच की सूचना भी उनकी राय में है। उनका कहना है कि 'बनिता बनिक बनी बेलि-सी अनंग की' का यह अर्थ है कि वह काम-वणिक् की स्त्री बनी हुई है। वणिक् क्रय-विक्रय इसीलिये करता है कि अर्थ-लाभ हो। अनंग-वणिक् की वनिता में भी यह भाव आ गया। इससे धन के लालच का भाव भी आ गया। कहीं-कहीं बनिए की स्त्री को भी 'बनी' कहते हैं। उस अवस्था में यह अर्थ करना होगा कि अभिसारिका की बनक बनी के समान है। क्रय-विक्रय और धन-लोभ का भाव इससे भी सूचित हो गया। यों वेश्याभिसारिका

स्पष्ट है। रात्रि में भ्रमरों का वर्णन कबि लोग करते हैं। संस्कृत-कविता के प्रसिद्ध ग्रंथ कादंबरी में ऐसा वर्णन है। मतिराम के परवर्ती देव ने भी रात्रि में भ्रमरों का वर्णन किया है। मतिराम के छंद में तो घटना का अवसर संध्या ही है। अभी तो दिन का अवसान-मात्र हुआ है। सरोवरों के कमल मुद्रित हो गए होंगे। उनकी सुवास भी बंद होगी। ऐसे में किसी पद्मिनी की गंध पाकर भ्रमरों का आकृष्ट होना परम स्वाभाविक है। इस प्रकार का भ्रमर-वर्णन चिंत्य नहीं। सब बातें पाठक स्वयं विचार लें।

दोष

पाठकों ने इस समीक्षा में कविवर मतिराम की कविता में पाए जानेवाले गुणों का ठौर-ठौर पर उल्लेख पाया होगा; दोषों के देखने का उन्हें बहुत ही कम अवसर मिला होगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मतिराम की कविता में किसी प्रकार की दोषोद्भावनाएँ की ही नहीं जा सकतीं। बात यह है कि यद्यपि हिंदी-संसार में प्राचीन काल से 'रसराज' और 'ललितललाम' का बड़ा आदर है, फिर भी बहुत से विद्वानों की दृष्टि में मतिराम का पद उतना ऊँचा नहीं है, जितना उसे हम समझते हैं। कुछ विद्वान् तो मतिराम को दास, पद्माकर तथा तोष से भी घटकर मानते हैं, पर हमारी राय में मतिराम का स्थान इन सबके ऊपर है। जिन कारणों से हम मतिराम का इतना आदर करते हैं, उनको हिंदी-संसार के सामने रखना हमारा कर्तव्य है। इससे दो लाभ होंगे। यदि मति-भ्रम से हमारे हृदय में मतिराम को ऊँचा स्थान मिल गया होगा, तो विद्वान् समालोचक हमारी भूलें दिखलाकर हमारा भ्रम दूर कर देंगे, और हम भी उन्हीं के समान मतिराम को दास और पद्माकर आदि से हीन कवि मानने लगेंगे; पर यदि हमारे दर्शित गुणों में कुछ सार हुआ और विद्वानों ने उन

गुणों को माना, तो संभव है कि हिंदी-साहित्य-संसार में मतिराम का अब की अपेक्षा कुछ अधिक आदर होने लगे। बस, इसी विचार से अभी इस पुस्तक में मतिराम के गुणों की चर्चा ही अधिकतर की गई है। भविष्य में योग्य विद्वानों के हाथ में पड़कर मतिराम की कविता के दोष भी हिंदी-साहित्य-संसार में अवश्य प्रकट होंगे। अभी हमने मतिराम की कविता में दोष ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न बहुत कम किया है। संभव है, समय पाकर हमीं मतिराम की कविता में अनेकानेक दोष दिखला सकें। पाठकों को हम यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि हम मतिराम के दोष छिपाना नहीं चाहते। उनकी कविता में जो दोष हमें मालूम हैं, वे हम अवश्य प्रकट करेंगे। हमारी राय में किसी अच्छे कवि की कृति में कुछ दोष दिखलाई पड़ने से उस कवि के गौरव को तब तक कुछ क्षति नहीं पहुँचती है, जब तक दोषों का पलड़ा गुणों के पलड़े से भारी न ठहर जाय। अत्यधिक शब्दों की तोड़-मरोड़ को हम बुरा समझते हैं; परंतु साधारण शब्दों के रूप में परिवर्तन कर देना ब्रजभाषा के कवियों की स्वीकृत एक रीति-मात्र है। सूर, तुलसी, देव और बिहारी आदि बड़े-बड़े कवियों की कविता में हज़ारों तोड़े-मरोड़े शब्द मौजूद हैं। मतिराम की कविता में तो तोड़े-मरोड़े शब्द बहुत कम हैं। अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों से लाभान्वित होना भी ब्रजभाषा के कवियों ने दोष नहीं माना है। हम भावापहरण तीन प्रकार का मानते हैं, अर्थात् भाव-सुधार, भाव-रक्षा और भाव-दलन। भाव-सुधार से हमारा मतलब पूर्ववर्ती के भाव से अपने भाव को बढ़ा देना है। भाव-रक्षा से यह अभिप्राय है कि जो अच्छा भाव विस्मृत हुआ जाता था, उसे नए परिच्छद में, नई परिस्थति के अनुकूल फिर से प्रचलित करना। भाव-दलन से यह अर्थ है कि दूसरे के भाव म जो सौंदर्य था, उसे कुरूपता में परिवर्तित कर डालना। इसी को हम साहित्य में चोरी के नाम

से पुकारते हैं। इस साहित्यिक चोरी को हम बहुत बुरा समझते हैं। मतिरामजी की कविता में पूर्ववर्ती कवियों के भाव जहाँ लड़ गए हैं, उनका एक छोटा-सा संग्रह पाठकों को तुलनात्मक समालोचना वाले शीर्षक में मिलेगा। पाठकगण वहाँ सहज ही में यह निर्णय कर सकते हैं कि किस पद्य पर चोरी का इलज़ाम सफलता-पूर्वक लगाया जा सकता है। जो ऐसे पद्य उस शीर्षक में होंगे, उनका यहाँ फिर से लिखना बिलकुल व्यर्थ है।

अब हम पाठकों के सामने मतिराम के प्राप्त ग्रंथों में जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं, उनका अत्यंत स्थूल वर्णन करेंगे। यह हम ऊपर कह ही आए हैं कि मतिराम की कविता में दोष निकालने का प्रयत्न हमने बहुत कम किया है, इसलिये अधिक दोष दिखलाने में हम अभी असमर्थ हैं।

(१) मतिरामजी के दो ग्रंथ—'ललितललाम' और 'रसराज'—प्राप्त हैं। वे दोनो ही अपूर्ण हैं। रसराज नाम यह सूचित करता है कि इसमें श्रृंगार-रस का संपूर्ण वर्णन होगा, परंतु ग्रंथ में यह बात नहीं पाई जाती। श्रृंगार-रस का केवल नाम आ गया है, परंतु रस का स्वरूप नहीं वर्णन किया गया। संचारी भावों का वर्णन ग्रंथ में बिलकुल नहीं हुआ। रसराज-जैसे उत्तम ग्रंथ में यह कमी बेतरह खटकती है। ललितालाम में शब्दालंकारों का वर्णन छोड़ दिया गया है, यद्यपि मतिरामजी ने अपने अलंकार के लक्षण में उनकी पृथक् सत्ता स्वयं स्वीकार की है। इस कमी के कारण ललितललाम में अपूर्णता का दोष लग गया है। और भी कई अलंकारों और उनके भेदांतरों का वर्णन ललितललाम में नहीं पाया जाता।

(२) मतिरामजी के अधिकांश छंदों में कला का नैपुण्य तो बहुत अधिक पाया जाता है, पर तन्मयता की उचित मात्रा उनके थोड़े ही छंदों में पाई जाती है। यदि मतिरामजी सूर और तुलसी

की श्रेणी के कवि होते, तो उनके काव्य में तन्मयता की कमी उतनी न खटकती, क्योंकि कथा-प्रसंग के साथ थोड़े-बहुत तन्मयता-हीन वर्णन भी खप सकते हैं, परंतु मतिराम उस श्रेणी के कवि हैं, जिनके प्रत्येक छंद का दूसरे छंद से कोई संबंध नहीं। उनका काव्य तो मुक्तकों से परिपूरित कहना चाहिए। ऐसी दशा में प्रत्येक छंद का सर्वांग-सुंदर होना परमावश्यक है।

(३) 'रसराज' में परकीया और गणिका का वर्णन परम मनोहर हुआ है। यद्यपि मतिराम ने स्वकीया का वर्णन भी अच्छा किया है; पर सब बातों पर बिचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका गणिका और परकीया का वर्णन ही अधिक अच्छा है। कला-नैपुण्य की सर्वत्र प्रशंसा होनी चाहिए; परंतु कुरुचि-प्रवर्तक काव्य का कर्ता अपनी कृति के लिये समाज के प्रति उत्तरदायी अवश्य है। ऐसी कृति से कवि के चरित्र-संबंध में यदि प्रतिकूल अनुमान किया जाय, तो उसे निष्कारण नहीं मानना होगा। इनके बहुत-से शृंगार-वर्णनों में अश्लीलता की स्पष्ट झलक दिखलाई पड़ती है।

(४) इनके कोई-कोई छंद नितांत साधारण हैं। न तो उनमें तन्मयता का पता है, और न कला-नैपुण्य का समावेश। यदि किसी को मतिराम के केवल ऐसे ही दो-चार छंद याद हों, तो वह इनको अवश्य ही बहुत साधारण कवि समझेगा।

(५) हिंदी-कविता के आचार्यों ने अलंकारों के जो लक्षण दिए हैं, उनमें प्रायः भ्रामक लक्षण अधिक पाए जाते हैं। 'शिवराज-भूषण' में हमको ऐसे लक्षण बहुत-से मिले हैं। 'ललितललाम' के भी अनेक लक्षण ऐसे ही दोष से दूषित हैं।

(६) काव्य-शास्त्र में यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिक-न्यून-पदत्व आदि जिन दोषों का वर्णन पाया जाता है, उनके भी उदाहरण इनकी कविता में मिल सकते हैं, यद्यपि इनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

(७) मतिराम की कविता में कहीं-कहीं शब्दों का प्रयोग बेढंगा हुआ है। अन्य भाषा के कई शब्दों का भी यह ठीक व्यवहार नहीं कर सके, पर ऐसे उदाहरण बहुत ही थोड़े पाए जाते हैं।

(८) मतिराम की कविता में प्राकृतिक वर्णन बहुत ही कम पाए जाते हैं।

ऊपर जिन दूषणों का उल्लेख हुआ है, उनके कुछ फुटकर उदाहरण भी दिए जाते हैं—

(१)

"बारबिलासिनि कोटि हुलास बढ़ाइ कै अंग सिंगार बनायो;
प्रीतम-गेह गई चलिकै, 'मतिराम' तहाँ न मिल्यो मनभायो।
संग-सहेली सो रोष कियो, नहिं आपुन को यह दोष लगायो;
हाय ! कियो मैं मतो यह कौन, जो आपने भौन न बोलि पठायो?"

उपर्युक्त शब्द में कला का नैपुण्य और तन्मयता, दोनों का ही अभाव है।

(२)

"परम प्रबीन, धीर, धरम-धुरीन, दीन-
बंधु, सदा जाकी परमेसुर मैं मति है;
दुज्जन बिहाल करि, जाचक निहाल करि,
जगत मैं कीरति जगाई जोति अति है।
राव सत्रुसाल को सपूत पूत भावसिंह,
'मतिराम' कहै, जाहि साहबी फबति है;
जानपति, दानपति, हाड़ा-हिंदुवानपति,
दिल्लीपति, दलपति बलाबंध-पति है।"

उपर्युक्त छंद में कोरा कला-नैपुण्य है। सो भी बहुत ही साधारण ढंग का। तन्मयता की तो छंद में कोई बात ही नहीं। प्रथम पद में 'दीनबंधु' के दो टुकड़े होकर एक एक यति में तथा दूसरा दूसरी

यति में जाकर पड़ता है। यह यति-भंग का स्पष्ट उदाहरण है। तीसरे पद में 'सपूत पूत भावसिंह' में 'पूत' व्यर्थ समझ पड़ता है। 'जानपति' का अर्थ सुजानपति लगाया गया है। इस दृष्टि से 'जानपति' का प्रयोग असमर्थ है। भावसिंहजी को 'हिंदुवान-पति' तथा दिल्लीपति, दलपति कह करके फिर 'बलाबंधपति' कहने में कोई बड़ा गौरव नहीं है। द्वितीय पद में भावसिंह को जाचक निहाल करनेवाला कहा है, फिर चतुर्थ पद में उन्हीं को दानपति कहा है। चाहे यह पुनरुक्ति न हो, पर ऐसे प्रयोग अभिनंदनीय भी नहीं कहे जा सकते।

(३)

"मनौ भजी अरि-तियन को पकरन को दृढ़ दाप—
भावसिंह को दिसनि मैं फैलत प्रबल प्रताप।"

इस पर बाबू रामकृष्ण वर्मा की निम्न-लिखित टिप्पणी का हम भी समर्थन करते हैं—"हम लोगों की समझ में अबल स्त्रियों को पकड़ने के लिये महाराज के प्रबल प्रताप का फैलना ठीक नहीं जान पड़ता।"

(४)

"केलिकै राति अघाने नहीं, दिनहू में लला पुनि घात लगाई।"

इत्यादि।

उपर्युक्त पद्य में चाहे साहित्य-दर्पण की शास्त्रीय आलोचना के बल पर अश्लील दूषण न भी लगे, परंतु ऐसे वर्णन समीचीन नहीं कहे जा सकते।

(५)

"बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारिचर बिरची इलाज जय-काज की।"

उपर्युक्त पद्यांश में 'बिरची इलाज' का प्रयोग बेढंगा है, और ठीक भी नहीं।

काव्य-कौशल के नमूने

(१)

"बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारिचर बिरचीं इलाज जय-काज की;
कहै 'मतिराम', बलवंत जलजंतु जानि
दूरि भई हिम्मति दुरद-सिरताज की।
असरन-सरन के चरन - सरन तके,
तैसे दीनबंधु निज नाम की सुलाज की;
धाए रति मान अति आतुर गोपाल, मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की।"

पिंगल—घनाक्षरी या मनहरण-छंद। यति नियमानुसार १६ और १५ वर्ण पर।

अर्थ—एक बड़ा हाथी जल में विहार कर रहा था। यहीं एक बड़ा ग्राह रहता था। इसने हाथी के डुबोने का उद्योग किया। हाथी डूबने लगा। उसकी हिम्मत छूट गई। जब उसे और कोई उपाय न सूझा, तो उसने अशरण शरण भगवान् के चरणों का ध्यान किया। भगवान् ने भी अपने दीनबंधु नाम की रक्षा की। अभी हाथी की विपत्ति-पुकार उन तक पहुँची भी न थी कि वह उसकी रक्षा के लिये दौड़ पड़े। व्रजराज को गजराज की विपत्ति-गर्जन आधे मार्ग में ही सुन पड़ी। यही उपर्युक्त छंद का संक्षिप्त भावार्थ है। इस पद्य में हाथी के लिये बारन, दुरद और गजराज, इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। बारन शब्द से हाथी की शक्तिमत्ता और अभिमान का भाव टपकता है। जिस समय हाथी जल-केलि के लिये पानी में घुसा था, उस समय उसमें ये ही भाव प्रधान थे। परंतु जब ग्राह ने उसे पकड़कर खींचा, और उद्योग करने पर भी वह अपने को न छुड़ा सका, उस समय उसकी दशा दीन हो गई। वह किसी के आगे दाँत

निकालकर दया का प्रार्थी हुआ। इस समय उसका सारा अंग डूब गया था। ऊपर सूँड़ और दाँत ही दिखलाई पड़ रहे थे। ऐसी अवस्था में मतिरामजी ने हाथी के लिये दुरद-शब्द का प्रयोग करके अपनी पैनी निगाह का पूर्ण परिचय दिया है। हाथी का मद चूर्ण-चूर्ण हो गया। उसने सच्चा अनुताप किया। उसकी सच्ची भक्ति से भगवान् द्रवीभूत हो गए। इसलिये अब वह साधारण हाथी न रहा। क्या व्रजराज साधारण हाथी के लिये इस प्रकार दौड़ सकते थे? इसीलिये मतिराम ने अब 'गजराज'-शब्द का प्रयोग किया है। पाठक-गण स्वयं देखें कि बारन, द्विरद और गजराज का प्रयोग कितना विदग्धता-पूर्ण है। भगवान् के लिये भी इसी छंद में अशरण-शरण, दीन-बंधु, गोपाल और व्रजराज शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द भी अपने-अपने स्थान में उपयुक्त ही हैं। गजराज को जब अपनी रक्षा के लिये और किसी का सहारा न रहा, तो अंत में वह भी उन्हीं की शरण में गया, जो 'अशरण-शरण' हैं। कितना उपयुक्त प्रयोग है! भगवान् ने दीन हाथी की उसी प्रकार मदद की, जिस प्रकार विपत्ति के समय भाई काम आता है। इसलिये 'दीनबंधु' का प्रयोग भी मार्के का रहा। 'गो'-शब्द का अर्थ पृथ्वी और जल दोनो है। गोपाल समान भाव से जल और पृथ्वी के पालक हैं। इसलिये पृथ्वी और जल के दो जीवों के बीच का मामला निपटाने की संपूर्ण पात्रता उनमें ही है। इसीलिये हम गोपाल को गज-ग्राह का मामला निपटाने के लिये दौड़ते पाते हैं। परंतु पालक में शासक के गुणों का अभाव हो सकता है, इसलिये आगे भगवान् 'व्रजराज' के रूप में प्रस्तुत हैं। राजा होने से वह शासन करने में समर्थ हैं। जिस प्रेम के प्रभाव से वह इस प्रकार दौड़े हैं, उसका मनोरम प्रस्फुटन 'व्रज' में ही हुआ था। इस कारण 'व्रजराज' में राजा के क्रूर भावों का निराकरण होकर 'प्रेम-पूर्ण शासन' की सुव्यवस्था का पता चलता है। कोई यह

आक्षेप कर सकता था कि यह कैसे व्रजराज हैं, जो साधारण जीव के लिये इस प्रकार दौड़-धूप कर रहे हैं, सो इसका भी निवारण मतिराम ने चतुरता-पूर्वक कर दिया है। राजा के काम को राजा जाता ही है। फिर गजराज के काम को व्रजराज गए, तो क्या अनुचित हुआ? अशरण की शरण में जाकर भी क्या गज साधारण जीव ही बना रहा?

इस छंद में 'दूरि भई हिम्मति दुरद-सिरताज की', 'असरन-सरन के चरन-सरन तके', 'दीनबंधु निज नाम की सुलाज की' तथा 'मिली बीच व्रजराज को गरज गजराज की' वाक्य महावरेदार और मतिराम के भाषा-सौष्ठव के परिचायक हैं। 'व्रजराज को गजराज की गरज मिली', इस वाक्य में 'गरज' का सन्निवेश बड़ा ही सुंदर है। गरज को चाहे गर्जन-रूप में लीजिए, चाहे गरज के रूप में, दोनो ही प्रकार से प्रयोग बिलकुल ठीक बैठता है। मतिरामजी के छंद में जो भाव वर्णित है, उसको इनके कई पूर्ववर्ती कवियों ने भी कहा है, पर मतिराम ने उसे ख़ूब सरस कर दिया है। इनके परवर्ती कवियों ने भी इस भाव को अपनाया है, पर मतिराम की सफ़ाई तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सके हैं। कविवर रघुनाथ का एक छंद नीचे दिया जाता है—

"धसत तरंगिनी मैं तीर ही तरल आय
ग्रस्यो ग्राह पाय, खैंचि पानी बीच तरज्यो;
करनी कलभ करैं कलपना-कूल ठाढ़े,
कहा भयो कहा, करना कै संग लरज्यो।
कठिन समय बिचारि साहब सो गयो हारि—
हठि पग-ध्यान 'रघुनाथ' ज्यों ही सरज्यो;
असरन - सरन - विरद की परज देखो,
पहिले गरज भई, पीछे गज गरज्यो।"

इसके बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त छंदों में पुराण-प्रसिद्ध 'गज-ग्राह-उद्धार'-घटना का मनोरंजक वर्णन है।

अलंकार (१) 'बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को बारिचर बिरचा', इतने अंश में कई बार अनुप्रास का प्रयोग है! 'इलाज जय-काज' में भी यही दशा है। 'असरन-सरन चरन-सरन' तथा 'ब्रजराज गरज गजराज' मैं भी अनूठा अनुप्रास-चमत्कार है।

(२) दूसरे पद में द्विरद-सिरताज की हिम्मत इस हेतु से दूर हुई है कि जल-जंतु बड़ा ही बलवंत है। इसलिये यह हेतु-अलंकार हुआ।

(३) 'असरन-सरन के चरन-सरन तके' में विरोधाभास हैं तथा निरुक्ति भी।

(४) 'दीनबंधु नाम की लाज की' पद द्वारा नाम के योग से अर्थ-कल्पना की गई है। इसलिये निरुक्ति है।

(५) 'ललितललाम' में मतिरामजी ने इस छंद को चंचलातिशयोक्ति के उदाहरण में रक्खा है। कारण का प्रसंग वर्णन करते-करते यहाँ कार्य की उत्पत्ति हुई है। यही चंचलातिशयोक्ति का रूप है।

कुल छंद में मुख्य अलंकार चंचलातिशयोक्ति ही है। जिस प्रकार सत्कवि के काव्य में विना उद्योग के भी और बहुत-से अलंकार आ जाते हैं, वही बात मतिराम के इस छंद में भी हुई है।

गुण—प्रसाद-गुण मुख्य है। परंतु कहीं-कहीं, जैसे द्वितीय पद में ओज-गुण के सूचक भी कई पद हैं।

वृत्ति—उपर्युक्त पद्य में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है, इस कारण यह प्रौढ़ा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रस—इस छंद में पराया दुःख दूर करने का जो उत्साह है, वही

स्थायी भाव है। इसका आलंबन विभाव दुःखार्त गजराज है। गजराज की दीनता से भरी पुकार (गरज) उद्दीपन विभाव है। इस गरज को सुनकर दुःख दूर करने के लिये व्रजराज का दौड़ पड़ना अनुभाव है। गजराज की रक्षा के लिये धैर्य और मति आदि कई भावों का जो संचार हुआ है, वे संचारी भाव हैं। इस प्रकार आलंबन विभाव उद्दीपन विभाव से उद्दीपित हो और संचारीभावों से परिपुष्ट होकर स्थायी भाव को रसत्व-संज्ञा प्राप्त कराने के योग्य बनाता है। स्थायी भाव उत्साह है। इसलिये कविता में वीर-रस स्थापित हुआ। यह वीर-रस पराए दुःख को दूर करने के लिये है। इसकी प्रेरणा दया के द्वारा हुई है। इसलिये यह वीर-रस का 'दया-वीर'-नामक रूपांतर है।

काव्य—गजराज ने 'अशरण के शरण की चरण-शरण ली', इसका मतलब यह है कि उसने भगवान् का आश्रय लिया। इसी प्रकार यह कथन कि 'भगवान् को गजराज की गरज बीच मार्ग में मिली' यह अर्थ प्रकट करता है कि भगवान् ने गज की पुकार बहुत शीघ्र सुनी। ऐसे वर्णन अभिधा-मूलक नहीं कहे जा सकते, परंतु छंद के प्रथम दो पदों में अभिधाशक्ति का संपूर्ण परिचय है। कुल छंद में वाक्य के तट से जो अर्थ लिया गया है, वही प्रधान होने से यह लक्षणा-मूलक मध्यम काव्य है।

चिंत्य प्रयोग—हमारी राय में 'इलाज बिरची' प्रयोग चिंत्य है। 'इलाज'-शब्द अरबी-भाषा का है। हिंदी-शब्द-सागर में यह पुंलिंग माना गया है। यद्यपि इसका अर्थ तदबीर भी है, परंतु मुख्य अर्थ दवा है।

'दीनबंधु निज नाम की सुलाज की' प्रयोग में 'सु' अक्षर व्यर्थ है। प्रथम पद में वारिचर के जय-काज के इलाज के बिरचने की सूचना दी गई, वह छंद में प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं है। छंद में वर्णित

भाव की संपूर्णता के लिये यह आवश्यक था कि ग्राह के द्वारा गज-ग्रास की बात स्पष्ट-स्पष्ट वर्णित कर दी जाती।

सारांश—शब्द-योजना-संबंधी दो-एक खटकने योग्य बातें होते हुए भी उपर्युक्त छंद सत्काव्य का एक अच्छा उदाहरण है। इसमें 'दया-वीर'-रस का संपूर्ण निर्वाह हुआ है। चचलातिशयोक्ति-अलंकार का प्रकाश भी बड़ा ही सुंदर है। भगवान् और हाथी के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर छंद की प्रभा और चमत्कार-पूर्ण दिखलाई पड़ती है। इससे यह भी पता चलता है कि मतिरामजी शृंगारातिरिक्त अन्य रसों की कविता भी कुशलता-पूर्वक कर सकते थे। प्रयोजन यह कि छंद सब प्रकार से सराहनीय बन पड़ा है।

(२)

"प्रानपियारो मिलो सपने मैं, परी जब नेसुक नींद-निहोरे;
***नाह को आइबो, त्यों ही जगाय, सखी कह्यो बैन पियूषी-निचोरे।**
यों 'मतिराम' बढ़्यो हिय मैं सुख बाल के बालम सों दृग जोरे;
†जैसे मिही-पट मैं चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे।"

पिंगल—सात भगण और अंत में दो गुरु होने के कारण यह मालती-नामक सवैया-छंद है। मात्रा-गणना में कहीं-कहीं गुरु का लघु और लघु का गुरु पढ़ना पड़ा है, जो एक प्रकार का दोष है, परंतु इस दोष को बहुत-से कवियों ने नहीं माना है।

रस—आलंबन विभाव नायक एवं नायिका हैं। नायिका आगत-पतिका है, क्योंकि उसका पति परदेश से आया है। वह प्रौढ़ा भी है, क्योंकि बालम से दृग मिलाती है। बालम के वियोग से वह दुखित

---

* कंत को आइबो इत्यादि—पाठांतर

† ज्यों पट मैं अति ही चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे।

रहती थी, और अब प्राणप्यारे के आने से उसके हृदय में सुख बढ़ रहा है, इससे वह स्वकीया सिद्ध होती है। सखी का प्रियागमन का संदेश एवं स्वयं नायिका की आँखों का नायक की आँखों से मिलना उद्दीपन विभाव हैं। ज़रा-सी नींद पड़ने पर प्राणप्यारे के मिलन का ज्ञान स्वप्न-संचारी है। मिलन के बाद हृदय में सुख का बढ़ना मानसिक अनुभाव है। स्थायी भाव रति है।

प्रिय की आगम-कथा सुनते ही जो उसके प्रति प्रेम-भाव उठा है, वह मोट्टाइत हाव का रूप है। इस प्रकार आलंबन विभाव, उद्दीपन और संचारी से पुष्ट होकर एवं अनुभाव द्वारा अपनी सफलता दिखलाकर रति स्थायी को दृढ़ करता है, और पूर्ण संयोग-शृंगार का रूप पाता है। इसके सिवा स्वप्न, श्रवण और साक्षात् दर्शन तो छंद में स्पष्ट ही है।

गुण—सूखे ईंधन में आग लगाते ही जैसे अग्नि तत्काल काष्ठ में व्याप्त हो जाती है, वैसे ही उपर्युक्त छंद पढ़ते ही उसका भाव पाठक की समझ में आ जाता है, इस कारण छंद में प्रसाद गुण अपने पूर्ण रूप में विराजमान है।

वृत्ति और रीति—यद्यपि **पट** और **चटकीलो**—सदृश दो शब्दों में टवर्ग आ गया है; परंतु अन्यत्र मधुर पदावली है, इससे छंद में कैशिकी वृत्ति है। समस्त पदों का अभाव होने से इसमें वैदर्भी रीति का प्रयोग हुआ है।

पात्र—शुद्धस्वभावा स्वकीया आधार होने से एवं वाच्यार्थ मुख्य होने से छंद में वाचक पात्र ही प्रधान है।

काव्य मध्यम—निदान सब बातों पर विचार करके निष्कर्ष यह निकलता है कि उपर्युक्त कविता की गणना मध्यम श्रेणी में की जायगी, यदि व्यंजक पात्र होता, तो उत्तम श्रेणी में गणना की जाती।

पूर्ण रस-परिपाक दिखला चुकने के बाद अब हम उपर्युक्त छंद

में निर्वाह हो सकनेवाले अलंकारों का भी उल्लेख करते हैं, क्योंकि "अलंकारः एव काव्यं प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्" ।

१. **सम**—नायिका उपमेय पट उपमान की समान छवि के उल्लसित होने से इसमें उपमालंकार होता है।

२. **सार**—पहले नायिका ने नायक का स्वप्न में दर्शन किया, परंतु यह दर्शन सत्य न था, फिर भी इससे नायिका को आनंद हुआ । इसके बाद सखी ने नायिका को जगाकर नायक के आगम का सच्चा समाचार सुनाया, इससे हर्ष में उत्कर्ष हुआ । तदुपरांत नायिका का नायक के साथ साक्षात्कार भी हो गया, और हर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । हर्ष का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने से सार-अलंकार स्पष्ट हो जाता है ।

३. **प्रहर्षण**—"यहाँ निरंतरता से स्वप्न, श्रवण और प्रत्यक्ष दर्शन होने से नायिका को अकस्मात् परमानंद हुआ है, इसलिये प्रहर्षण-अलंकार है ।" जसवंत-जसोभूषण, पृष्ठ ४५४

४. **लोकोक्ति**—तीन बार डुबाने से रंग अच्छा चढ़ता है। यह लोकोक्ति का रूप है ।

५. **रूपक**—'बैन पियूष-निचोरे' में 'बैन पियूष' पद रूपक का द्योतक है ।

६. **हेतु**—बाल और बालम के दृग जुड़ने से हृदय में आनंद हुआ, सो यहाँ 'हेतु' और 'हेतुमान' दोनो उपस्थित रहने से हेतु-अलंकार हुआ ।

७. **असंगति**—दृगों के जुड़ने से दृगों को आनंद होना चाहिए था, परंतु आनंद हुआ हृदय को, अर्थात् कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र घटित हुआ, यह असंगति का रूप है।

८. **वृत्यनुप्रास**—प्रानपियारो, नेसुक नींद-निहोरे और चटकीलो चढ़ै में वृत्यनुप्रास है ।

९. **संसृष्टि**—उपमा और प्रहर्षण तथा वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है। ये तिल-तंडुलवत् अलग किए जा सकते हैं।

१०. **संकर**—सार और प्रहर्षण तथा रूपक एवं उपमा और लोकोक्ति, अथच हेतु और असंगति में संकर है। नीर-क्षीर के समान वे ऐसे मिले हुए हैं कि एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते।

मतिरामजी के उपर्युक्त छद की सुष्ठु योजना पर हम पाठकों का ध्यान विशेष रीति से आर्कषित करते हैं, क्योंकि जहाँ तक हमारे ध्य न में आया है, छंद में एक शब्द भी व्यर्थ का नहीं है—व्यर्थ का होना तो दूसरी बात है, ऐसा शब्द भी ढूँढ़ना कठिन है, जिसको हटाकर दूसरा शब्द रक्खा जा सके, और फिर चमत्कार में कमी न पड़ जाय। सत्कवियों की रचना में यही विशेषता होती है कि उनका प्रत्येक पद किसी चमत्कार-विशेष का समुत्पादक होता है। मतिराम-जी की प्राय: सभी रचनाओं में ऐसा ही चमत्कार है।

(३)

"केलिकै राति अघाने नहीं, दिनहूँ मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी, कोऊ पानी दै जाउ, यों भीतर बैठिकै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हिए 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी पै धरि आई।"

पिंगल—पिंगल-शास्त्र में गुरु को लघु पढ़ लेने का नियम है, तदनुसार उपर्युक्त सवैया में भी कई स्थानों पर इस नियम का पालन किया गया है। सात भगण और अंतिम दो गुरु होने से सवैया का नाम मालती है।

रस—नायिका (दुलही) आलंबन विभाव है। वह स्वकीया एवं विश्रब्ध नवोढ़ा है। उसका पति उसके वश हो रहा है, इससे नायिका का स्वाधीनपतिकात्व और नायक का अनुकूलत्व भी झलकता है। निर्जन स्थान एवं द्वार तक पानी देने के लिये नायिका का जाना

उद्दीपन विभाव की पूर्ति करते हैं। जेठी के आग्रह पर नायिका का जाना उसकी लज्जा दर्शाता है, जिससे लज्जा संचारी का भी प्रस्फुटन हो जाता है। नायिका को देखकर हँसना और उसको अपने पास बुलाना कायिक अनुभाव हैं। लज्जा-वश नायिका नायक की मनस्तुष्टि नहीं कर सकी है, इससे बिहृत हाव भी हो जाता है। नायक की रति-इच्छा ही स्थायी भाव है। इस प्रकार आलंबन उद्दीपन विभावों द्वारा उत्थित एवं परिपुष्ट तथा संचारी भाव की सहायता-प्राप्त अनुभाव द्वारा पूर्णता को पहुँचाता हुआ रति स्थायी संयोग-श्रृंगार का समुचित रस-परिपाक करता है।

गुण—कविवर मतिरामजी की कविता का पेटेंट गुण प्रसाद है। वही गुण इस छंद में भी मौजूद है।

वृत्ति-रीति—वृत्ति कैशिकी और रीति वैदर्भी है।

पात्र—शुद्धस्वभावा स्वकीया आधार और वाच्यार्थ मुख्य होने से वाचक पात्र है। कई जगह लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्य का इशारा अवश्य है, पर प्रधानता वाच्यार्थ की ही समझ पड़ती है।

काव्य—मध्यम काव्य है।

अश्लीलता-दोष—साहित्य-दर्पण की कारिका नं० ६०० के अनुसार—

"सुरतारम्भगोष्ठयादावश्लीलत्वं तथा पुनः (गुणो भवेत्)।"

उपर्युक्त छंद में इस दोष का आरोपण नहीं हो सकता। बृहस्पति-स्मृति में मैथुन के आठ अंग माने गए हैं, जिनमें से एक केलि भी है। केलि अश्लीलता का प्रतिपादक नहीं है। हिंदी-शब्द-सागर के पृष्ठ ६२८ पर केलि का प्रथम अर्थ खेल और क्रीड़ा दिया हुआ है। मतिराम ने 'केलि'-शब्द का व्यवहार संभवतः इसी अर्थ में किया है, क्योंकि आगे 'घात'-शब्द का प्रयोग हुआ है। घात और खेल का साथ-साथ प्रयोग सूरदास तक ने किया है। यथा—

"आप अपनी घात निरखत, खेल बन्यो जमाय।"

सो घात के साथ केलि का प्रयोग करते हुए मतिराम ने केलि का अर्थ खेल ही लिया है, ऐसा समझ पड़ता है। बृहस्पति-स्मृति का श्लोक यों है—

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्;
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।"

फिर यदि केलि का अर्थ दूषित ही मान लिया जाय, तो भी साहित्य-दर्पण की कारिका दोष के स्थान में ऐसे वर्णन को गुण ही प्रतिपदित करती है। उधर नायिका का दिन में प्रियतम के पास न जाना उसके धर्म-भीरु और दूरदर्शिनी एवं पूर्ण पतिव्रता होने की सूचना देता है। रति-शास्त्र के ये श्लोक इस बात के प्रमाण हैं—

"दिवाभागे महाभाग यो गच्छेत् रमणीं नरः;
स्वल्पायुः स भवेदाशु सत्यं सत्यं न संशयः।
दिवाभागे व्रजेत् कोऽपि रमणीं यदि कामतः;
तज्जाततनयो ब्रह्मन् महापापी भविष्यति।"

विश्रब्ध नवोढ़ात्व के साथ-साथ यदि इन भावों का उदय स्वकीया सुंदरी के चित्त में हुआ हो, तो क्या आश्चर्य है। फिर भी छंद में अश्लीलता-दोष चाहे न भी हो, पर ऐसे वर्णन अनुचित हैं।

अलंकार

१. **स्वभावोक्ति**—कुल छंद में स्वभावोक्ति का चमत्कार है। विश्रब्ध नवोढा नायिका की स्वाभाविक चेष्टा का मार्मिक वर्णन है।

२. **पर्यायोक्ति**—नायक नायिका को अपने पास बुलाना चाहता था, सो उसने 'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाय" आदि द्वारा पूर्ण करना चाहा। अर्थात् व्याज से इष्ट-साधन की चेष्टा की, अतः पर्यायोक्ति हुई।

३. **विषम**—नायिका के सम्मिलन-रूप इष्ट के उद्यम करने पर भी अनिष्ट की ही अवाप्ति हुई, अर्थात् नायिका नहीं मिली। इससे विषम हुआ।

४. **विशेषोक्ति**—पुष्कल कारण रहते भी—नायिका के घर की देहरी पर (जहाँ नायक अकेला नायिका की प्रतीक्षा कर रहा था) पहुँचते हुए भी इच्छा की पूर्ति न हो सकने से विशेषोक्ति-अलंकार हुआ।

५. **अनुप्रास**—हँसि हेरि हिए' में वृत्त्यनुप्रास स्पष्ट ही है।

६. **संसृष्टि**—स्वभावोक्ति, पर्यायोक्ति एवं अनुप्रास की संसृष्टि तिल-तंडुल-न्याय से की जा सकती है।

७. **संकर**—विशेषोक्ति और विषम एक-दूसरे से भिन्न नहीं किए जा सकते। उनमें नीर-क्षीर का सम्मिलन है, इससे संकर हुआ।

(४)

"जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीत;
गुरुजन जानति लाज है, प्रीतम जानति प्रीति।"

१. नायिका अपनी सपत्नी को अनीति, सखी को सुनीति, गुरु-जन (बड़े-बूढ़ों) को लज्जा और प्राण-प्यारे को प्रीति समझती है।

२. नायिका-विशेष को सपत्नी अनीति, सखी सुनीति, गुरुजन लज्जा और प्राण-प्यारा प्रीति मानता है।

३. नायिका अनीति (दोष-विशेष) को ही अपनी सपत्नी समझती है। (उसी प्रकार) सुनीति (गुण-विशेष) को अपनी सहेली, लज्जा को अपना गुरुजन और प्रीति (प्रणय) को अपना प्रियतम जानती है।

४. (संसार में जो) अनीति है, वह (इस नायिका-विशेष में अपने से अभिन्न दोषों को न पाकर—इससे अप्रसन्न होकर) इस नायिका को अपनी सपत्नी समझती है। (वैसे ही) सुनीति (अपने

समान गुण नायिका में भी पाकर) उसको अपनी सखी जानती है। लज्जा (उसको पहले से ही लजीली पाकर) उसको अपने से बड़ा मानती है। तथा प्रीति (उसके स्नेहमय होने के कारण) उसको अपनी सबसे प्यारी वस्तु गिनती है।

नायिका सपत्नी (और उसके साथ के भाव अर्थात्) अनीति को समझती है। सखी और सुनीति, गुरुजन और लज्जा तथा प्रियतम और प्रीति आदि के साथ जो अभिन्नता का भाव है, उसको वह सम्यक् जानती है।

उपर्युक्त छंद-विशेष 'दोहा' के नाम से भाषा-काव्य में प्रसिद्ध है। यह वर्णन स्वकीया नायिका का है। नायक और नायिका के आलंबन से इसमें शृंगार-रस है। सखी की सुनीति से रस की उद्दीप्ति होती है। गुरुजन की लाज से लज्जा संचारी का काम पूरा पड़ता है। प्रियतम की प्रीति से अनुभाव की ओर अंगुलिनिर्देश है। नायिका नागर है, यह बात स्पष्ट ही है। प्रसाद-गुण, मधुरा वृत्ति एवं वैदर्भी रीति से दोहा विलसित होता है। शुद्ध-स्वभावा स्वकीया, जिसकी सखी सुनीति जाननेवाली है, वाचक पात्र की आधार है। उपर्युक्त छंद में व्यंग्यार्थ मुख्य नहीं है। लक्ष्यार्थ और विशेष करके वाच्यार्थ से ही काम चलता है, सो यह मध्यम काव्य है। अलंकारों की उपर्युक्त दोहे में अच्छी बहार है—

(१) दूसरे अर्थ को लक्ष्य में रखकर देखने से विदित है कि उसी नायिका को सौति, सखी, गुरुजन और प्रियतम आदि अनेक जन अनेक प्रकार से जानते हैं, इस कारण यह उल्लेख-अलंकार का प्रथम भेद हुआ।

(२) प्रथम अर्थ पर लक्ष्य रखते हुए नायिका का सौति को अनीति जानना, सौति और अनीति के अनुरूप वर्णन हुआ। उसी प्रकार सखी सुनीति, गुरुजन लाज और प्रियतम प्रीति का भी अनुरूप वर्णन हुआ। यह 'सम'-अलंकार का रूप है।

(३) नायिका सौति को अनीति (के समान) (दुःखद) जानती है, यह उपमा का रूप है, जिसमें बाचक और धर्म का लोप है, सो यह वाचकधर्म लुप्ता हुई। सखी सुनीति, गुरुजन लाज, प्रीतम प्रीति में भी यही अलंकार हुआ।

(४) दोहे में कवि का प्रधान अभिप्राय यह है कि नायिका सौति को नहीं चाहती है, सखी को चाहती है, गुरुजन से लजाती है, तथा प्रियतम से प्रीति करती है। इस विवक्षित अर्थ को कवि ने दूसरे ही प्रकार से अर्थात् सौति को अनीति जानती है आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया है। सो यह पर्यायोक्ति-अलंकार हुआ।

(५) नायिका ने सौति को अनीति जाना, फिर सखी को सुनीति जाना, फिर गुरुजन को लाज जाना, अंत में प्रियतम को प्रीति जाना। अनीति से सुनति, सुनीति से उचित लज्जा और तदुपरि सर्वश्रेष्ठ प्रीति का परिस्फुटन हुआ। यह उत्कर्ष क्रम-क्रम से हुआ, इस कारण सारालंकार हुआ।

(६) तीसरे अर्थ को लक्ष्य में रखने से यह भाव निकलता है कि नायिका सपत्नीत्व का भाब और किसी में आरोपित न करके केवल अनीति में करती है। यही बात शेष तीन चरणों में भी स्थापित की जा सकती है। यह परिसंख्या-अलंकार का रूप है।

(७) जानति-जानति का चार बार प्रयोग हुआ है। यह वीप्सालंकार हुआ।

(८) सखी सुनीति, जन जानति और प्रीतम प्रीति में वृत्त्यनुप्रास है।

(९) शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की संसृष्टि है, तिल-तंडुल-न्याय से वे अलग किए जा सकते हैं।

(१०) कई अलंकार नीर-क्षीरवत् मिल गए हैं। इस कारण 'संकर' भी है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोहे में शुद्ध स्वकीया आधारवाचक पात्र है, तथा पूर्ण शृंगार-रस है। वैदर्भी रीति, मधुरा वृत्ति एवं प्रसाद-गुण है। कई अलंकारों में उल्लेख सम, परिसंख्या और वृत्त्यनुप्रास प्रधान हैं, फिर भी वाच्यार्थप्रधान होने से यह मध्यम काव्य है। मतिरामजी के व्यंग्यप्रधान उत्तम काव्य का उदाहरण अन्यत्र देखिए। इस दोहे की उत्तमता के क़ायल बड़े-बड़े कवि हैं। अनेक कवियों ने इसी की स्पर्द्धा में ऐसे ही दोहे बनाने का प्रयत्न किया, पर सफलमनोरथ न हो सके। कई एक ने ख़ूब लंबे छंद में इस भाव को भरना चाहा, पर उसमें भी वह आनंद न आया। तुलना के लिये हम यहाँ दासजी का एक छंद उद्धृत करते हैं। कहना न होगा कि भावापहरण में दासजी को सदा अन्य कवियों से विशेष सफलता प्राप्त होती है। सो दोहे के भाव पर बनाया हुआ दासजी का यह छंद भी उत्कृष्ट बना है। छंद इस प्रकार है—

"पीतम प्रीतिमई अनुमानै, परोसिनी जानै सुनीतिहि सोहई;
लाज-सनी है बड़ी निमनी, बर नारिन मैं सिरताज गनी गई।
राधिका को ब्रज की जुवती कहैं, याही सोहाग-समूह दई दई;
सौती हलाहल सोती कहैं, औ' सखी कहैं सुंदरि सील-सुधामई।"

मतिरामजी ने अपने दोहे में भाव का विकास जैसे क्रम-क्रम से किया था, वह बात दासजी के छंद में बिलकुल नहीं है। परोसिनें और व्रज-नारियाँ राधिकाजी का हाल सखियों और सौतों के पहले जान लेती हैं। यह स्वाभाविक नहीं है। मतिरामजी के दोहे का क्रम-विकास बिलकुल ठीक है। सपत्नी और नायिका का पद बराबर होने से पहले उन्हीं दोनो को एक-दूसरे के जानने का विचार होगा। फिर सदा साथ में रहनेवाली सखी का नंबर आएगा, इसके बाद कभी-कभी सामना होने के कारण घर के गुरुजन का अनुभव होगा, और अंत में एकांत में साक्षात्कार होने के कारण प्रीतम की पारी

आएगी। यह शंका की जा सकती है कि प्रीतम की जानकारी सबसे पहले होनी चाहिए। परंतु दोहे में मतिराम को नायिका के प्रति आदराधिक्य का क्रम से उत्कर्ष दिखलाना था, इसी कारण उन्होंने प्रीतम को सबसे अंत में रक्खा, जिसका आदर नायिका के प्रति सपत्नी, सखी और गुरुजन सबसे अधिक था। दासजी ने प्रियतम को पहले तो रख दिया, परंतु आगे निर्वाह न कर सके—परोसिनों ने उसे सुनीति जाना। वह वर नारियों में सिरताज गिनी गई, पर किसके द्वारा, यह स्पष्ट नहीं। व्रज की युवतियों ने उसे सराहा। फिर सौतें उसको हलाहल समझने लगीं, और सखियाँ शील-सुधामयी। इसमें कोई क्रम नहीं है। पतत्प्रकर्ष भले ही हो। इतने लंबे छंद का प्रयोग करके भी दासजी न भाव को उत्कृष्ट कर सके, न सजावट में ही कोई नूतनता आई। 'निमनी' का प्रयोग अवश्य हुआ, पर प्रश्न यह है कि इसने सौंदर्य बढ़ाया या बिगाड़ा ? हम तो यही कहेंगे कि मतिराम और दास की रचनाओं में महदंतर है।

(५)

"दूसरे की बात सुनि परत न, ऐसी जहाँ
कोकिल-कपोतन की धुनि सरसाति है,
***छाई रहै जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि,**
'मतिराम' अलि-कुल मैं अँध्यारी अधिकाति है,
†नखत-से फूलि रहैं फूल के पुंज, घन
कुंजन मैं होति जहाँ दिन ही मैं राति है,

पाठांतर—

*छाई रहै द्रुम बहु बेलिन सों 'मतिराम',
अलि-कुल-कलित अंध्यारी अधिकाति है;
†"नखत-से फूले हैं सुफूलनि के पुंज, बन-
कुंजनि में होति मनो दिन हूँ मैं राति है।"

***ता बन की बाट, कोऊ संग न सहेली साथ,**
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ?"
(मतिराम)

अर्थ—जिस वन में कोकिल-कपोतों का इतना अधिक कलरव रहता है कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती, जहाँ के वृक्षों पर बेलें और उन पर भ्रमरावली के संयोग से अँधियारी में अधिकता ही बनी रहती है, जहाँ ऐसे-ऐसे कुंज हैं, जिनमें दिन में भी रात-सी रहती है, और तारे-से फूल फूले रहते हैं, उस वन के मार्ग का अनुसरण करती हुई विना किसी सखी के साथ बिलकुल एकाकिनी गोपिका, तू कहाँ दही बेचने जा रही है ?

उपर्युक्त वचन नायक का नायिका से है, परंतु इसका जो सीधा-सादा अर्थ ऊपर दिया हुआ है, वह पर्याप्त नहीं । यह 'वचन-चतुर' नायक की उक्ति है । गोपिका से जिस वन में एकांत साक्षात् करना निश्चित हुआ है, उस वन का पूरा पता नायक ने नायिका को चतुराई से बतला दिया है । असल में गोपिका किसी वन के मार्ग का अनुसरण नहीं कर रही थी, पर नायक ने ऐसे ढंग से कहा, मानो वह वहाँ जा ही रही हो । इस प्रकार के कथन का अभिप्राय यह था कि यदि और कोई इस वचन-विलास को सुन ले, तो वह यही समझे कि गोपिका जिस निरापद् जंगल में होकर जा रही थी, उससे शुभचिंतक नायक उसे विरत कर रहा है, पर चतुरा नायिका समझ जाती है कि नायक मुझे अमुक निर्जन वन में मिलने को बुला रहा है ।

'नखत-से' के स्थान में कई प्रतियों में 'तखत-से' पाठ भी है, पर हमें वह अशुद्ध समझ पड़ता है ।

*'संग न सहेली साथ' के स्थान पर 'संग न सहेली कहि' पाठ भी है ।

जहाँ प्रणयियुग्म चुपचाप छिपकर शंका-समेत मिलते हैं, उस स्थान को 'सहेट' कहते हैं। उपर्युक्त छंद में वचन-चतुर नायक ने नायिका को सहेट का पूरा पता दिया है !

पिंगल—वर्णिक दंडकांतर्गत कुछ मुक्तक छंद हैं। इनमें गणों का विचार न होकर अक्षरों की संख्या का ही प्रमाण रहता है। ऐसे ही छंदों में 'घनाक्षरी' छंद की भी गणना है। इसका दूसरा नाम 'मनहर' या 'मनहरण' भी है, तथा यही 'कवित्त' के नाम से अत्यंत लोक-प्रसिद्ध हो रहा है। इसमें ३१ अक्षर होते हैं, और १६ तथा १५ अक्षरों के बाद क्रम से विश्राम होता है। इसी विश्राम को 'यति' कहते हैं। मतिरामजी का ऊपर दिया हुआ छंद ऐसी ही घनाक्षरी है।

रस—नायिका को देखकर नायक के चित्त में मनोविकार उत्पन्न हुआ है, इस कारण 'नायिका' आलंबन विभाव है। नायिका के अंग-प्रत्यंग का दर्शन एवं उससे बात कर सकने का अवसर तथा स्थान उद्दीपन विभाव हैं। स्थायी भाव रति है। सहेट में मिलने को नायक का चतुरता-पूर्ण कथन कायिक अनुभाव है। इस प्रकार विभाव, भाव और अनुभाव के समुचित समावेश से छंद में संयोग-शृंगार-रस का चमत्कार है। नायक रूप, यौवन, विद्यादि गुण-संपन्न है। उसकी वचन-चातुरी का तो छंद फोटो ही है। इस प्रकार नायक वचन-चतुर है। वह उपपति है, क्योंकि अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री को सहेट में बुलाकर उससे रमण करने की अभिलाषा रखता है। नायिका परकीया है, क्योंकि सहेट में उपपति से मिलने की इच्छा रखती है। वह प्रौढ़ा है, क्योंकि प्रियतम से अकेले निर्जन स्थान में मिलने जाने में उसे हिचकिचाहट नहीं है। अभिसार करके वह उपपति को मिलेगी, इसलिये अभिसारिका भी है। यद्यपि स्वयं उसने कुछ नहीं कहा है, फिर भी वचन-चतुर नायक उसे इस योग्य समझता है कि वह उसके बिदग्धता-पूर्ण वचन समझ ले। इससे इस

बात की बहुत कुछ संभावना है कि नायिका वचन-विदग्धा और क्रिया-विदग्धा भी हो।

ध्वनि—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ से ही छंद का यथार्थ अर्थ बैठता है। "तू ऐसे निर्जन प्रदेश में दधि बेचने क्यों जाती है?" इस वाक्य के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ में कोई चमत्कार नहीं है, पर व्यंग्यार्थ मनोहर है। कहने का अभिप्राय यह है कि "तू ऐसे ही निर्जन प्रदेश में दधि बेचने के बहाने से मुझे मिलना", सो व्यंग्यार्थ इष्ट होने से इसमें ध्वनि हुई। इस ध्वनि को साहित्यवेत्ता और प्रवीण पुरुष ही समझ सकते हैं, इस कारण यह गूढ़ ध्वनि है। फिर भी इसमें वाच्यार्थ का संपूर्ण परित्याग नहीं हुआ, वरन् व्यंग्यार्थ द्वारा एक घटना-विशेष का बोध कराया गया है, सो यह विवक्षित वाच्यांतर्गत वस्तु-ध्वनि का रूप है। उपपति और परकीया के अपराधभूत इस व्यंग्यमय वर्णन में व्यंजक पात्र है।

अलंकार—(१) कोकिल और कपोतों के कलरव रूप हेतु और दूसरे की बात सुन पड़ना रूप हेतुमान के साथ-ही-साथ रहने से छंद के प्रथम पद में 'हेतु'-अलंकार है।

(२) भ्रमरावली और अंधकार की संगति से और भी अंधकार बढ़ गया है। संगति-गुण का ऐसा प्रभाव अनुगुण-अलंकार की सत्ता का बोध कराता है।

(३) भ्रमरों की श्यामता एवं अंधकार की श्यामता का सम संयोग हुआ है, सो 'सम'-अलंकार की किंचित् झलक दिखलाई पड़ती है।

(४) 'नखत-से फूले हैं सुफूलन के पुंज घन' में नखत उपमान, फूल उपमेय, 'से' वाचक और फूले हैं समान धर्म की उपस्थिति के कारण पूर्णोपमा अलंकार स्पष्ट है।

(५) "कुंजनि में होति जहाँ दिन हूँ मैं राति है", इस वाक्य का

अभिप्राय यह है कि रात बीत जाने पर दिन में भी रात्रि का रात्रित्व-गुण (अंधकार) मौजूद रहता है। दिन के प्रकाश-गुण का आलिंगन नहीं होता। अन्य के गुण का दूसरे पर प्रभाव न पड़ना 'अतद्गुण'-अलंकार का रूप है। कुंजों में रात्रि, दिन होने पर भी, दिन के गुण को नहीं ग्रहण करती। वहाँ रात्रि ही रहती है। इस प्रकार अतद्गुण-अलंकार सिद्ध हुआ।

(६) 'कोकिल[1]-कपोत मिलि[2] मतिराम अधियारी[3] अधिकाति, बन की[4] बाट और संग न[5] सहेली साथ' आदि में शब्दालंकारों में अनुमान का स्मरणीय चमत्कार है।

उपरि-दर्शित कई अलंकारों के अतिरिक्त छंद में और भी कई अलंकारों की स्थापना की जा सकती है। विशेष करके अंतिम पद में तो कई अलंकारों का सामंजस्य है, फिर भी ध्वनि के चमत्कार के विचार से अलंकार-प्रमुखता एक प्रकार से नष्ट हो गई है, नहीं तो संपूर्ण छंद में पर्यायोक्ति का प्रभाव बुरा न था। ध्वनि से अनुप्राणित रहने के कारण ही संकर और संसृष्टि का भी विवेचन यहाँ व्यर्थ समझ पड़ता है। मतिरामजी ने अपने छंद में व्यंग्यार्थ को ही प्रधानता दी है। अलंकार-सन्निवेश के लिये उनका प्रयास नहीं हुआ है। सो छंद-भर में ध्वनि का ही प्राधान्य माननीय है।

दोष—छंद में जहाँ-जहाँ का तीन बार प्रयोग हुआ है, जो अच्छा नहीं मालूम होता। दूसरे पद में 'मतिराम' शब्द का 'मति' एक यति में और 'राम' दूसरी यति में पड़ता है, यह यति-भंग-दूषण कहलाता है। फूलों का वर्णन करने के पहले ही कवि ने भ्रमरों का आधिक्य दिखलाया है, जो उचित नहीं समझ पड़ता। फूलों की उपमा नक्षत्रों से दी गई है; परंतु सब फूल सफ़ेद, पीले और लाल नहीं होते। नीले और काले फूलों का नक्षत्रों से साम्य ठीक न ठहरेगा। नक्षत्र पद असमर्थ है।

गुण—रस का उत्कर्ष कई कारणों से होता है। कविता में कई गुण ऐसे हैं, जो रसोत्कर्ष के प्रधान सहायक हैं। विचारों की सुकुमारता एवं वर्णन-शैली की मृदुलता तथा पदावली की मधुरता के यथोचित सन्निवेश से कोई-कोई रचना ऐसी लोकोत्तर, आनंददायिनी और रमणीय बन जाती है कि उमे पढ़ते ही चित्त द्रवीभूत हो जाता है। इस प्रकार की रचना में विद्वानों ने माधुर्यगुण का होना माना है। मतिरामजी के उपर्युक्त छंद में भी यह माधुर्यगुण मौजूद है।

वृत्ति—माधुर्यगुण का व्यंजन करनेवाली जिस रचना में अनुस्वारों की प्रचुरता, ट ठ ड ढ का अभाव, द्वित्व लकार, य र ल व और ह्रस्व रेफादि विशेष रूप से पाए जाते हैं, उसको मधुरा या कैशिकी वृत्ति कहते हैं (रसवाटिका)। मतिरामजी के छंद में केवल 'बाट'-शब्द में एक बार टवर्ग आया है, जो क्षम्य है।

रीति—माधुर्यगुण-युक्त जिस पद-रचना में समास-समेत पद बहुत ही कम हों, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं। मतिरामजी के उपर्युक्त छंद में समास-युक्त पदों के न होने से वैदर्भी रीति स्पष्ट है।

काव्य—काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद हैं। उत्तम काव्य वह है, जिसमें व्यंग्यार्थ मुख्य हो। व्यंजक पात्र की आधार शुद्ध परकीया, उपपति आदि माने गए हैं। मतिरामजी के इस छंद में भी व्यंजक पात्र के आधार ऐसे ही हैं। यह ऊपर प्रतिपादित हो हो चुका है कि छंद में ध्वनि का सब प्रकार से प्राधान्य है, ऐसी दशा में यह रचना उत्तम काव्य का नमूना है।

तुलना—मतिरामजी के उपर्युक्त छंद के भाव को उनके परवर्ती कई कवियों ने अपनाया है। उदाहरण के लिये उदयनाथ (कविंद) और भिखारीदास (दासजी) के छंद उद्धृत किए जाते हैं। कहना न होगा कि मतिरामजी के रचना-चमत्कार को दोनो ही कवि नहीं

पहुँचते । पदों का जो सुष्ठ न्यास और अर्थ-गांभीर्य मतिराम में है, वह इन रचनाओं में कहाँ ?

"नदी नीर बारे जहाँ, नारे-खारे भारे जहाँ,
राति कै अँध्यारे जहाँ, कासौ होत गौन है;
फिरै तू अकेली अलबेली, तहाँ नेह-बस,
केली-हेतु हेली, जहाँ भूतन को भौन है।
भनत 'कबिंद' कोऊ सँग न सहेली भेली,
गुनन गहेली नाहीं, संक धरि मौन है;
नीठी हू न हेतु जहाँ दीठि को निबेरौ एरी,
नेरो तहाँ सुंदरि, सहाय तेरो कौन है ?"

(कबिंद)

"भौन अँध्यारोहू चाहि, अँध्यारो चमेली के कुंज के पुंज बने हैं,
बोलत मोर, करैं पिक सोर, जहाँ-तहाँ गुंजत भौंर घने हैं;
'दास' रच्यो अपने ही बिलास को मैन ज्यों हाथन सों अपने हैं,
कूल कलिंदजा के सुख-मूल लतान के बृंद बितान तने हैं।"

(दास)

मतिरामजी की ध्वनि का चमत्कार दोनो ही छंदों में बिगड़ गया है। फिर भी दास का छंद कबिंद के छंद से अच्छा है। हिंदी-कविता-प्रणाली के अनुसार मतिरामजी के छंद की समालोचना करने के बाद यदि अँगरेजी-समालोचना-पद्धति का अनुसरण करते हुए उक्त छंद के विषय में कुछ लिखा जाय, तो पूर्ण आशा है कि वह प्रेमी पाठकों को अरुचिकर न होगा। अस्तु। आइए, देखिए १९वीं शताब्दी के इँगलैंड के विश्व-विख्यात समालोचक श्रीयुत जेम्स हेनरी ले हंट (James Henry Leigh Hunt) अपने 'कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर' (An Answer to the Question—What Is Poetry ?) शीर्षक गवेषणा-पूर्ण निबंध में सत्यकाव्य के लिये किन-किन बातों को परम आवश्यक मानते हैं। उनका कथन है—

*"प्रत्येक कवि पद्य-रचयिता है, और प्रत्येक अच्छा कवि उत्कृष्ट पद्य-रचयिता है। सर्वोत्तम कवि वही है, जिसके पद्यों में सामर्थ्य (पद्य-सामंजस्य और अर्थ-व्यक्त-गुण), माधुर्य, अव्यर्थ-पदत्व (भरती के पदों का अभाव), रोचकता (अरुचि उत्पन्न करनेवाले चर्वित-चर्वण का अभाव), सहज पद्य-प्रवाह एवं पद्य और भाव की सामंजस्य-पूर्ण एकता हो।"

उपर्युक्त कथित काव्य-गुणों पर दृष्टि रखते हुए मतिरामजी के छंद की परीक्षा करनी होगी, तभी उस पद्य की बारीकियाँ समझ में आवेंगी। पहले सामर्थ्य को लीजिए। मतिराम की घनाक्षरी के दूसरे पद में यति-भंग अवश्य है; पर शेष पद्य न तो कहीं से विकलांग है, और न अपेक्षित अक्षरों की कहीं पर अधिकता होने पाई है। पढ़ने में कहीं पर जिह्वा को कष्ट नहीं होता। अर्थ के लिए व्यंग्य का आश्रय अवश्य लिया गया है, पर पद्य का अर्थ-व्यक्त-गुण नष्ट नहीं हुआ है। सो पद्य में 'सामर्थ्य'-गुण का सन्निवेश पूर्ण रूप से है। व्रजभाषा की माधुरी यों ही प्रसिद्ध है, फिर सूर, देव और मतिराम की रचनाओं का पीयूष-पान करके किसको संतोष न होगा ? सुकुमार विचार, पद्य-संगठन-सरलता एवं शब्द-संगीत, सभी से अनुलिप्त माधुर्य गुण के दर्शन पद्य में सहज-सुलभ हो रहे हैं। सहज पद्य-प्रवाह के विषय में हमें यही कहना है कि मतिराम-जैसे सुकवियों के काव्य में इस गुण का अभाव ढूँढ़ निकालना बड़ा ही कठिन काम है। फुटकर पद्यों में रोचकता नष्ट होने का भय कम रहता है। सहेट स्थान के

---

* Every poet then, is a versifier; every fine poet an excellent one; and he is the best whose verse exhibits the greatest amount of strengthsweetness, unsuperfluousness, variety, straight, forwardness, and oneness. Leigh Hunt's: What Is poetry?

निर्जनत्व का नग्न वर्णन वास्तव में अरोचक हो जाता; पर सुकवि मतिराम ने वहाँ कोकिल-कपोतों का कलरव, प्रकृति-प्रसन्नता-दर्शक भ्रमरावली से परिपूर्ण कुसुमित ललित लताओं से परिवेष्टित वृक्ष और सघन कुंजों का उल्लेख करके रोचकता-गुण का प्रस्फुटन मार्मिकता के साथ किया है। अव्यर्थपदत्व एवं पद्य और भाव की सामंजस्य-पूर्ण एकता के संबंध में कुछ विस्तार-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि इन गुणों में मतिरामजी हिंदी के बड़े प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों से भी आगे बढ़े हुए हैं। मतिरामजी का वर्णन-चातुर्य देखिए, प्रणयियुग्म के लिये छिपकर एकांत सम्मिलन का वही स्थान श्रेष्ठ है, जो निर्जन हो, जहाँ यदि एकाएक कोई आ जाय, तो प्रेमियों के छिपने का अवसर हो, तथा संभाषण सुन लेने का भय भी न हो। यदि ऐसा स्थान प्रकृति-सौंदर्य से युक्त हो, तो संयोगियों के लिये उद्दीपन-सामग्री का भी प्रबंध ठीक समझना चाहिए। मतिरामजी ने अपनी घनाक्षरी में ऐसे ही सहेट का चित्र खींचा है। पद-पद पर विचार कीजिए।

१. "दूसरे की बात सुनि परत न, ऐसी जहाँ
कोकिल-कपोतन की धुनि सरसाति है।"

कोकिल और कपोत-पक्षियों का कलरव इतना अधिक है कि दूसरे की बात नहीं सुनाई पड़ सकती। इस कथन के कई अभिप्राय हैं—

(अ) वह स्थान बिलकुल जन-शून्य है। इस कारण निर्भय होकर पक्षिगण खूब कलरव करते हैं।

(आ) यदि किसी कारण से कोई आदमी भूला-भटका उधर से निकल भी जाय, तो प्रेमी और प्रणयिनी के प्रेम-संभाषण को कलरव-आधिक्य के कारण सुन न सकेगा।

(इ) कोकिल और कपोत-कूजन उद्दीपन की सामग्री हैं। चित्त में एक विशेष रस का संचार करती हैं। कपोत-कूजन संयोग-दशा का स्मरण दिलाता है। अन्य पक्षियों के कूजन में इस भाव का

साहचर्य न होने से केवल कोकिल-कपोत-कूजन का उल्लेख हुआ है। यह कूजन प्रखर होने पर भी प्रणयियुग्म के आनंदवर्द्धन का हेतु है। उनको बुरा नहीं लगता। 'सरसाति' क्रिया इसी भाव को अभिव्यक्त करती है।

इस पद में एक शब्द भी व्यर्थ का नहीं है। यही क्यों, प्रयुक्त शब्दों का संगठन इतना सुंदर और सुदृढ़ है कि यदि इस पद का एक भी शब्द उठाकर उसके स्थान में दूसरा शब्द रक्खा जाय, तो पद की रमणीयता को अवश्य धक्का पहुँचेगा। अव्यर्थपदत्व-गुण की यही खूबी है।

२. **"छाई रहै जहाँ द्रुम-बेलिन सों मिलि,**
'मतिराम' अलि-कुल मैं अँध्यारी अधिकाति है।"

किसी बीहड़ स्थान पर, जहाँ दो-एक फुटकर वृक्ष उगे हों, वहाँ भी कोकिल-कपोत-ध्वनि की संभावना है। पर्वतों की दरारों, टूटे-फूटे खँडहरों एवं और भी ऐसे ही सुनसान अरमणीय स्थानों में कबूतरों का निवास प्रायः देखा जाता है। मतिरामजी का सहेट ऐसा नहीं है। पहला पद पढ़कर कदाचित् कोई ऊपर लिखे 'भयंकर' सहेट का अनुमान करें, सो इस दूसरे पद द्वारा कवि ने अस्पष्ट कर दिया कि सहेट स्थान में प्रकृति-सुंदरता का अभाव नहीं है। लता-वेष्टित वृक्षों का उल्लेख संयोग और उद्दीपन का बोध कराता है। अलि-कुल के आधिक्य से अँधियारी का बढ़ना प्रणयियुग्म के लिये हितकारी है, एवं (पराग-मकरंद के आकर्षण से) भ्रमरों का सहेट में पाया जाना पुष्प-प्रचुरता का पहले से ही अनुमान दृढ़ कराता है। उद्दीपन के लिये यह भाव भी खूब उपकारी है। इस पद में भी कोई शब्द व्यर्थ में नहीं आया है। सब अपने-अपने स्थान पर स्थित भाव को जगमगा रहे हैं। 'मतिराम' शब्द कवि का नाम होने से यदि अन्य प्रकार से भाव की सहायता न भी करता हो, तो भी क्षम्य है।

३. "नखत-से फूलि रहैं फूलन के पुंज घन,
कुंजन मैं होति जहाँ दिन ही मैं राति है।"

जिन फूलों का उल्लेख कवि ने द्वितीय पद में स्पष्ट रूप से नहीं किया था, वे ही इस पद में नक्षत्रों के समान छिटक रहे हैं। पर नक्षत्र तो रात्रि में ही दिखते हैं। रात्रि की सुरम्यता, निस्तब्धता एवं आनंददायिनी शीतलता का भाव संयोगी नायक-नायिकाओं के लिये कैसा है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। दिन में इस चमत्कार का अभाव समझते हुए ही कुशल कवि ने सहेट-स्थान की कुंजों में रात्रि का अंधकार दिखला दिया है, और इस अंधकार के ईषत् भय-प्रदायी भाव को प्रसून-पुंज के तारे छिटकाकर बिलकुल कम कर दिया है। सहेट-स्थान की अँधेरी कुंजों में किसी के आ जाने पर भी अपने को छिपा लेने का प्रणयियुग्म को जैसा अवसर है, वैसे ही लज्जा-भाव से प्रेरित अखिल काम-कला-केलि का उपयुक्त स्थान भी। उद्दीपन का इससे उत्कृष्ट और कौन-सा साधन है? इस पद में व्यवहृत कोई भी शब्द व्यर्थ का नहीं है।

४. "ता बन की बाट, कोऊ सँग न सहेली, साथ,
कैसे तू अकेली दधि-बेचन को जाति है?"

उत्कृष्ट सहेट का पूरा पता देकर वचन-चतुर नायक का यह इशारा बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण है कि किसी सखी को अपने साथ न लाना। दधि बेचने के बहाने से जाना कई भावों का द्योतन कराता है। माता-पिता, गुरुजन इत्यादि किसी को भी गोपिका को दधि बेचने के लिये जाने देने में आपत्ति न होगी। संशय का भी कोई अवसर नहीं है। फिर दधि का यात्रा के समय साथ रहना शुभ है। इससे कार्य-सिद्धि के विषय में उत्साह रहता है। यदि आवश्यकता हो, तो दधि भोजन के लिये भी बड़ी ही उपयुक्त वस्तु सिद्ध होगी। इस पद में भी कोई शब्द व्यर्थ नहीं है।

भाव की सामंजस्य-पूर्ण एकता का निर्वाह छंद-भर में जिस कौशल से संगठित हुआ है, वह भी मनोरम है। 'सहेट में मिलन' प्रधान भाव है। सहेट के अपेक्षित सभी उत्तम गुणों का उल्लेख होना उपयुक्त ही है। किस प्रकार मिलें, इसका उत्तर भी कवि ने साफ़ दे दिया है कि अकेले मिलो। किस बहाने से मिलें, इसका भी उत्तर वैसा ही स्पष्ट है कि दहो बेचने के बहाने से मिलो। छंद के चारो पदों में क्रम-क्रम से इस भाव ने विकास पाया है, और अंतिम पद में तो वह सुंदरता की चरम सीमा पर पहुँच गया है।

सदृश भाव

कविवर मतिराम ने संस्कृत-कवियों के भी अनेकानेक भावों को अपनी कविता में सन्निवेशित किया है, पर इस मार्ग में भी उनकी नीति निराली है। दासजी के समान कोरा अनुवाद उन्होंने कभी नहीं पसंद किया है। उक्ति का रूप या तो उन्होंने और भी परिमार्जित और मनोरम कर दिया है, या भाव को नाम-मात्र अपने छंद में लेकर उसको बिलकुल मौलिकता का ही रूप दे डाला है। नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. "तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ;
करीव सिक्तंपृषतः पयोमुचां शुचि व्यपाये वनराजिपल्वलम्।"
(कालिदास)

"ग्रीष्म के अंत में बादलों की बूँदों से छिड़के गए वन के अल्प जलाशय को बार-बार सूँघने पर भी जिस तरह हाथी की तृप्ति नहीं होती, उसी तरह मिट्टी की सुगंधिवाले सुदक्षिणा के मुँह को एकांत में अनेक बार सूँघने पर भी राजा दिलीप की तृप्ति न हुई।"

(अनुवादक—पं० महावीरप्रसादजी)

"पिय आयो, नव बाल-तन बाढ़्यो हरस-बिलास;
प्रथम बारि-बूँदन उठै, ज्यों बसुमती सुबास।"
(मतिराम)

आगतपतिका नायिका के हर्ष की तुलना प्रथम वारि-वर्षण से समुद्भूत वसुमती-सुवास से कितनी हृदयहारिणी है! अगर छोटे मुँह बड़ी बात न मानी जाय, तो मतिराम कालिदास के पीछे नहीं हैं।

२. "गतप्राया रात्रिः, कृशतनुशशी शीर्यत इव,
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव;
प्रणामान्तः कोपस्तदपि न जहासि क्रुधमहो,
स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।"

मानवती के मान-संबंधी विस्तृत वर्णन को थोड़े ही में निपटाकर हृदय और उरोजों के साथ-साथ रहने से बराबर ही कठोर होने वाले भाव को मतिरामजी अपने छोटे-से दोहे में किस सफ़ाई से निभाते हैं—

"करत लाल मनुहारि पै, तू न लखत यहि ओर;
ऐसो उर जु कठोर, तौ उचितहि उरजु कठोर।"

जब उर ऐसा कठोर है, तो उरज (कुच, उर से पैदा होनेवाले) का कठोर होना ठीक ही है।

३. "अधरोऽयमधीराक्ष्या बन्धुजीवप्रभाहरः;
अन्यजीवप्रभां हन्त ! हरतीति किमद्भुतम्।"

"इन चंचल नेत्रवाली के अधर बंधुजीव (गुलदुपहरिया के फूल) की प्रभा को हरनेवाले हैं, अर्थात् उनसे भी अधिक लाल और सुंदर हैं। जब वे बंधुजीव (अपने भाई के जीवन) की प्रभा को हर लेते हैं, तो दूसरों के जीवन की प्रभा हर लेंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? बंधुजीव इस शब्द में श्लेष है। इसके माने गुलदुपहरिया का फूल तथा भाई का जीवन, दोनो हैं।"

(अनुवादक—पं० जनार्दन भट्ट एम्० ए०)

मतिरामजी ने इस भाव को इसी प्रकार से अपने दोहे में यों अभिव्यक्त किया है—

"सुधा-मधुर तेरो अधर, सुंदर सुमन सुगंध;
पीव जीव को बंधु है, बंधुजीव को बंध।"

४. **"दृष्टिर्वन्दनमालिका, स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटौ,**
शुभ्राणां प्रकटः स्मितः सुमनसां वक्त्रप्रभादर्पणः;
रोमाञ्चोद्गम एवं सर्षपकणः, पाणी पुनः पल्लवौ,
स्वाङ्गैरेव गृहप्रियस्य विगतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम्।"

भावार्थ—"जब प्रियतम घर में प्रवेश करने लगा, तो उसकी प्रियतमा ने अपने अंगों ही से यथोचित मंगलाचार पूरा किया। उसके एकटक देखने ने बंदनवार का, दोनो स्तनों ने लावण्य-रूपी जल से भरे हुए दो घड़ों का, मुस्किराहट ने सफ़ेद फूल की वर्षा का, मुख की कांति ने दर्पण का, रोमांच ने सरसों के कणों का, हाथों ने पल्लवों का काम दिया।"

(अनुवादक—पं० जनार्दन भट्ट एम्० ए०)

मतिराम के दोहे में भी नायिका 'स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटौ' के रूप में दर्शाती है। पर आगमन के समय नहीं, वरन् नायक के विदेश-यात्रा करने को उद्यत होते समय और आश्चर्य-घटना यही होती है कि ऐसे शुभ शकुन को देखते हुए भी नायक अपनी यात्रा रोक देता है। मतिराम का कौशल ऐसा ही है, यथा—

"पिय राख्यो परदेस तैं अति अद्भुत दरसाय—
कनक कलश पानिप-भरे सगुन उरोज दिखाय।"

५. **प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णशायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः;**
मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धः समुपागतः प्रिये।"

(कालिदास)

अर्थ—"हे प्यारी, वसंत-रूपी वीर आ गया। बौरे आम के अंकुर

इसके बाण हैं, भौंरों की पंक्ति ही इसके धनुष का रोदा है, और यह कामुक जनों के मन को बेधने के लिये तैयार है।"

(अनुवादक—शिवप्रसाद पांडेय)

मतिरामजी इसी भाव को यों ललित करते हैं—

"आयो बसंत, रसाल प्रफुल्लित, कोकिल-बोलनि स्रौन सुहाई,
भौंरन को 'मतिराम' किए गुन, काम प्रसून-कमान चढ़ाई।
रावरो रूप लगो मन मैं, तन मैं तिय के झलकी तरुनाई,
धीर धरो, अकुलात कहा ? अब तो बलि, बात सबै बनि आई।"

कालिदास के भाव को अपनाकर भी मतिराम ने उसमें एक प्रकार की नूतनता उत्पन्न कर दी है। मतिरामजी मौलिक कवि थे— उन्होंने अगर किसी के भाव भी लिए हैं, तो उन्हें अपना लिया है।

मतिराम और गोवर्द्धनाचार्य

कविवर गोवर्द्धनाचार्य-विरचित आर्यासप्तशती में ३५५ नंबर की आर्या में किसी तरुणी के कटाक्ष का वर्णन है। ठीक इसी वर्णन से मिलता जुलता भाव मतिराम की एक घनाक्षरी में पाया जाता है। यह छंद 'रसराज' में स्मृति के और 'ललितललाम' में पूर्णोपमा के उदाहरण में दिया हुआ है। गोवर्द्धनाचार्यजी ने अपनी आर्या में बहुत थोड़े शब्दों में जो भाव घेर लिया है, वह बड़ा ही मनोरम है। एक-एक शब्द से आपने वह काम लिया है, जो अन्य कवि लंबे-लंबे वाक्यों से लेता। इतनी संक्षिप्त शब्द-योजना होते हुए भी आपने भाव को सर्वांगसुंदर रीति से अभिव्यक्त कर दिया है। इसी भाव को हम मतिराम की घनाक्षरी में भी भली भाँति सुसज्जित पाते हैं। जो बात स्थल-संकोच के कारण आर्याकार ने एक शब्द द्वारा प्रकट की थी, घना-क्षरीकार ने वही बात स्थान की कमी न होने से अनेक शब्दों द्वारा दर्शाई है। पाठकगण दोनो रचनाएँ साथ-साथ देखें—

परमोहनाय मुक्तो निष्करुणे तरुणि तव कटाक्षोऽयम्;
विशिख इव कलितकर्णः प्रविशति हृदयं न निःसरति ।
(आर्यासप्तशती ३५५)

"आलस-बलित, कोरैं काजर-कलित
'मतिराम' वै ललित अति पानिप धरत हैं;
सरस सरस सोहैं, सलज, सहास,
सगरब, सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं ।
बरुनी सघन, बंक, तीछन कटाछ बड़े,
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं;
गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत, मैन-
बान-से बिसारे, न बिसारे बिसरत हैं ।"
(मतिराम)

आर्या के 'कलितकर्ण' की घनाक्षरी में विशद व्याख्या हुई है । 'परमोहनाय' का भाव 'बिसारे, न बिसारे बिसरत हैं' इन पदों द्वारा भली भाँति परिस्फुटित हो गया है । 'प्रविशति हृदयं न निःसरति' का तो 'गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत' पद-समूह एक प्रकार का अनुवाद ही है । गोवर्द्धनाचार्य के 'विशिख' को मतिराम ने 'मैन-बान' कर डाला है । आर्या के 'निष्करुण' को हम घनाक्षरी के 'उर पीर ही करत हैं' में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित पाते हैं । पूर्ववर्ती कवि का प्रधान लक्ष्य कटाक्ष-वर्णन है; पर परवर्ती कवि रसाल लोचन का आलोचन करता है । 'मैन-बान' और 'रसाल लोचन' का सुंदर साम्य मतिराम ने अपने प्रथम तीन पदों में ख़ूब सुंदर दिखलाया है ।

सूर और मतिराम

हिंदी-साहित्य-संसार के सूर्य महात्मा सूरदास और मतिराम की कविता की तुलना ही क्या ? पर उभय कवियों के भाव-सादृश्य से

इतना पता अवश्य चल जाता है कि मतिराम का अध्ययन कितना गहरा था। एक बात और है, सूर-जैसे महाकवि के भाव को मतिराम ने जिस कौशल से अपनाया है, उसे देखकर मन मुग्ध हो जाता है और मतिराम की मार्मिकता पर उन्हें बधाई देने को जी चाहता है। देखिए—

(१) **"रुँधे रति-संग्राम-खेत नीके।**
एक-ते-एक रण-वीर, जोधा प्रबल, मुरत नहिं नेक, अति सबलजी के;
भौंह को दंड, सर नैन, जोधानि की काम छूटनि कटाच्छनि निहारे।"

× × ×

(सूर)

महात्मा सूरदास के रति-संग्राम के लड़ाके कौन हैं? वही श्रीकृष्ण और राधिकाजी; पर मतिराम ने दंपति के नेत्रों को ही सूर बना दिया है, और सब बातें वे ही हैं।

"भौंह कमान, कटाक्ष सर, समर-भूमि बिचलै न;
लाज तजेहूँ दुहुँन के सलज सूर-से नैन।"

(मतिराम)

मतिराम की समर-भूमि अथवा स्मर (समर)-भूमि बड़ी ही समीचीन है। हमारी राय में वह 'रति-संग्राम-खेत' से विशेष भावमयी है। जब नेत्र लड़ गए हैं, तब उन्हें एक दूसरे का सामना करना ही होगा। ऐसी दशा में आँखों की झेंप कैसे रह सकती है? सो वे अवश्य ही लाज तजे हैं, पर उन्हें सलज भी मानना ही पड़ता है; क्योंकि शूरवीरों को अपनी बात की बड़ी लाज होती है। दंपति के नेत्र भी बाण-प्रहार की परवा न करके 'समर-भूमि' से विचलित नहीं हो रहे हैं। बराबर वहीं डटे हैं। अपनी शूरता की लज्जा रख रहे हैं, तब उन्हें सलज कैसे न कहें? सो वे यथार्थ में ही 'लाज तजेहूँ दुहुँन के सलज सूर-से नैन' हैं।

(२) हरिल पक्षी के लिये यह लोक-प्रसिद्धि है कि वह जिस लकड़ी या तिनके को अपने पंजों में दाब लेता है, उसे फिर छोड़ता नहीं। जैसे हरिल का इस लकड़ी के प्रति भाव होता है, वैसा ही भाव किसी बात या प्राणी के प्रति नायक-नायिका में भी पाया जा सकता है। इसी विचार से किसी के प्रति अत्यंत अनुराग या घोर हठ को सूचित करने के लिये 'हरिल की लकरी' से उपमा दी जाती है। यह उपमा बहुप्रचलित नहीं है, फिर भी कई कवियों ने इसका व्यवहार किया है। महात्मा सूरदास और कविवर मतिराम ने इस उपमा का व्यवहार किया है। सूर की गोपियों के 'हरि हारिल की लकरी' हो रहे हैं, तो मतिराम की नायिका का हठ 'हारिल की लकरी' हो रहा है—

"हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन-क्रम-बचन नंदनंदन-उर यह दृढ़ करि पकरी;
जागत-सोवत-स्वप्न, दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।"

× × ×

(सूर)

"आयो है सयानपन, गयो है अजान मन,
तौहू उठि मान करिबे की टेक पकरी;
घर-घर मानिनी हैं, मानती मनाए ते वै,
तेरी-ऐसी रीति और काहू में न जकरी।
'कबि मतिराम' काम-रूप घनस्याम लाल,
तेरी नैन-कोर ओर चाहें एकटक री;
हा-हा कै निहोरेहू न हेरति हरिन-नैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी।"

(मतिराम)

(३) मतिराम और सूर, दोनो ही कवियों ने मोती को घुँघची

बना डाला है। मोती की सफ़ेदी का कहीं पता नहीं रह गया। उसका कुछ अंश श्याम हो रहा है, और कुछ लाल। पर जिन कारणों से सूर ने मोती को गुंजाफल बनाया, उन्हीं कारणों से मतिराम का मोती घुँघची नहीं बना है। नेत्रों की श्यामता और अधरों की लाली का प्रतिबिंब पड़ने से पूर्ववर्ती कवि का मोती चिरमिटी-रूप पाता है, तो केश-पाश की श्यामता और एँड़ियों की ललाई से परवर्ती कवि का मुक्ता 'गुंजरुचि' धारण करता है। दोनो भाव साथ-साथ देखिए—

"गुंजा की-सी छबि लई मुक्ता अति बड़भाग;
नैननि की लई स्यामता, अधरन को अनुराग।"

(सूरदास)

"तरुनि-अरुन एँड़िन की किरिन-समूह-उदोत—
बेनी-मंडन-मुकुत के पुंज गुंज-रुचि होत।"

(मतिराम)

मतिराम ने जिस नायिका का वर्णन किया, उसकी वेणी से मुक्ता गुथे हुए हैं। वह छूटकर एँड़ियों तक पहुँच रही है। एड़ियाँ ख़ूब अरुण हैं। इनकी ललाई का प्रतिबिंब उन मोतियों पर पड़ रहा है। श्याम केश-पाश की झलक भी उन पर पड़ती है। बस, ऐसा जान पड़ता है कि सारे-के-सारे मोती घुँघची हो रहे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास और मतिराम

कवि-कुल-मुकुट गोस्वामी तुलसीदासजी और महाकवि मतिराम बिलकुल भिन्न कोटि के कवि हैं। इन दोनो कवियों की कविता की तुलना नहीं की जा सकती। दोनो के ही वर्णित विषय भिन्न-भिन्न हैं। कथन-शैली में भी पृथक्ता है। सादृश्य का सामान बहुत कम है। यह सब होते हुए भी हम जो दो-एक उदाहरण दोनो कवियों के भाव-सादृश्य दिखलाने को यहाँ देते हैं, उससे हमारा अभिप्राय

यह है कि सुकवि मतिराम ने कविवर तुलसीदास के काव्य को भी पढ़ा था। अपने 'रसराज' और 'ललित ललाम' के अनुरूप जो चीज़ उन्हें गोस्वामीजी के ग्रंथों से मिली, उसे उन्होंने निस्संकोच अपनाया। उदाहरण लीजिए—

(१) जनक-नंदिनी के केश-पाश में सुंदर-सुंदर उज्ज्वल मोती गुथे हुए हैं। इन मोतियों पर जब बालों की श्यामता का प्रतिबिंब पड़ता है, तो ऐसा जान पड़ता है कि वे मरकत-मणि के मनोहर दाने हैं। मोतियों की सफ़ेदी का लोप हो जाता है, उनमें केश-कलाप की श्यामता झलकने लगती है। वे अपने रंग को छोड़कर दूसरे के रंग को ग्रहण करते हैं; पर सीताजी एक बार इन्हीं मोतियों को फिर अपने हाथों पर रखती हैं। क्षण-मात्र में इन पर पड़नेवाला चिकुर-श्यामता का प्रतिबिंब नष्ट हो जाता है। हाथ के साथ-साथ एक बार मोतीगण अपना वही उज्ज्वल रंग फिर धारण करते हैं। उन्हें अपना पूर्व रूप प्राप्त हो जाता है। गोस्वामीजी इस भाव को अपने मनोमोहक बरवै में इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"केस-मुकुत सखि, मरकत-मनिमय होत;
हाँथ लेत पुनि मुकता करत उदोत।"

(तुलसी)

मतिरामजी ने ठीक इसी भाव को कुछ उलट-पुलटकर अन्यत्र बिठाला है। श्रीकृष्णचंद्र के हृदय-स्थल पर उन्हीं उज्ज्वल मोतियों की माला झूल रही है। सहज श्यामल गात की आभा से यह माला मरकत-मणि की माला समझ पड़ती है; पर पास ही श्रीवृषभानु-नंदिनी भी विराज रही हैं। वह कभी-कभी मंद-मंद स्मित कर दिया करती हैं। इस मुसक्यान की उज्ज्वल प्रभा चारो ओर उदित हो पड़ती है। वह मरकत-मणिवत् भासित होनेवाले मोतियों की माला पर भी पड़ती है। उस समय एक बार मोतियों को अपनी पूर्व

उज्ज्वलता फिर प्राप्त हो जाती है। लोगों को श्रीकृष्ण के हृदय में एक बार शुभ्र मोतियों की माला ही झूलती हुई फिर दिखलाई पड़ती है। पूर्वरूप-अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण कवि के नेत्रों के सामने नृत्य करने लगता है। मतिराम की मति उसे तत्काल यों प्रकट कर देती है—

"मुकुत-हार हरि के हिए मरकत-मनिमय होत;
पुनि पावत रुचि राधिका-मुख-मुसकानि-उदोत।"
(मतिराम)

(२) एक छोटा-सा और उदाहरण लीजिए।

जनक-नंदिनी को उज्ज्वल बेले का हार पहनाया जाता है, पर वह चंपक-वर्ण का समझ पड़ने लगता है। शरीर की कांति का प्रतिबिंब फूलों पर पड़ता है, और बेले के स्थान में वे चंपे के फूलों का रंग धारण करते हैं। तद्गुण-अलंकार का कैसा अच्छा उदाहरण है !

"सिय, तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत;
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत।"
(तुलसी)

मतिरामजी ने गोस्वामी से वर्ण-परिवर्तन-ताले का खोलनेवाली कुंजी प्राप्त कर ली। अब वह उसका मनमाना प्रयोग करने में समर्थ हो गए। नायिका हीरे और मोती के गहने पहनती है, तो वे भी सोने के जान पड़ने लगते हैं। चमेली के सफ़ेद फूलों का हार धारण करती है, तो उसमें चंपक-पुष्प की द्युति दमकने लगती है। यहाँ तक कि जब कभी वह श्वेत वस्त्र धारण करती है, तो वे केशर से रँगे समझ पड़ते हैं। सारे सफ़ेद वस्त्र, गहने और हार अपना रंग बदल डालते हैं। वे पीले पड़ जाते हैं। सफ़ेदी से पीलापन किसी प्रकार भी छिपाया नहीं छिप सकता। ऐसी दशा में नायिका की देह-द्युति के छिपाने के सब उद्योग व्यर्थ हैं।

"हीरन-मोतिन के अवतंसनि सोने के भूषन की छबि छावै ;
हार चमेली के फूलन के, तिनमैं रुचि चंपक की सरसावै ।
अंग के संग तें केसरि-रंग की अंबर सेत मैं जोति जगावै ;
बाल छबीली छपाए छपै नहिं, लाल, कहौ अब कैसे क आवै ?"
(मतिराम)

महाकवि केशवदास और मतिराम

कविवर केशवदास और मतिराम के भावों में भी कहीं-कहीं अद्भुत भाव-सादृश्य मौजूद है। केशवदासजी का कहने का ढंग परम गंभीर है। एक शब्द का भी व्यवहार व्यर्थ नहीं होता। मतिरामजी ने अपने पूर्ववर्ती कविवर की इन दोनो ही विशेषताओं को अपनाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने काव्य में मधुरता की ऐसी सोहावनी पुट दे दी है कि बस, सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है। लीजिए, भाव-सादृश्य के दो उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं—

(१) बाला के मृदु हास पर उभय कविवर रीझ गए हैं। कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इस मंद हास्य को लेकर दोनो कवियों ने ख़ूब परिभ्रमण किया है। जिस प्रकार केशवदास को 'भोरी गोरी की थोरी-थोरी हाँसी' को देखकर नाना प्रकार के संदेह उठे हैं कि यह मंद हास्य अमुक-अमुक वस्तु तो नहीं है, उसी प्रकार मतिराम के मति-मुकुर पर भी ऐसे ही अनेक संदेहों के मनोरंजक प्रतिबिंब दिखलाई पड़ते हैं। बाला के वदन में जो मृदु हास विलसित था, उसकी बदौलत मतिराम को कल्पना-कल्लोलिनी में ख़ूब गहरे में उतरना पड़ा है। पहले केशवदास की प्रतिभा का सुख लूटिए—

"किधौं मुख-कमल ये कमला की ज्योति होति,
किधौं चारु मुख चंद्र-चंद्रिका चुराई है ;

किधौं मृगलोचनि, मरीचिका मरीचि किधौं,
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की, दसन घनदामिनी की
'केसव' चतुर चित ही की चतुराई है;
एरी गोरी भोरी! तेरी थोरी-थोरी हाँसी मेरी
मोहन की मोहनी कि गिरा की गोराई है।"

(केशव)

उपर्युक्त छंद में 'गोरी की थोरी-थोरी हाँसी' के संबंध में जो अनेक संदेह कवि ने उठाए हैं, वे सभी मार्के के हैं, परंतु इस मंद हास्य के संबंध में गिरा की गोराई और मोहन की मोहनी होने का संदेह उठाकर कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा का बड़ा ही सुंदर परिचय दिया है। निस्संदेह केशवदास के इस छंद का अंतिम पद बड़ा ही भव्य है। अब मतिराम के हस्तलाघव को देखिए। कैसी सुमति का विकास है!

"बानी को बसन कैधों बात के बिलास डोलै,
कैधों मुख-चंद्र चारु चंद्रिका-प्रकाश है;
कबि 'मतिराम' कैधों काम को सुजस कै
पराग-पुंज प्रफुलित सुमन-सुबास है।
नाक-नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधों
देहवंत प्रकटित हिए को हुलास है;
सीरे करिबे को पिय-नैन घनसार कैधों
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है।"

(मतिराम)

हमारी राय में केशवदास की 'गिरा की गोराई' मतिराम के 'बानी के बसन' से अच्छी है; परंतु पूर्ववर्ती कवि की 'चतुर चित्त की चतुरता' से परवर्ती कवि का 'देहवंत हिए को हुलास' विशेष उल्लास-

कर है। अन्य स्थल दोनो ही छंदों में अपने-अपने ढंग से अनूठे हैं। फिर भी मतिराम की मार्मिकता का विकास उनके छंद के अंतिम पद में पाया जाता है। कवि ने कैसा अच्छा संदेह उठाया है, अहा! यह बाला का मृदु हास्य है, या उसके प्रियतम के युगल नेत्रों को शीतल करनेवाला शुभ्र घनसार-खंड है। कर्पूर शीतल है, शुभ्र और उद्दीपक भी। नायिका का मृदु हास्य भी नायक को समान भाव से सुखद है। सो हास्य के संबंध में घनसार का संदेह उठाकर मतिराम ने अपने मति-मुकुर में प्रतिभा की मनोरंजिनी छाया दिखला दी है। संदेहालंकार के दोनो ही छंद उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(२) दूसरा उदाहरण लीजिए—

"दुरिहै क्यों भूखन-बसन दुति जोबन की,
देहहूँ की जोति होति द्यौस-ऐसी राति है;
नाहक सुबास लागे ह्वैहै कैसी 'केसव'
सुभावती की बास भौंर-भीर फारे खाति है।
देखि तेरी सूरति को मूरति बिसूरति हूँ,
लालन के दृग देखिबे को ललचाति है;
चालिहै क्यों चंद्रमुखी कुचन के भार भए,
कचन के भार ही लचक लंक जाति है।"

(केशव)

"चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
फूले - फूले फूलन बिछायो परजंक है;
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन मैं
करत न अंगराग-कुंकुम को पंक है।
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप-मलीन होत बदन - मयंक है;
कैसे वह बाल लाल, बाहेर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकति लंक है।"

(मतिराम)

यद्यपि उभय कविवरों के वर्णन में प्रसंग की दृष्टि से पर्याप्त पार्थक्य है, फिर भी केशव और मतिराम, दोनो ने ही सुकुमारता की दोहाई दी है। एक कवि को यदि यह फ़िक्र पड़ी है कि जब बालों के बोझ से अभी कमर लचक जाती है, तो पीन पयोधरों का भार वह कैसे वहन कर सकेगी, तो दूसरा कवि साफ़-साफ़ कह देता है कि सुकुमारी की लंक पंखे की हवा से भी बल खा जाती है, इसलिये उसका बाहर जाना असंभव है। पूर्ववर्ती कवि के छंद में देह-द्युति और शरीर के सुवास का भी अच्छा परिचय है; परंतु परवर्ती कवि ने एकमात्र सुकुमारता को ही अपनाया है। उसके प्रत्येक पद से सुकुमारता के भाव की ही पुष्टि होती है। द्वितीय संबंधातिशयोक्ति और मध्यम दूती के उदाहरण में यह छंद क्रम से 'ललितललाम' और 'रसराज' में समाविष्ट है।

रहीम और मतिराम

अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना उपनाम 'रहीम' कवि के भाव भी यत्र-तत्र मतिरामजी की कविता में पाए जाते हैं। पाठकों के मनोरंजन के लिये कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) **"गई आगि उर लाय, आगि लेन आई जो तिय;**
लागी नहीं बुझाय, भभकि-भभकि, बरि--बरि उठै।"

(रहीम)

"नैन जोरि, मुख मोरि, हँसि, नैसुक नेह जनाय;
आगि लेन आई, हिए मेरे गई लगाय।"

(मतिराम)

रहीम के हृदय में जो अग्नि लगी है, वह बुझाने से नहीं बुझती, भभक-भभककर जल उठती है। मतिरामजी के दोहे से यह नहीं प्रकट है कि इस अग्नि का बल उनके हृदय पर कितना हुआ है। इतना

अवश्य प्रकट है कि आग लग गई है। रहीमजी के उर में आग लगने की किसी विशेष दशा का पता नहीं है, परंतु मतिरामजी के हृदय में आग लगने के पहले नेत्रों का सम्मिलन, मुख का मोड़ना, हँसी और थोड़ा-सा स्नेह का संचार भी हुआ है। अपने-अपने ढंग से दोनो ही भाव अच्छे हैं।

(२) "करत न हिय अपरधवा सपनेहु पीय ;
मान-करन की बिरियाँ रहिगो हीय।"
(रहीम)

"सपने हूँ मनभावतो करत नहीं अपराध ;
मेरे मन ही मैं रही सखी, मान की साध।"
(मतिराम)

यद्यपि दोनो पद्यों का भाव बिलकुल एक ही है, फिर भी मतिराम ने अपने दोहे की अंतिम पंक्ति में जो मधुरता और स्वाभाविकता भर दी है, वह रहीम के बरवै की अंतिम पंक्ति में नहीं है।

(३) "सुभग बिछाय पलँगिया, अंग-सिंगार ;
चितवति चौंक तरुनियाँ दै दृग-द्वार।"
(रहीम)

"सुंदरि सेज सँवारिकै साजे सबै सिंगार;
दृग-कमलन के द्वार मैं बाँधे बंदनवार।"
(मतिराम)

यद्यपि मतिराम और रहीम दोनो के भाव बिलकुल एक ही हैं, फिर भी मतिराम ने दोहे की अंतिम पंक्ति में अपनी योग्यता का परिचय अपूर्व रीति से दिया है। द्वार की ओर नायिक के नेत्र-कमलों का सतत प्रक्षिप्त होना कवि ने बंदनवार बँधवाकर ऐसा अभिव्यक्त किया है कि उनकी मार्मिकता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। बंदनवार कई भावों का द्योतन कराता है। बंदनवार का बँधना किसी

पवित्र और शुभ अवसर पर ही होता है। उसमें स्वागत का भी निर्देश है। कार्य में सफलता की भी संभावना है। नायिका द्वारा शय्या तथा अपने शृंगार का सामंजस्य भी इसी बंदनवार में है। नेत्रों का दरवाज़े पर बंदी होकर विवशता-वश ठहरना कुछ भद्दा मालूम होता है; परंतु बंदनवार-रूप में स्वागत के लिये वहाँ उनकी उपस्थिति एक सद्गृहस्थ के अनुरूप ही है।

नरहरि और मतिराम

"नरहरि कबि ते गऊ को बिनती को सुनि
ह्वै गए अकब्बर सबीह - जैसे नकसी ;
दीन्हो है हुकुम करवाय आम-खास-बीच,
बंद भयो गो-बध खबरि फेरि बकसी।
फैलि गयो सुजस दिलीप लौं जहाँन-बीच,
हिंसक समाज बैठि बोलैं अकबकसी;
आनँद कसाइन को गाइन को दीन्हो, अरु
गाइन की मौत सो कसाइन को बकसी।"

उपर्युक्त छंद एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर बना है। नरहरि कवि ने "अरिहु दंत तृन धरहिं" इत्यादि छप्पय लिखकर और गाय के मुख में दबाकर अकबर बादशाह के सामने भेजा था। कहते हैं, बादशाह पर उसका इतना असर पड़ा कि उसी दिन से उन्होंने अपने राज्य में गोवध बंद करा दिया। बादशाह की उसी आज्ञा का उल्लेख उपर्युक्त छंद में है। हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि छंद किसका निर्मित है। अधिकतर प्रसिद्ध यह है कि उपर्युक्त छंद भी नरहरि-कृत ही है, जो उन्होंने अपने मनोरथ के सफल होने पर बनाया था। जो हो, यदि इस छंद की रचना कवि मतिराम के कविता-काल के पहले हुई है, तो मतिरामजी ने ललित ललाम में,

जो प्रायः इसीसे मिलता-जुलता छंद है, उसे इसे ही देखकर बनाया है। वह छंद इस प्रकार है—

"जोर दल जोरि साहिजादो साहिजहाँ जंग,
जुरि मुरि गयो, रही राव मैं सरम-सी;
कहै 'मतिराम' देव-मंदिर बचाए जाके,
बर बसुधा मैं बेद-स्रुति-बिधि यों बसी।
जैसो रजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा,
ऐसो और दूसरो भयो न जग मैं जसी;
गायनि को बकसी कसायनि की आयु सब,
गायनि की आयु सो कसायनि को बकसी।"

कहते हैं, 'रावरतन' ने भी दिल्लीश्वर से यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि उनके शिविरों के निकट कभी गोवध न होगा। संभवतः उसी घटना का निर्देश करते हुए मतिरामजी ने यह रचना की है। जो हो, छंद के अंतिम पद में ही चमत्कार है।

रसखान और मतिराम

रसखान और मतिराम की कविता में भी कहीं-कहीं भाव-सादृश्य पाया जाता है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जाता है—

"कौन ठगोरी-भरी हरि आज बजाई है बाँसुरिया रस-भीनी;
तान सुनी जिन हीं जितहीं, तिनहीं, तित लाज बिदा करि दीनी।
घूमें खरी-खरी नंद के बार नबीनी कहा अरु बाल प्रबीनी;
या ब्रजमंडल मैं 'रसखान' सु कौन भटू, जु लटू नहिं कीनी?"
(रसखान)

"आननचंद निहारि-निहारि नहीं तन औ' धन जीवन वारैं;
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए, मति को गहि ताहि निकारैं।
क्यों करि धौं मुरली, मनि-कुंडल, मोर-पखा, बनमाल बिसारैं;
ते धनि, जे ब्रजराज लखैं, गृह-काज करैं अरु लाज सँभारैं।"
(मतिराम)

रसखान ने जो बात स्पष्ट शब्दों में कह दी है, उसी को मतिराम ने घुमा-फिराकर ऐसे ढंग से कहा है कि चमत्कार बढ़ गया है। रसखान-जी की राय में सारे व्रज-मंडल में कोई भी 'भटू' ऐसी नहीं है, जिसे कृष्णचंद्र ने 'लटू' न किया हो। अर्थात् सभी पर व्रजराज का स्पष्ट प्रभाव है, पर मतिरामजी उन व्रज-बालाओं को शाबाशी देने के लिये तैयार हैं, जो व्रजराज को देख चुकने के बाद भी लज्जा को सँभा-लती हुई गृह-काज में लगी पाई जायँ। इसका तात्पर्य यह है कि मन-मोहन के दर्शन के बाद व्रज-युवती का अपने आपे में रहना असंभव है। हमारी राय में मतिराम के कहने का ढंग रसखान से अच्छा है।

बिहारी और मतिराम

कविवर बिहारीलाल और मतिरामजी ने प्रायः एक ही समय में कविता की है। दोनो ही प्रतिष्ठित राजघरानों के आश्रित कवि थे। 'जयपुर' और 'बूँदी' राजपूताने के चिरप्रसिद्ध राज्य हैं। यहाँ के शासक बड़े ही गुणी और गुणग्राहक रहे हैं। हिंदी-साहित्य दोनो ही दरबारों से लाभान्वित हुआ है। बिहारीलाल महाराजा जयसिंह जयपुर-नरेश के आश्रित थे, और मतिरामजी बूँदी-नरेश भावसिंहजी के। उभय कविवरों ने अपनी कविता का अधिकांश भाग शृंगार-रस के सत्कार में नियोजित किया है। दोनो ही कवि पक्के शृंगारी हैं। दोनो कवियों ने मधुर व्रजभाषा में अपना काव्य संपादित किया है। बिहारीलाल ने अपनी समग्र कविता दोहा और सोरठा-छंदों में निबद्ध की है; परंतु मतिरामजी ने घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, सोरठा एवं दोहा आदि कई छंदों का प्रयोग किया है। मतिरामजी ने नायिका-भेद, अलंकार एवं पिंगल-शास्त्र समझानेवाले ग्रंथ भी बनाए हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि बिहारीलाल के दोहे हिंदी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। हिंदी-साहित्य में बिहारी-सतसई सचमुच

अद्वितीय ग्रंथ है। कविवर मतिरामजी ने भी अपने ग्रंथों में अनेक दोहों की रचना की है। उन्होंने दोहामय मतिराम-सतसई भी बनाई है। यह सतसई बिहारी-सतसई से कुछ ही घटकर है। कुछ विद्वानों की राय है कि अगर किसी के दोहे बिहारीलाल के दोहों की समानता को पहुँचते हैं, तो वे मतिराम के ही दोहे हैं। हमारी राय में मतिराम के कोई-कोई दोहे वास्तव में अनुपम हैं। इस ग्रंथावली में पाठकों को स्थल-स्थल पर मतिराम के कुछ ऐसे दोहे पढ़ने को मिलेंगे। मतिराम और बिहारी के किसी-किसी दोहे में भाव-सादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य भावापहरण के कारण है, अथवा दोनो ही कवियों को एक साथ ही समान भाव सूझे हैं—यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती; पर दोनो की कविता में भाव-सादृश्य हैं अवश्य। यहाँ इस प्रकार के कुछ उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं। दोनो पर युगपद् ध्यान देने से अलौकिक आनंद प्राप्त होता है—

(१) शरद् का शुभागमन है। निर्मल जल की दहार है। खंजन पक्षी गृहस्थों के आँगन-आँगन में नाच रहा है। सरोवरों में कमल फूले हुए हैं। रात्रि में शशधर अपनी षोडश कला से उदित होता है। शृंगारी कवि बिहारीलाल और मतिरामजी, दोनो ही इस प्रकृति-सौंदर्य को देखते हैं। शरदागम का सुहावना समय नायिका के अवयवों का प्रतिस्पर्द्धी बनता है। बिहारीलालजी कहते हैं—

"अरुन सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद,
समय आय सुंदरि सरद काहि न करत अनंद ?"

इसी भाव का निर्वाह मतिरामजी यों करते हैं—

"पिय-आगम सरदागमन, बिमल बाल-मुख चंद;
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरबिंद।"

उभय कविवरों में किसका भाव विशेष रमणीय है, इसका भार सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़कर हम केवल इतना ही कहना

चाहते हैं कि मतिरामजी के दोहे में आगतपतिका नायिका एवं रूपक-अलंकार का संपूर्ण निर्वाह हुआ है।

(२) बेचारे नेत्रों के भाग्य में सुख का अभाव ही समझ पड़ता है। जब प्रियतम से साक्षात् होता है, तब लज्जा एवं आनंदाश्रु-प्रवाह के कारण उनके दर्शन सम्यक् नहीं हो पाते, और वियोग में तो सदा रोना-ही-रोना रहता है। इस भाव को बिहारीलाल ने अपने दोहे में यों अभिव्यक्त किया है—

"इन दुखिया अँखियान को सुख सिरजोई नाहिं;
देखे बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं।"

मतिरामजी इसी भाव को यों दर्शित करते हैं—

"बिन देखे दुख के चलहिं, देखे सुख के जाहिं;
कहहु लाल, इन दृगन के अँसुवा क्यों ठहराहिं?"

दोनो में किसका भाव उत्कृष्ट है, इसका भार हम फिर सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ते हैं।

(३) प्रौढ़ाधीरा नायिका नायक को अपराधी पाकर भी अपने क्रोध को प्रकट नहीं कर रही है, परंतु उसकी रति-संबंधिनी उदासीनता से नायक को उसका मान अवगत हो जाता है। इसी दशा का चित्र कविवर बिहारीलाल यों खींचते हैं—

"चितवनि रूखे दृगन की, हाँसी बिनु मुसकानि;
मान जनायो मानिनी, जानि लियो पिय जानि!"

इस भाव को मतिरामजी ने 'रसराज' की एक घनाक्षरी में बड़े ही अच्छे ढंग से दिखलाया है। घनाक्षरी का अंतिम पद यह है—

"कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो
मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सों।"

घनाक्षरी के अतिरिक्त एक अन्य दोहे में इस भाव को मतिरामजी ने और भी मार्मिकता से व्यक्त किया है—

"ढीली बाहन सों मिली, बोली कछू न बोल;
सुंदरि मान जनायकै लियो प्रानपति मोल।"

इस दोहे की भावोत्कृष्टता का अंदाज़ा पाठकगण इसी से कर सकते हैं कि 'दास'-जैसे उद्‌भट कवि भी इस भाव के अपहरण का लोभ संवरण न कर सके। यथा—

"याही ते हिय जानिगो मान हिए को लाल !
अरसीली, ढीली मिलनि मिली रसीली बाल।"
(दास-रस-सारांश)

(४) आभूषण-विशेष की झलक नायिका के अवयव-विशेष पर पड़ी है। नायिका इस बात को समझ नहीं पाती और उस झलक को दूर करने का उद्योग करती है। सखी उपहास करती हुई असली बात नायिका को समझा देती है। बिहारीलालजी कहते है—

"बेसरि-मोती-दुति झलक परी अधर पर आय,
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोछो जाय ?"

कितना मार्मिकतामय वर्णन है ! सखी की कैसी मृदु हँसी है ! मतिरामजी ने भी इसी भाव को एक दोहे में संपुटित किया है, पर वहाँ धोखा खानेवाली सखी है, नायिका नहीं। नायिका के कपोलों पर रद-छद बने हुए थे। लज्जा-वश वह उन्हें कपड़े से ढँककर सखी से छिपाना चाहती थी; सखी इस भेद को समझ न सकी, वह समझी कि लाल-तरचोना की आभा कपोलों पर पड़ रही है—उसको भ्रम हो गया—या संभव है, वह जान-बूझकर नायिका की लज्जा दूर करने को बन गई हो। जो हो, उसने नायिका को गोपन-कार्य से विरत किया।

"प्रभा तरचोना लाल की परी कपोलनि आनि;
कहा छपावति चतुर तिय कंत-दंत-छत जानि ?"

इस दोहे को 'जसवंत-जसोभूषण'-कार कविराजा मुरारिदान ने अपने अलंकार-ग्रंथ में 'भ्रम' के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(५) "लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाँहि;
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हूँ चलि जाँहि।"
(बिहारीलाल)

"मानत लाज-लगाम नहिं, नैकु न गहत मरोर;
होत लाल लखि बाल के दृग-तुरंग मुँहजोर।"
(मतिराम)

दृग-तुरंगों पर अपना बस न रहने के कारण बिहारीलाल का यह कहना कि "नैना मो बस नाहिं" बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण और सुकुमार भाव है। 'दृग-तुरंग' का रूपक बड़ी शान-बान से उठा था, पर 'लौं' वाचक के प्रयोग से बिहारीलाल ने उसे बिगाड़ दिया। मतिरामजी के दोहे में इतनी विशेषता अवश्य है कि उन्होंने रूपक नहीं बिगड़ने दिया।

(६) प्रिय और प्रियतमा का साक्षात्कार हुआ है। दोनो एक दूसरे को टकटकी लगाकर देख रहे हैं। सात्त्विक प्रभाव से अश्रु-प्रवाह हुआ है। इस दृश्य का फ़ोटो खींचना उभय कवियों को अभीष्ट है। एक कवि नायक-नायिका, दोनो के नेत्रों के अश्रु-प्रवाह को देखकर नेत्र-पिचकारी द्वारा एक-दूसरे पर प्रेम-रंग छिड़कवाता है, तो दूसरा 'रीझ' के भार से थकी हुई आँखों में 'श्रम जल' का आना दिखलाता है। दोनो ही बड़े सुकुमार भाव हैं—

"रस-भिजए दोऊ, दुहुन इकटक रहे, टरे न;
छबि सों छिरकत प्रेम-रँग भरि पिचकारी नैन।"
(बिहारी)

"बाल रही इकटक निरखि ललित लाल-मुख इंदु;
रीझ-भार अँखियाँ थकीं, झलके स्रम-जल-बिंदु।"
(मतिराम)

'को बड़-छोट, कहत अपराधू'-वाले गोस्वामीजी के कथन के

अनुसार हम नहीं कह सकते कि दोनो में कौन भाव आगे निकल जाता है ? सहृदय पाठक स्वयं निर्णय कर लें।

(७) मर्यादा भाग ४, संख्या १, पृष्ठ ३ पर पं० शिवाधार पांडेय एम्० ए०, एल्-एल्० बी० लिखते हैं—

"चढ़ी अटारी बाम वह, कियो प्रनाम निखोट;
तरनि-किरनि ते दृगन की कर-सरोज करि ओट।"

यह क्रिया-विदग्धा का उदाहरण है। पति को नीचे जाता हुआ देखकर कोई स्त्री सूर्य को प्रणाम करने के बहाने नेत्रों की ओट करके नीचे पति की ओर देखती है × × × उधर प्रणाम का बहाना भी हो जाता है, इधर अपने लजीले नेत्रों के लिये सूर्य भगवान् से क्षमा भी माँगी जाती है। यह शृंगार में एक अद्भुत भक्ति और हास्य-रस का प्रवेश है × × ×। बिहारी भी इसी तरह के एक दोहे को कहते हैं, पर कहना न होगा कि मतिराम की मिठास को नहीं पाते—

"रबि बंदौ कर जोरिकै, सुने स्याम के बैन;
भए हँसोहैं सबन के अति अनखौहैं नैन।"

यहाँ न वह भाव ही है, न वह अवस्था ही और न वह अद्भुत-रस ही; कोरा हास्य-रस है।

(८) शरीर में आभूषण, नेत्रों में कज्जल और पैरों में महावर का व्यवहार करने से नायिका की शोभा नहीं बढ़ती है। यह सब शृंगार कहने-भर को है। इस आशय को बिहारीलाल ने अपने छोटे-से दोहे में बड़ी ही मार्मिकता से दिखलाया है। अपनी सवैया में मतिराम का भी वही लक्ष्य है, पर लेखक को बिहारी के दोहे से विशेष सहानुभूति है—

"तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर रंग;
नहिं सोभा को साज यह, कहिबेई के अंग।"

"जावक-रंग रँगे पद-पंकज नाह को चित्त रँग्यो रँग यातैं;
अंजन दैकरि नैननि मैं सुखमा बढ़ी स्याम-सरोज प्रभातैं।
सोने के भूषन अंग रच्यो, 'मतिराम' सबै बस कीबे की घातैं;
यों ही चलैं, न सिंगार सुभावहिं, मैं सखि, भूलि कहीं सब बातैं।"

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठकगण निश्चय कर सकते हैं कि कवि-वर मतिरामजी बिहारीलाल से बहुत पीछे नहीं रह जाते।

मतिराम और आलम

'आलम-केलि' और 'रसराज' को साथ-साथ पढ़िए, तो आपको भाव-सादृश्य के अनेक उदाहरण मिलेंगे। यदि मतिरामजी कहते हैं कि—

"पानिप बिमल की झलक झलकन लागी,
काई-सी गई है लरिकाई मिटि अंग ते।"

तो हम आलम को भी वय:संधि के वर्णन में ठीक यही बात कहते पाते हैं। उनके कथन को सुनकर कौन न कहेगा कि दोनो भाव एक हैं। देखिए—

"आलम उमँगि रूप-सोना-सरवर भरचो,
पानिप ते काई लरिकाई मिटि गई है।"

मतिरामजी का अन्यसंभोगदु:खिता नायिका का उदाहरण लीजिए—

"याही को पठाई, बड़ो काम करि आई, बड़ी
तेरी है बड़ाई, लख्यो लोचन लजीले सों;
साँची क्यों न कहै, कछु मोको किधौं आपुही को,
पाई बकसीस, लाई बसन छबीले सों।
'कबि मतिराम' मोसो कहत सँदेसोऊ न,
भरे नख-सिख अंग हरख कटीले सों;

तू तो है रसीली, रस-बातन बनाय जानै,
मेरे जान आई रस राखिकै रसीले सों।"

उपर्युक्त छंद से नीचे लिखा आलम का छंद मिलाइए। देखिए, कैसा सुंदर साम्य है—

"तो सी ढीठी, निठुर बसीठी देखी मैं न कहूँ,
मीठी मुख आगे, पीठि-पाछे करै रारि-सी;
मेरे आए मेरी भई, वा पै वाही की ह्वै गई,
दई को न डरु, लोक-लाज दई डारि-सी।
'आलम सुकबि' आई बातन रिझाय मनु,
मुरझानो मोहन, मुरी है बेझा मारि-सी;
बात-सी बनाय, सु लचाय हिय लाए इत,
तू तौ चली नारि, फिर नावक की नारि-सी।"

आलमजी में मतिराम का भाव-सौकुमार्य और भाषा-माधुर्य नहीं है। उभय कविवरों के छंदों में बहुत बड़ा अंतर है। मतिरामजी का गोपी-उद्धव-संवादवाला वह छंद, जिसका अंतिम पद यह है—

"ऊधो, तुम कहत, बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम सों।"

इस पुस्तक में कई बार उद्धृत किया जा चुका है। इस भाव को बड़े-बड़े कवियों ने अपनाने की चेष्टा की है। आलम भी इस लोभ को संवरण करने में समर्थ नहीं हो सके; पर इनमें मतिराम की वह माधुरी कहाँ ? पाठक स्वयं देख लें। आलमजी का छंद इस प्रकार है—

"तरनिजा-तट, बंसीबट, कुंज-पुंज, बीथी,
बन घन, जहाँ-तहाँ आनँदुपयोगी हैं;
सोई रहै ध्यान ऊधो ग्यान को न काज कीजै,
ये तो ब्रज-बासी ब्रजराज के बियोगी हैं।

'आलम' सुकबि कहै, तन-बीच कान्ह-छबि,
जोग देन आए तुम, कहा हम जोगी हैं;
जोग तौ सिखावै ताहि, जोग की जुगति जानै,
जोग को न काज हम बंसी-रस भोगी हैं।"

भूषण और मतिराम

(१)

"उत्तंग मरकत-मंदिरन महँ बहु मृदंग जु बाजहीं;
घन समे मानहुँ घुमारि करि घन घन-पटल-गल गाजहीं।"

(२)

"मुकतानि की झालरनि मिलि मनि-माल छज्जा छाजहीं;
संध्या-समै मानहु नखतगन लाल अंबर राजहीं।"

(३)

"भूवन भवन, जहँ परसिकै मणि पुहुप रागन की प्रभा;
प्रभु पात पट की प्रगट पावन सिंधु मेघन की सभा।"

(४)

"देसन-देसन नारि-नरेसन भूखन यों सिख देहि दया सों,
मंगन ह्वै करि दंत गहौ तिन कंत तुम्हैं है अनंत महा सों;
कोट गहो कि गहौ बन-ओट कि फौज की जोट सजौ प्रभुता सों,
और करौ किन कोटिक राह सलाह बिना बचिहौ न सिवा सों।"

(भूषण)

(१)

"जहाँ छहौ ऋतु मैं मधुर सुनि मृदंग मृदु सोर;
संग ललित ललनान के नृत्य करत गृह-मोर।"

(२)

"सरद बारिधर-से लसत अमल धौरहर धौल;
चित्रनि चित्रित सिखर जहँ इंद्र-धनुष-से नौल।"

(३)

महलनि ऊपर जहँ बने कंचन-कलस अनूप;
निज प्रभानि सों करत हैं गगन पीत अनुरूप।

(४)

"बिपिन-सरन कै चरन तकौ राव ही के,
चढ़ौ गिरि पर, कै तुरंग परवर मैं;
राखौ परिवार को कि आपनीयै हठ राज,
संपति दै मिलौ, कै नगारे दै समर मैं।
कहै 'मतिराम' रिपु-रानी निज नाहनि सों,
बोलैं यों डरानी भावसिंहजू के डर मैं;
बैर तो बढ़ायो, कह्यौ काहू को न मान्यो, अब
दाँतन तिनूका कै कृपान गहौ कर मैं।"

(मतिराम)

ऊपर दिए हुए पहले तीन वर्णन क्रम से रायगढ़ और बूँदी के राजमहलों के हैं। भूषणजी मंदिरों में होनेवाली मृदंग-ध्वनि की तुलना घन-गर्जन से करते हैं। मतिरामजी उसी ध्वनि का प्रभाव यों बतलाते हैं कि मयूर नाचने लगते हैं। मयूर भी वे, जो गृह में पालित हैं। गृह-मयूर मतलब से ख़ाली नहीं हैं। हमें तो भूषण के 'घन-पटल-गल गाजहीं' से मतिराम का 'मधुर मृदु सोर' अच्छा मालूम होता है। दूसरे वर्णन में वैसा सादृश्य नहीं है, पर मतिराम का वर्णन स्वाभाविक विशेष है। तीसरे वर्णन में कंचन-कलशों का अपनी पीत प्रभा से गगन को पीत करना जितना सरल और मनोरम है, उतना भूषण का तादृश वर्णन नहीं। मतिराम का चौथा वर्णन तो भूषण के वैसे ही वर्णन से सभी प्रकार से अच्छा बन पड़ा है। इन दोनों भाइयों के अन्य कई वर्णनों में भी भाव-सादृश्य है। उनकी तुलना पाठकगण अन्यत्र पढ़ें। यद्यपि रौद्र और भयानक वर्णन करने में

भूषण बड़े ही सिद्ध-हस्त हैं, परंतु प्रतिभा और काव्य-कला-कौशल में मतिराम का पद उनसे ऊँचा है ।

मतिराम और देव

एक सहज सुंदरी, चारु कोमलांगी, सुकुमारी युवती अपने अंग-प्रत्यंगों की सुवास और दीप्ति से चारो ओर सुगंधि और आलोक फैलाती और अपनी मंद-मंद मुसकान से शुभ्र ज्योत्स्ना की ज्योति छिटकाती (रात्रि में) शयन करने के लिये अपने प्राणप्यारे के पास छत पर जाने लगी । चलने में किंकिणी बज उठी । बड़े ही असमंजस की बात है । घर के गुरुजन लोग अभी जग रहे हैं । वे लोग लजीली नायिका का प्रियतम के सन्निकट गमन जान जायँगे, इस विचार से बेचारी पद-पद पर जैसे-जैसे रसना (किंकिणी) बज उठती है, तैसे-ही-तैसे वह अपनी रसना (जीभ) को दाँतों से दबा लेती है । दाँतों से जीभ दबाने में लज्जित होने का जो भाव है, वह प्रकट ही है । यहाँ रसना पद की यमक ने इसे और भी चमत्कृत कर दिया है । नायिका की इस प्रकार की स्वाभाविक लज्जा का फ़ोटो मतिरामजी के मधुर शब्दों में इस प्रकार है—

(१) **"सहज सुबासयुत देह की दुगुनि दुति,**
दामिनि-दमक दीप केसरि कनक ते;
'मतिराम' सुकबि सुमुखि* सुकुमारि अंग,
सोहत सिंगार चारु जोबन बनक ते ।
सोइबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास,
जगत जुन्हाई जोति हँसनि तनक ते;
चढ़त अटारी गुरु लोगनि की लाज प्यारी,
रसना दसन दाबै रसना-झनक ते ।"

---

*पाठांतर—सिरीष ।

देवजी ने मतिराम के 'रसना दसन दाबै रसना-झनक ते' पद को एक छंद में अपनाया है। देवजी की नायिका को भी लज्जा-वश होकर ही दाँतों-तले जीभ दबानी पड़ी है, पर यह लज्जा दूसरे ही प्रकार की है। "सुरतारम्भगोष्ठयादावश्लीलत्वं तथा पुनः" नामक साहित्य-दर्पण की कारिका से देवजी अश्लीलत्व-दोष से भले ही छुटकारा पा जायँ, परंतु तुलना के समय स्वाभाविक वर्णन एवं निर्दोष भाव के परिस्फुटन में मतिरामजी देव से आगे हैं। हाँ, शब्द-चमत्कार में अवश्य ही देवजी ने मतिराम को दबा दिया है। देवजी की मनो-मोहिनी उक्ति इस प्रकार है—

"नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवरु जगै, न लग सोवत तनक ते;
ननद नछीछी त्योरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी-कैसो बिष बगरावैगी भनक ते।
देखिए कठिन साथ, गहौजू न हठि हाथ,
कैसे कहौं जाहु नाथ, आए हौ बनक ते;
बस ना हमारे रंग, रसना बनत चौंकि,
रसना दसन दाबै रसना-झनक ते।"

मतिरामजी ने 'रसना' का प्रयोग दो बार करके यमक का चमत्कार दिखलाया था। देवजी ने उसका प्रयोग एक बार और अधिक किया है। मतिरामजी की नायिका को किंकिणी-शब्द के कारण मार्ग में ही लज्जा ने आ घेरा है, परंतु देवजी की नायिका प्रियतम के सन्निकट होती हुई, रसना-शब्द से चौंकती है। पहले छंद में नायिका का नायक के पास गमन हुआ है, और दूसरे में नायक नायिका के पास 'बनक' से गया है। पहले छंद में नायिका को गुरुजन की लज्जा दबाए डालती है, पर दूसरे छंद में देवर और ननद का ही डर है।

शृंगारी कवियों में देवजी का स्थान मतिरामजी से ऊँचा है, फिर भी उपर्युक्त दोनो छंदों में मतिरामजी ही सिरे हैं।

(२) उद्धवजी प्रेम-विह्वला, विरह-विधुरा गोपियों को समझाते हैं कि तुम योग-मार्ग में प्रवृत्त हो जाओ। इससे तुमको भविष्य में कृष्णचंद्र की अवश्य प्राप्ति होगी। गोपियाँ एक प्रकार से उद्धवजी का परिहास करती हुई कहती हैं कि आपके आज्ञापालन की तो तब आवश्यकता थी, जब हमारा कृष्णचंद से वियोग होता। उनके प्रेम में तो हमारी तन्मयता इस हद तक पहुँच गई कि हमें सर्वत्र ही सदा उनके दर्शन का सुख सुलभ हो रहा है। फिर हमारे लिये योग-साधन की क्या आवश्यकता है? इसलिये हम ऐसे सुखद वियोग का त्याग करें? मतिराम और देव दोनो ही कवियों ने इस विषय पर रचना की है। हम दोनो कवियों की उक्तियाँ विना टीका-टिप्पणी के उद्धृत करते हैं, और सहृदय पाठकों की रुचि पर इस बात का भार छोड़ते हैं कि किसकी उक्ति विशेष चमत्कारिणी है—

"जो न जी मैं प्रेम, तब कीजै ब्रत-नेम, जब
कंज-मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए;
आस नहीं पी की, तब आसन ही बाँधियत,
सासन कै सासन को मूँदि पति पेखिए।
नख ते सिखा लौं सब प्रेममई बाम भई,
बाहिर लौं भीतर न दूजो 'देव' देखिए;
जोग करि मिलैं, जो बियोग होय बालम जु,
ह्याँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए।"
(देव)

"निसि-दिन स्त्रौनन पियूष सो पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरी के सुर-ग्राम को;
तरनि-तनूजा-तीर, बन-कुंज, बीथिनि मैं,
जहाँ-तहाँ देखति है रूप छबि-धाम को।
'कबि मतिराम' होत हाँतो ना हिए ते नैंक,
सुख प्रेम-गात को परस अभिराम को;

ऊधो, तुम कहत, बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को ।"
(मतिराम)

(३) दोनो कवियों की वचन-विदग्धाओं का भी एक-एक उदाहरण लीजिए। गोपिका बहाने के साथ श्रीकृष्ण को एकांत स्थल में ले जाना चाहती है। एक कवि गो-दोहन-कार्य का आश्रय लेकर और दूसरा जंगल में खोए हुए बछड़े को ढूँढ़ने का कथन करके इस भाव को दिखलाता है। एक छंद में सूर्योदय के पहले ही जाकर गोपिका कृष्णचंद्र से गोदोहन के लिये कहती है, तथा दूसरे में संध्या-समय बछड़े के ढुँढ़ाने की प्रार्थना है। दोनो ही उक्तियाँ परम रसीली हैं। लेखक की राय में मतिराम की उक्ति में कुछ स्वाभाविकता विशेष है—

"ननँद उठाई, उन सोवत उठाई सासु,
पेलिकै पठाई अधरातक अँध्यारेई;
रैहौं ना बिठाई, हौंही जाऊँगी पठाई तुम्हैं,
उत वै हठीली हठ मोहीं सो पसारेई।
पीतंबर खोलौ, मुख देखौ हौं तिहारो नेक,
देखो, भोर भयो जू बनैगो पगु धारेई;
चोखी जाति गैया, कोई और न दुहैया 'देव',
देवर कन्हैया कहा सोवत सवारेई।"
(देव)

"आई ह्वै निपट साँझ, गैया गई घर माँझ,
हाँतै दौरि आई कहै मेरो काम कीजिए;
हौं तौ हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
बन की अँध्यारी सों अधिक भय भीजिए।
कबि 'मतिराम' मनमोहन सों पुनि-पुनि
राधिका कहति बात साँची कै पतीजिए;

कब की हौं हेरति, न हेरे हरि पावति हौं,
बछरा हिरान्यौ हो, हिराय नैक दीजिए।"
(मतिराम)

देव और मतिराम के भाव-सादृश्य पर विचार करते समय पाठकों को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि मतिरामजी पूर्ववर्ती और देवजी परवर्ती कवि हैं। इस कारण यदि एक-से भावों में अर्थापहरण का संदेह किया जा सकता है, तो मतिराम अपहरण-दोष के दोषी नहीं ठहराए जा सकते।

मतिराम और दास

कविवर भिखारीदास और मतिरामजी के भावों में कहीं-कहीं सदृशता पाई जाती है। अनेक ऐसे भाव-सादृश्यों में से कुछ पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे उद्धृत किए जाते हैं। स्मरण रहे, मतिरामजी पूर्ववर्ती और दासजी परवर्ती कवि हैं—

(१) "किंसुक के फूलन के फूलन बिभूषित कै
बाँधि लीनी बलया, बिगत कीन्हीं बजनी;
ता पर सँवारयो सेत अंबर को डंबर,
सिधारी स्याम-सन्निधि, निहारी काहू न जनी।
छीर के तरंग की प्रभा की गहि लीन्हीं तिय,
कीन्हीं छीर-सिंधु छिति कातिक की रजनी;
आनन-प्रभा ते तन-छाँह हूँ छपाए जात,
भौंरन की भीर संग लाए जात सजनी।"
(दास)

"अंगन मैं चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीर फेन-कैसी आभा उफनाति है;
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरन,
कुसुम-कलित केस सोभा सरसाति है।

कबि 'मतिराम' प्रानप्यारे को मिलन चली,
करिकै मनोरथनि मृदु मुसकाति है;
होति न लघाई निसि-चंद की उज्यारी, मुख-
चंद की उज्यारी तन छाँहौ छपि जाति है।"
(मतिराम)

दोनो ही कवियों ने शुक्लाभिसारिका का अपूर्व अभिसार दिखलाया है। नायिका विमल चाँदनी में अपने प्रियतम को मिलने जा रही है, इसलिये उसका संपूर्ण उद्योग यह है कि उसके वस्त्र, आभूषण इत्यादि ऐसे हों, जो चाँदनी में छिप जायँ। उज्ज्वल चाँदनी में सफ़ेद वस्तुओं के ही छिपने की संभावना है। इसलिये मतिरामजी ने अभिसारिका के अंगों में कर्पूर-मिश्रित श्वेत चंदन का लेप करा दिया है। यह लेप अभिसार के लिये उपयोगी है, और साथ ही उद्दीपक भी। कर्पूर की उग्र गंधि पद्मिनी के शरीर की स्वाभाविक पद्मगंधि को भी दबा देती है। इससे भ्रमर-मंडली नायिका का पीछा नहीं करती है, सो कर्पूर-मिश्रित चंदन का लेप अभिसार-कार्य प्रकट न होने देने में भी सहायता पहुँचाता है। मोतियों के गहने और केश-पाश में कुसुम-कलियाँ सजाकर मतिरामजी उसे दुग्ध-फेन के सदृश उज्ज्वल सफ़ेद साड़ी भी उढ़ा देते हैं। सब उपाय हो जाने पर भी चाँदनी में शरीर की छाया के छिपाने का कोई प्रबंध न था, पर कवि ने उसे भी दूर ही कर दिया। यदि और सब सामग्री 'निसि-चंद' की उज्यारी में छिप गई थी, तो 'छाँह' मुख-चंद की उजियाली में न ठहर सकी। आख़िर मुख-चंद की चाँदनी का भी तो कुछ उपयोग होना चाहिए था। दासजी ने भी 'आनन-प्रभा' में छाँह को छिपाया है, पर हमारी राय में कोरी आनन-प्रभा से 'मुख-चंद की उज्यारी' में विशेष चमत्कार है। मतिराम के भाव में दासजी कोई अनूठापन नहीं ला सके, या यों कहें कि उन तक पहुँच ही नहीं सके। किंसुक के

फूलों के करनफूल शुक्लाभिसारिका के लिये कैसे उपयोगी हैं ? फिर 'कातिक की रजनी' में ताज़े फूल कहाँ से आए ? वसंत की चीज़ शरद् में कहाँ से आई ? शुक्लाभिसारिका के साथ भौंरों की भीड़ का होना भी अभिसार का साधक न होकर बाधक ही होगा। काले भौंरों से शुक्लाभिसारिका को अपने को छिपाने के उद्योग में बड़ा ही संकट उपस्थित हो गया है। माना कि भौंरों का होना पद्मिनी नायिका का बोध कराता है; पर इस स्थान पर उसका उल्लेख शुक्लाभिसारिका के लिये हितकर नहीं है। दासजी ने भौंरोंवाला भाव भी मतिराम से ही लिया है। यथा—

"पीछे-पीछे आवति अँधियारी-सी भँवर-भीर,
आगे-आगे फैलत उज्यारी मुख-चंद की ;"

पर वहाँ अभिसार गणिका का है, जिसे अपने छिपाने की उतनी आवश्यकता भी नहीं। अँधियाला और उजियाला पास ही कैसा मालूम पड़ता है। यह भी मतिराम ने दिखलाया है। आगे मुख-चंद्र की उज्ज्वलता है, तो पीछे भ्रमर-मंडली-कृत घनघोर तिमिर। इस विषमता को धन्य है !

मतिराम के मर्म को यथावत् न समझकर उनका अनुकरण करने में दासजी चूक गए। मतिराम का छंद दास के छंद से कहीं अच्छा है।

(२) **घाँघरे झीन सों, सारी महीन सों पीन नितंबन-भार उठै सचि;**
बास-सुबास, सिंगार-सिगारनि बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि।
स्वेद चले मुख-चंद ते च्वै, डग द्वैक धरै महि फूलन सों पचि;
जात है पंकज-बारि-बयारि सों वा सुकुमारि को लंक लला, लचि।"

(दास)

"चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है;

भार के डरन सुकुमारि चारु अंगन मैं
करत न अंगराग कुंकुम को पंक है।
'कबि मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप-मलीन होत बदन-मयंक है;
कैसे वह बाल लाल, बाहेर बिजन आवै,
बिजनि-बयारि लागे लचकत लंक है।"
(मतिराम)

दोनो ही कवियों ने नायिका की सुकुमारता को परा काष्ठा के दरजे तक दिखलाया है। दासजी के छंद में शृंगार का बोझ बढ़ जाता है; पर मतिरामजी के छंद में तो नायिका भार (बोझ) के डर से शरीर में अंगराग धारण ही नहीं करती। पहले छंद में नायिका दो-एक डग चलती तो है, पर दूसरे में तो वह भूमि पर चरण ही नहीं रखती है। दासजी के कथनानुसार दो-एक डग चलने से ही नायिका पसीने-पसीने हो जाती है; पर मतिरामजी की नायिका जिस कमरे में फूलों की शय्या पर विहार कर रही है, उसमें यदि खिड़की से कहीं थोड़ी-सी भी धूप आ जाती है, तो उसका चेहरा कुम्हला जाता है। खिड़की से आई हुई धूप की मामूली झलक भी नायिका को असह्य है। आतप से बदन-मयंक का मलिन होना कितना मर्मज्ञतामय है! धूप निकलते ही चंद्रदेव निष्प्रभ हो जाते हैं। एक कवि की नायिका की कमर पंखे की हवा से लचक जाती है, तो दूसरे की पंकज-वारि-बयारि से वही दशा होती है। पंकज-वारि-बयारि में शीतलता और सुगंधि भले ही हो; परंतु पंखे की सादी हवा से उसमें 'भारीपन' अवश्य ही कुछ अधिक होगा। इस दृष्टि से भी 'बिजन-बयारि' से लंक लचकना ही विशेष सुकुमारता दर्शित करता है। कविवर दासजी इस तुलना में भी मतिरामजी के पीछे ही रह गए।

मतिराम और तोष

मतिराम और तोष के भावों में भी कहीं-कहीं सादृश्य दिखलाई पड़ता है। तोषजी के 'सुधानिधि'-ग्रंथ में से संकलित करके दो-एक उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) **"यों 'मतिराम' भयो हिय मैं सुख बाल के बालम सों दृग जोरे;**
ज्यों पट मैं अति ही चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे।"
(मतिराम)

"करि जाय बड़ाई, तिती करियो, तब आय सुअंग मैं रंग मढ़ै;
बिन ढंग भटू, पट हू मैं जथा बिनु तीसरे रंग ना रंग चढ़ै।"
(तोष)

अंतिम पद ही दोनो उक्तियों की जान है। मतिरामजी का उक्त पद तोष के वैसे ही पद से कहीं अच्छा बन पड़ा है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं।

(२) **'कबि मतिराम' होत हाँतो ना हिए ते नैक,**
सुख प्रेमगात को परस अभिराम को;
ऊधो, तुम कहत, बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को।"
(मतिराम)

"'तोष' कबौ तन न्यारोई होत नहीं, ते कहूँ अब जाय सकैं जू;
साँचो सँजोग बियोग ही मैं, हम ऊधो, विभूति न लाय सकैं जू।"
(तोष)

तन्मयता की मात्रा मतिराम की उक्ति में विशेष है। गोपियाँ वियोग का अनुभव ही नहीं कर रही हैं, उन्हें तो संयोग-ही-संयोग दिखलाई पड़ता है। तोषजी के छंद में गोपियाँ वियोगावस्था को भूलती नहीं, पर उसे कारण-विशेष से संयोग से अच्छा समझती हैं। एक में संयोग-वियोग में कोई भेद नहीं रह जाता है, पर दूसरे में

भेद मौजूद रहते भी वियोग स्वीकार किया जाता है। दोनो ही उक्तियों में उद्धवजी का योग-उपदेश अस्वीकृत होता है।

(३) "जा दिन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है;
कहै 'मतिराम' छोड़े भूषन-बसन, पान,
सखिन सों खेलनि-हँसनि बिसराई है।
आई ऋतु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित्त,
ऐसे मैं चलौ, तौ लाल, रावरी बड़ाई है;
सोवति न रैन-दिन, रोवति रहति बाल,
बूझे ते कहति, सुधि मायके की आई है।"
(मतिराम)

"पीतम औधि गए बदि कै, जिय मैं तिय ता पर धीर न ल्याई;
रोज-हि-रोज सरोज-मुखी, कहि 'तोष', रहै करुना-रस छाई।
सोच-भरी क्यों रहै, सब बूझति सासु परोसिनि सौंह दिवाई;
बोलि मरू करि कै, मुख मोरि कै, मोहि तो माइके की सुधि आई।"
(तोष)

पति के परदेश जाने का इरादा करने तथा जा चुकने पर नायिका की जो दशा हुई है, वही क्रम से मतिराम और तोष* के छंदों में

*हिंदी-साहित्य के इतिहास में 'तोष' और 'तोषनिधि' एक ही कवि माने गए हैं, पर हमारी राय में 'तोष' और 'तोषनिधि' दो भिन्न-भिन्न कवि हैं। 'तोषनिधि' का बनाया महाभारत सार-नामक एक ग्रंथ 'रेहुआ' ज़िला सीतापुर-निवासी पिनाकी मिश्र के पास था। उनमें के बहुत-से छंद उन्होंने हमें लिखवा दिए हैं। उन छंदों में किसी-किसी में बजाय 'तोषनिधि' के 'मिश्रजू' सुकवि आया है, पिनाकीजी का कहना था कि हम कालपी में स्वयं एक खँडहर की दीवारें देख आए हैं, जिसे लोग तोषनिधि के मकान की दीवारें कहते हैं। 'तोष' कवि शुक्ल थे। सुधानिधि-ग्रंथ में उन्होंने अपते नाम का प्रयोग ३४१ बार किया है, मगर

वर्णित है। मतिराम का वर्णन स्वकीया और तोष का परकीया का है। हमारी राय में मतिराम का छंद हर तरह से तोष के छंद से अच्छा है। सहृदय पाठक इसका स्वयं निर्णय कर लें।

मतिराम और रघुनाथ

मतिराम के पूर्ववर्ती कई कवियों से उनकी कविता की तुलना पाठकों ने पढ़ी है। उनके परवर्ती कवियों की कविता भी भाव-सादृश्य से ख़ाली नहीं है। रघुनाथजी का रसिकमोहन एक परम प्रसिद्ध अलंकार-शास्त्र-संबंधी ग्रंथ है। इसके अनेकानेक छंदों में मतिराम के भावों की झलक है। रघुनाथजी के कोई-कोई छंद बड़े ही अनूठे बन

एक बार भी 'तोषनिधि' का प्रयोग नहीं किया। 'तोषनिधि' के नाम से जो छंद हैं, उनकी और 'तोष' के नामवाले छंदों की भाषा भी एक तरह की नहीं है। नवीन कवि और शिवसिंहजी ने भी तोष को तोष-निधि से पृथक् माना है। इन्हीं सब कारणों से हमारा मत यह है कि तोष सरयूपारीण ब्राह्मण शुक्ल थे, तथा 'तोषिनिधि' कान्यकुब्ज ब्राह्मण मिश्र। 'तोष सिंगरोर और तोषनिधि' कालपी के रहनेवाले थे। तोषनिधि का एक छंद नीचे दिया जाता है—

"सक्र जो न माँगि लेतो कुंडल-कँवच, पुनि
चक्र जो न लीलती धरनि रथ धारतो;
कुंती जो न सरन समेटि लेती, द्विजराज-
साप जो न होतो, सल्य सारथी निबाहतो।
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीत पटवारो बनि
सारथीपने को कछु कारज न सारतो;
तौ तौ बीर करन प्रतापी रबिनंदन सु
पांडु-सुत-सेना को चबेना करि डारतो।"

(तोषनिधि)

पड़े हैं, पर प्रतिशत इनका औसत बहुत ही कम है। इसके अतिरिक्त इनके छंदों में मुख्य भाव को पुष्ट करनेवाली सामग्री कम और भर्ती के पदों का बाहुल्य रहता है। मतिराम की कविता ठीक इसके विपरीत है। उनके उत्तम छंदों का प्रतिशत औसत बहुत अधिक है, और मुख्य भाव को पुष्ट करने की सामग्री की तो यह अवस्था है कि पद-पद का प्रयोग ख़ूब सोच-समझकर मुख्यार्थपरिपोषक ही होता है। व्यर्थ का पद ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त मतिरामजी की कविता में मधुरता की भी विशेषता है। रघुनाथजी ने अलंकारों के उदाहरण अवश्य ही बहुत साफ़ दिए हैं। ऐसी दशा में मतिरामजी रघुनाथजी से कहीं अच्छे कवि हैं। आइए, दोनो कवियों के कुछ छंदों की तुलना करें—

(१) **"सत्ता के सपूत भाऊ, तेरे दिए हलकनि**
बरनी उँचाई कबिराजन की मति मैं;
मधुकर-कुल करिनीन के कपोलन ते
उड़ि-उड़ि पियत पियूष उडुपति मैं।"
(मतिराम)

"छिन मैं महल बिसकरमै तैयार कीन्हो,
कहै 'रघुनाथ', कैयो जोजन के घेरे के;
अति ही बिलंद, जहाँ चंद में ते अमी चारु
चूसत चकोर बैठे ऊपर मुड़ेरे के।"
(रघुनाथ)

दोनो छंदों का भाव बिलकुल एक ही है। हथिनियाँ और महल दोनो हो इतने ऊँचे हैं कि चंद्रमा उनसे बहुत निकट रह जाता है। रघुनाथजी ने मतिरामजी का भाव लिया है। हमारी राय में 'चूसने' से 'पीने' का प्रयोग अच्छा है। हथिनियों के मद-मंडित कपोलों से आकृष्ट मधुकरों का उतनी उँचाई तक जाना तो ठीक है, पर तीतर-

जाति के बहुत ही कम उड़ सकनेवाले चकोर पक्षी के उतने ऊँचे पहुँचने का कोई पर्याप्त कारण रघुनाथजी ने नहीं दर्शाया। 'मुड़ेरे' के स्थान में यदि किसी 'कँगूरे', 'छतरी' इत्यादि का प्रयोग होता, तो और भी रमणीय होता। मतिराम का भाव हमारी राय में विशेष अच्छा है।

(२) "असरन-सरन के चरन-सरन तके,
त्यों ही दीनबंधु निज नाम की सुलाज की;
धाए रतिमान अति आतुर गोपाल, मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की।"
(मतिराम)

"कठिन समै बिचारि, साहस सों गयो हारि,
हरि-पद-ध्यान 'रघुनाथ' ज्यों ही सरज्यो,
असरन-सरन की बिरद-परज देखौ,
पहिले गरज भई, पीछे गज गरज्यो।"
(रघुनाथ)

मतिरामजी के वर्णन में 'चंचलातिशयोक्ति' और रघुनाथजी के वर्णन में 'अत्यंतातिशयोक्ति' है। पर रघुनाथजी ने भाव साफ़ ही मतिरामजी का लिया है। मतिरामजी का वर्णन-क्रम, छंद की बंदिश, अनुप्रास-न्यास तथा उक्ति की रमणीयता, ये सभी रघुनाथजी से बढ़कर हैं। सहृदय पाठक स्वयं निर्णय कर लें।

(३) "हीरन-मोतिनि के अवतंसनि सोने के भूषन की छबि छावै;
हार चमेली के फूलनि के तिनमैं रुचि चंपक की सरसावै।
अंग के संग तैं केसरि-रंग की अंबर सेत मैं जोति जगावै;
बाल छबीली छपाए छपै नहिं, लाल! कहौ, अब कैसेक आवै?"
(मतिराम)

"सोनजुही की ह्वै जाति है, माल बनायकै मालती की पहिराइए;
मोती के भूषन भूषिए जे, पुखराज के ते सिगरे कहि गाइए।

जोबन आवत लाली सरीर मैं, हे 'रघुनाथ' कहाँ लौं बताइए;
खौरि लगाइए चंदन की, अँग के सँग केसरि को रँग पाइए।"
(रघुनाथ)

दोनो कवियों के छंद तद्गुण-अलंकार के उदाहरण हैं। दोनो ही छंदों में मधुरता कूट-कूटकर भरी है। मतिरामजी के छंद में एक भी मीलित वर्ण नहीं आने पाया है। दो शब्दों को छोड़कर जिनमें चार या उससे अधिक अक्षर हैं, बाक़ी केवल दस शब्द तीन-तीन अक्षरों के हैं। सोलह शब्द केवल दो-ही-दो अक्षरों के हैं। आधे दर्जन के लगभग शब्द सानुस्वार हैं। हीरे-मोती के गहने सोने के समझ पड़ते हैं। सफ़ेद फूलों के हार पीले फूलों के मालूम होने लगते हैं। सफ़ेद कपड़े केसर-रंग से रँगे जान पड़ते हैं। शरीर की दीप्ति सभी पर अपना ही रंग जमा देती है। रघुनाथजी का छंद भी बड़ा ही अच्छा है, पर मतिराम के छंद को नहीं पाता।

मतिराम और पद्माकर

साधारण हिंदी-कविता पढ़नेवालों में सरल, विशेष अनुप्रासमयी तथा अधिक गंभीर न होने के कारण पद्माकरजी की कविता का मतिराम की कविता से कुछ विशेष आदर है। पद्माकर की कविता परम सराहनीय होते हुए भी मिठास, स्वाभाविक वर्णन-प्रवाह एवं गंभीरता-संयुक्त रमणीयता की दृष्टि से मतिराम का स्थान ऊँचा है। दोनो कवियों के प्रायः एक ही प्रकार के भाव तुलना के लिये उद्धृत किए जाते हैं—

(१) "निसि-दिन स्रौनन पियूष-सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर-ग्राम को;
तरनि-तनूजा-तीर, बन-कुंज, बीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखियत रूप छबि-धाम को।

'कबि मतिराम' होत हाँतो ना हिये तैं नेक,
सुख प्रेम-गात को परस अभिराम को;
ऊधो, तुम कहत, बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को।"
(मतिराम)

"प्रानन के प्यारे, तनु-ताप के हरनहारे,
नंद के दुलारे, ब्रजवारे उमहत हैं;
कहै 'पद्‌माकर', उरूझे उर-अंतर यों,
अंतर चहेहू ते न अंतर चहत हैं।
नैनन बसे हैं, अंग-अंग हुलसे हैं, रोम-
रोमनि रसे हैं, निकसे हैं, को कहत हैं ?
ऊधो, वै गोबिंद कोई और मथुरा मैं, यहाँ
मेरे तो गोबिंद मोहिं मोहि मैं रहत हैं।"
(पद्माकर)

दोनो छंदों में गोपियाँ वही बात उद्धवजी से कहती हैं। मतिरामजी के छंद में गोपियाँ विशेष घटना, विशेष अवसर और विशेष स्थान की रमणीयता का स्मरण रखती हुई अपनी उक्ति उपस्थित करती हैं, इसीलिये उसका हृदय पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अनुप्रास के पीछे 'दीवाने' न होते हुए इनकी रचना में जो स्वाभाविक प्रवाह और माधुर्य है, वह पद्माकर के छंद में नहीं है। पद्माकरजी के छंद में अनुप्रास का चमत्कार विशेष अच्छा है, तन्मयता भी ख़ूब है, पर कृत्रिमता भी आ गई है।

(२) "मानहु आयो है राज कछू, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा, 'मतिराम' हौ गाय चरावत चाढ़े।
मोतिन को मरो तोर्‌यो हरा, गहि हाथन सों रही चूनरी पोढ़े;
ऐसेहि डोलत छल भए, तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़े।"
(मतिराम)

"केसरि-रंग महाबरसै, सरसै रस-रंग अनंग-चमू के ;
धूम धमारन को 'पद्‌माकर' छाय अकास अबीर के मूके।
फाग यों लाड़िली की, तिहि मैं तुम्हैं लाज न लागत गोप कहूँ के ;
छैल भए छतिया छिरको, फिरो कामरी ओढ़े गुलाल के ढूके।"

(पद्माकर)

उपर्युक्त दोनो छंद बिब्बोक हाव के उदाहरण हैं। अभिमान-वश नायिका प्रिय का अनादर करती है। कृष्णचंद्र का 'गँवारपन', उनका गोप होना इत्यादि दर्शित किया गया है। मतिरामजी ने अपनी आडंबर-शून्य स्वाभाविक भाषा में एक 'छैल', उद्धत गोप का फ़ोटो ही खड़ा कर दिया है। पद्माकर के यहाँ केसर-अबीर का ऐसा बाहुल्य है कि सब कुछ उसी में छिप जाता है।

मतिराम और बेनीप्रबीन

कविवर मतिराम और बेनीप्रबीन के भावों में भी यत्र-तत्र सुंदर सादृश्य मौजूद है। उदाहरण के लिये केवल एक छंद दिया जाता है।

"कुंदन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई ;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई ?
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई ?
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैनन, त्यों-त्यों खरी निसरै-सी निकाई।"

(मतिराम)

"चंपक-सो तनु, नैन सरोज-से, इंदु-सो आनन, जोती सवाई ;
बिंब-से ओठ, लसै तिल-फूल-सी नासिका, स्वास सुबास सोहाई।
बाहैं मृनाल-सी, 'बेनीप्रबीन' उरोज उतंगन यों छबि छाई ;
ज्यों-ज्यों बिलोकिए जू प्रति अंगन, त्यों-त्यों लगै अति सुंदरताई।"

(बेनीप्रबीन)

यह स्पष्ट है कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव को देखकर ही अपने छंद की रचना की है। सुकवि मतिराम के छंद में सरसता, मधुरता और स्वाभाविकता छलकी पड़ती है। प्रथम पद में प्रतीप की प्रतिष्ठा से नायिका का गौर वर्ण नेत्रों के सामने नृत्य करने लगता है। द्वितीय पद को पढ़कर किसी की आलस-भरी आँखों और विलासमयी चितवन का अनुभव-सा होने लगता है। अत्यंत मृदुल स्वभावोक्ति की झाँकी है। मीठे-मीठे स्मित के वश कौन नहीं हो जाता ? तीसरे पद में लोकोक्ति के आश्रय से कवि ने नायिका की 'मुसकानि-मिठाई' का कैसा अनूठा चित्र खींचा है ! मिठाई का प्रभाव ही ऐसा है। कवि ने दूर से आपको नायिका के तप्त कांचन-सम गौर वर्ण, आलस-भरी, विलासमयी चितवन एवं मधुर मुस्किराहट के दर्शन करा दिए हैं। इनका आकर्षण स्वभावतः ऐसा है कि आप नायिका को निकट से देखने पर विवश हैं। बस, जैसे-जैसे आप उसे निकट से देखेंगे, तैसे-ही-तैसे आपको उसके अंग-प्रत्यंग की और भी अच्छाइयाँ स्पष्ट होती जायँगी। कितनी अच्छी स्वाभाविकता की बहार है ! बेनीप्रबीनजी के छंद में वह बात कहाँ है ; उन्होंने तो आरंभ से ही सब अंगों की नाप-जोख आरंभ कर दी है। कहीं शरीर चंपक से सदृशता पाता है, तो नेत्र कमलों की बराबरी करते हैं। इसी प्रकार आनन और इंदु, नासिका तथा तिल-फूल एवं बाहु और मृणाल का साम्य उपस्थित किया गया है। यहाँ कोरी उपमा की बहार है। उपमाएँ भी वे ही बहुप्रचलित हैं। चतुर्थ पद तो मतिराम के छंद की छाया का पूरा पता देता है। पर छाया छाया ही है, वह मूल के अनुरूप कैसे हो सकती है ? 'त्यों-त्यों लगे अति सुंदरताई', यह पद कुछ खटकता है। लगे का क्या अर्थ है, यह नहीं जान पड़ता है, अथवा लगै से नीकी लगे का अभिप्राय है ? हमें मतिराम के छंद में स्वाभाविकता और बेनीप्रबीन के छंद में कृत्रिमता

दिखलाई पड़ती है। परवर्ती कवि ने अनेक उपमाओं की चहल-पहल में मतिराम के भाव को छिपा डाला है।

मतिराम और शेक्सपियर

हिंदी-भाषा के मतिराम-जैसे सुकवियों के काव्य में अनेकानेक ऐसे भाव भी हैं, जो जगत्-प्रसिद्ध शेक्सपियर-जैसे महाकवियों की कविता में भी हैं। व्रज-भाषा-काव्य के समालोचक महानुभावगणों में से बहुत-से ऐसे भी हैं, जो उन्हीं भावों को शेक्सपियर में तो बड़े चाव से पढ़ते हैं, पर अपने यहाँ के श्रृंगारी कवियों में 'घृणित विचार' कहकर तिरस्कृत करते हैं। पुस्तक-कलेवर-वृद्धि के भय से विवश होकर यहाँ हम मतिराम और शेक्सपियर के भाव-सादृश्यों के दो ही एक उदाहरण देकर संतोष करते हैं।

रोमियो और जूलियट-नामक प्रसिद्ध नाटक में एक स्थान पर प्रणयी अपनी प्रणयिनी को हाथ पर कपोल रक्खे देखता है। उसके हृदय में एक अपूर्व भाव का उदय होता है। वह कहता है—

"अहा ! प्रियतमा कैसे अपने हाथों पर कपोल रक्खे हुए है। क्या ही अच्छा होता मैं उन हाथों का दस्ताना ही होता, जिससे मुझे कपोल-स्पर्श-सुख तो नसीब होता* ।"

शेक्सपियर के इस अनूठे भाव की प्रशंसा करनी ही पड़ती है, पर मतिरामजी ने इसी भाव को विशेष सहृदयता और मर्मज्ञता से वर्णित किया है।

गोपिका के मन में तप करने की धुन इसलिये समाई है कि दूसरे

---

* See, how she leans her cheek upon her hand !
O, that I were a glove upon that hand,
That I might touch that cheek !
(Shakespeare)

जन्म में वह वनमाल होकर श्रीकृष्णचंद्र के हृदय से लगी रहे, और मुरली-रूप में उनके अधरों का स्पर्श करती हुई अधर-रस-पीयूष पान करे। दस्ताना-रूप में कपोल-स्पर्श से वनमाला और मुरली-रूप में हृदय-संलग्नता और अधर-रस-पान में निराला ही स्वाद है—

"होते रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै;
ह्वै बनमाल हिए लगिए, अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै।"

महामति शेक्सपियर ने जूलियट की दशा का जो चित्र खींचा है, वह नितांत रमणीय अथच सराहनीय है। आश्चर्य की बात है कि ठीक ऐसा ही चित्र मतिराम ने भी बनाया है। पाठकगण दोनो ही चित्र साथ-साथ देखें।

"इस एकाकी नन्हे-से शरीर में नौका, समुद्र और तूफ़ान की अनुरूपता पाई जाती है। आँसुओं से परिपूरित और प्रवाहित नेत्र ही समुद्र हो रहे हैं। शरीर नौका के समान है, जो इस लावण्यमय जल में तैर रहा है। उसासों की आँधी से अश्रु और उनसे उसास परिपुष्ट होते हुए—विना शांति-व्यवधान के—जान पड़ता है, इस तूफ़ान के सताए शरीर को अभिभूत कर लेंगे*।"

(शेक्सपियर)

---

* In on little body,
Thou counterfeits a bark, a sea, a wind;
For still thy eyes which I may call the sea,
Do ebb and flow with tears; the bark thy
body is
Sailing in this salt flood; the winds, the sighs;
Who,—raging with thy tears, and they with them
Without a sudden calm, will overset
Thy tempest-tossed body.

(Shakespeare)

"बरखा-सी लागी निसि-बासर बिलोचननि,
बाढ़यो परबाह, भयो नावबि उतरिबो;
रह्यौ जात कौन पै सुकबि 'मतिराम' अब,
बिरह-अनल-ज्वाल-जालनि ते जरिबो।
जैयत समीप, तौ उड़ैयत उसासन सों,
हमको तौ भयौ उत हेरत हहरिबो;
कियो कहा चाहत, सो कहौ न कुँवर कान्ह,
रह्यौ अब वाको उपचारनि को करिबो।"
(मतिराम)

मतिराम के छंद में नौका-शरीर की कमी है, तो शेक्सपियर के वर्णन में विरहानल-ज्वाला का अभाव है। शेष सामग्री प्रायः समान ही है। विरह-निवेदन-रूप में सखी द्वारा नायिका की इस व्याधि-दशा का नायक से बड़ा ही अनूठा वर्णन है। इसमें स्वाभाविकता है। उधर शेक्सपियर ने जूलियट की वैसी दशा का वर्णन कैपूलेट से करवाया है। भारतीय समाज-आदर्श के अनुसार पिता अपनी पुत्री का वर्णन इस प्रकार करने में अक्षम है। बिहारीलाल ने अपने एक दोहे में इस भाव को खूबी से दिखलाया है—

"प्रगटयौ आगि बियोग की, बहयो बिलोचन नीर;
आठौ जाम हियो रहै उड़यौ उसास-समीर।
(बिहारी)

रवींद्रनाथ टैगोर और मतिराम

"जीवन-धन, मम प्रान-पियारो सदा बसत हिय मेरे;
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताको, कहा दूरि, कहँ नेरे।
आँखिन की पुतरिन मैं सोई सदा रहै छबि घेरे;
सुनन मधुर सुर गई दूरि कछलौटी अपने डेरे।

गाए गीत आपने मुख सों, सुने तासु सुर टेरे;
भिक्षुक-सम घर-घर तेहि खोजत मूरखता के चेरे।
हिय घुसि ताको, रूप बिलोकौ छलकत अँसुवन मेरे;
जीवन-धन, मम प्रान-पियारो सदा बसत हिय मेरे* ।"

(रवींद्रनाथ टैगोर)

ऊपर जो पद्य उद्धृत किया गया है, वह फ़ुटनोट में दिए अँगरेज़ी-पद्य का टूटा-फूटा अनुवाद है। प्रेमी को प्राण-प्यारा सर्वत्र सुलभ हो रहा है। उसकी आँखों के सामने उसी की मूर्ति नाचती है। अपने ही गीतों में उसे प्यारे का प्यारा स्वर सुन पड़ता है। उसे इस स्वर के सुनने के लिये दूर जाने की ज़रूरत नहीं। अन्य लोग जो उसे इधर-उधर खोजते फिरते हैं, उन्हें वह हँसता है। उसका कथन है कि प्रेमी के हृदय में उसकी खोज करनी चाहिए। प्यारे की मूर्ति तो प्रेमी के आँसुओं में ही पाई जाती है। टैगोर महाशय ने प्रेम-तन्मयता का बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा है, पर कविवर मतिराम

---

* "My beloved is ever in my heart,
That is why I see him everywhere.
He is in the pupils of my eyes,
That is why I see him everywhere.
I went far away to hear his own words,
But, ah, it was vain !
When I came back I heard them
In my own songs.
Who are you to seek him like a
beggar from door to door !
Come to my heart and see his face in
the tears of my eyes !"

(Rabindra Nath Tagore)

का चित्र इससे सुंदर है। वृंदावन का मनोहर दृश्य है। गोपीनाथ गोपियों को छोड़कर वृंदावन से मथुरा चले गए हैं, पर प्रेम-रंग में रँगी गोपियों को आज भी व्रजेश से वियोग नहीं समझ पड़ता है। श्रीकृष्ण की मधुर मुरली का सुखद संगीत आज भी उनके कर्ण-कुहरों में वैसा ही प्रविष्ट हो रहा है, कालिंदी-कूल के कुंजों में कुंजविहारी के आज भी वैसे ही दर्शन होते हैं। प्यारे के कोमल शरीर-स्पर्श का सुख आज भी उनके हृदयों को वैसे ही उल्लसित करता है, फिर क्या आवश्यकता कि कठिन तपस्या करके कृष्ण-प्राप्ति का कठोर प्रयास किया जाय ? क्या ही अनूठा भाव है !

"निसि-दिन स्रौनन पियूष-सो पियत रहै,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरी के सुर-ग्राम को;
तरनि-तनूजा-तीर, बन-कुंज, बीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखियत रूप छबि-धाम को।
'कबि मतिराम' होत हाँतो ना हिए तें नेक,
सुख प्रेम-गात को परस अभिराम को;
ऊधो, तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को।"

(मतिराम)

एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन होने से मतिराम के वर्णन में और भी उत्कृष्टता आ गई है।

इतिहास

कविवर मतिरामजी के 'ललितललाम'-ग्रंथ में अनेकानेक ऐसे वर्णन आ गए हैं, जिनका राजपूताने के प्रसिद्ध बूँदी-राज्य के इतिहास से संबंध है। जिन पाठकों ने बूँदी-राज्य का इतिहास नहीं देखा, उन्हें ऐसे वर्णन समझने में कठिनता होगी। इस कारण हम

यहाँ बूँदी-राज्य का थोड़े में ऐसा इतिहास दे देना उचित समझते हैं, जिससे 'ललितललाम' में आए हुए वर्णनों के समझने में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े ।

हाड़ा

राजपूतों की जो शाखा इस समय बूँदी-राज्य की अधिपति है, वह 'चौहान' नाम से जगत्प्रसिद्ध है । भारत के इतिहास में शूरता-वीरता के लिये अगर बूँदी के चौहानों के समान अन्य कोई राजपूत-वंश प्रसिद्धि प्राप्त कर सका है, तो वह उदयपुर का 'सिसौदिया' ही है । बूँदी के चौहानों के आदि-पुरुष का नाम 'अस्थिपाल' था । इनका यह नाम कैसे पड़ा, इस संबंध में कई कथाएँ कही जाती हैं, जिनका सारांश इतना ही है कि अस्थि शेष रह जाने के बाद देवी की कृपा से पुनः जीवन-लाभ करने के कारण यह 'अस्थिपाल' नाम से प्रसिद्ध हुए । अस्थि का पर्याय 'हड्डी' है, सो इनके वंशज बाद को 'हाड़ा' कहलाने लगे । मतिरामजी ने अपनी कविता में जिस 'हाड़ा' शब्द का व्यवहार बार-बार किया है, उसकी उत्पत्ति इसी प्रकार है । अस्थिपालजी के वंशज वीरसिंहजी ने, सं० १३०० के लगभग, 'मीना'-जाति के सरदार से 'बूँदी' छीन ली । तभी से वह चौहानों की राजधानी हुई ।

दीवान

वीरसिंहजी के वंशजों में नारायणदास बड़े ही शक्तिशाली और वीर पुरुष थे । यह चित्तौड़ के राणा के प्रधान सहायक थे । एक बार राणाजी का बाबर से युद्ध होनेवाला था, साथ में नारायणदास भी थे । बाबर की सेना को अधिक शक्ति-संपन्न समझकर राणाजी ने हट जाना ही मुनासिब समझा; पर नारायणदास को यह बात पसंद न आई । उन्होंने राणाजी से स्पष्ट कहा कि आप 'दीवान' पदवी न

लजाइए। तब राणाजी ने कहा कि यह 'दीवान' पदवी आप ही को मुबारक हो। नारायणदासजी ने निडर होकर कहा, ऐसा ही होगा, और युद्ध से नहीं हटे। उसी समय से बूँदी के महाराज लोग 'दीवान' कहलाते हैं। मतिरामजी ने जो राव भाऊ सिंहजी को बार-बार 'दीवान' लिखा है, वह बिलकुल उचित है। बूँदी के महाराजों के लिये 'दीवान' पदवी बड़े ही अभिमान की वस्तु है।

सुरजन

संवत् १६११ में बूँदी की राजगद्दी पर सुरजनजी बैठे। इनके समय बूँदी-राज्य की आशातीत उन्नति हुई। रणथंभोर-दुर्ग के संबंध में सम्राट् अकबर के साथ इनका घोर युद्ध हुआ; परंतु लाख उपाय करने पर भी जब अकबर को दुर्ग जीतने में सफलता न प्राप्त हो सकी, तो उसने संधि द्वारा इस कार्य को संपादन करने का विचार किया। इसके लिये जयपुर-नरेश भगवानदास और मानसिंह को दुर्ग में भेजा, और स्वयं भी वेष बदलकर उनके साथ गया। सुरजनजी अनुभवी और चतुर योद्धा थे। उन्होंने अकबर को पहचान लिया। यदि सुरजनजी उस समय चाहते, तो अकबर को बंदी कर सकते थे; परंतु उन्होंने वह काम किया, जिससे अकबर क्षण-भर के लिये किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। सुरजनजी ने अकबर की बाँह पकड़कर उसको अपने स्थान पर बैठा लिया। क्षण-भर में संधि की शर्तें तय हो गईं। उदार-हृदय अकबर ने बूँदी-नरेश की शर्तें स्वीकार करके राजपूताने के इस प्रभावशाली राज्य को सदा के लिये अपना वशवर्ती बना लिया। यहाँ के नरेशों की बदौलत आगे चलकर मुग़ल-बादशाहों को बड़े-बड़े लाभ पहुँचे। सुरजनजी की जो शर्तें अकबर ने स्वीकृत की थीं, वे ये हैं—

(१) हम (सुरजन) अपनी लड़की बादशाह को न देंगे।

(२) हमारे रनिवास की स्त्रियाँ नौरोज़ पर बादशाह के ज़नाने में न जायँगी।

(३) अटक-नदी पार करने का दबाव हम पर न डाला जायगा।

(४) हम बादशाह के आम और खास दरबार में शस्त्र बाँधकर आ सकेंगे।

(५) दिल्ली-नगर और लालकोट तक हमारा नक़्क़ारा बजेगा।

(६) हमारे घोड़ों पर दाग़ न लगेंगे।

(७) हम किसी राजा के अधीन होकर युद्ध में न जायँगे।

(८) हमसे जज़िया न लिया जायगा।

(९) हमारे पवित्र मंदिरों की प्रतिष्ठा की जायगी।

(१०) जैसे दिल्ली बादशाह के लिये है, वैसे बूँदी हाड़ों के लिये रहेगी।

कुछ इतिहासज्ञ बूँदी के इस सुलहनामे को जाली बतलाते हैं।

रावराजा

इन शर्तों को मानकर अकबर ने सात परगने सुरजनजी को दिए। इन्होंने भी बादशाह की इच्छा के अनुकूल रणथंभोर का क़िला खाली कर दिया। इसके बाद सुरजनजी ने बादशाह के लिये गोंडवाना विजय किया। बादशाह ने प्रसन्न होकर इनको 'रावराजा' की पदवी दी, और बहुत से नए परगने इनके सिपुर्द कर दिए, जिसमें काशी भी सम्मिलित था। काशी के इनके अधीन हो जाने से धार्मिक हिंदुओं को बड़ा सुबीता हो गया। इनका शासन न्याय, उदारता और दया के लिये प्रसिद्ध है। इन्होंने काशी में २० घाट और ४४ मंदिर बनवाए, जिनमें राजमंदिर परम प्रसिद्ध है। इन वीर, धर्मात्मा और न्यायी राजा का स्वर्गवास सं० १६४१ में काशी में ही हुआ।

सुरजनजी के विषय में जो कुछ इतिहास कहता है, प्रायः वही कविवर मतिरामजी ने अपने ढंग से कहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मतिराम-कृत सुरजन-प्रशंसा कोरी प्रशंसा ही न थी, वरन् रावराजा सुरजनजी उस प्रशंसा के पूर्णतया उपयुक्त पात्र थे। मतिरामजी कहते हैं—

"एक धर्म-गृह-खंभ, जंभ-रिपु-रूप अवनि पर ;
एक बुद्धि - गंभीर, धीर, बीराधिबीरबर।
एक ओज - अवतार, सकल सरनागत-रक्षक ;
एक, जासु करवाल सकल खल-कुल कहँ तक्षक।"
"मतिराम' एक दातानि-मनि जग जस अमल प्रगट्टियउ ;
चहुवान - बंस - अवतंस इमि एक राव सुरजन भयउ।"

युद्ध में अकबर बादशाह के दाँत खट्टे करनेवाला, गोंडवाने का विजेता यदि 'ओज-अवतार' कहा जाय, तो बड़ी भारी अतिशयोक्ति नहीं ठहरती। अकबर को वश में पाकर भी उसके साथ वीरोचित बर्ताव, संधि की शर्तों में प्राप्त आत्मसम्मान और धर्म-प्रेम तथा काशी-शासन में न्याय के सत्कार के कारण सुरजनजी को 'धर्म-गृह-खंभ', 'बुद्धि-गंभीर' आदि विशेषणों का उपयुक्त पात्र मानना पड़ेगा। उनके लिये मतिरामजी का यह पद समुचित ही है—

"दुरजन - बधू - उरजन को सिंगार-हर
ऐसो जस गावैं सुर-जन सुरजन को।"

भोज

रावराजा सुरजन की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र भोजजी बूँदी के सिंहासन पर बैठे। इनका शासन-काल सं० १६४२-१६६४ है। यह बड़े ही वीर पुरुष थे। चाँद सुलतान का दर्प-दलन करने के उपलक्ष्य में बादशाह अकबर का बनवाया 'भोज-बुर्ज' आज भी अहमदनगर

(दक्षिण) में रावराजा भोज के अपूर्व वीरत्व का स्मरण कराता है। इन्होंने भी अकबर से कई मार्के की शर्तें करवाई थीं। यह बड़े ही साहसी और दृढ़-चित्त थे। अकबर की एक परम प्रिय हिंदू-बेगम के मर जाने पर बादशाह का हुक्म हुआ कि सब लोग शोक प्रकट करने के लिये दाढ़ी-मूछ मुड़ा डालें। उस समय दिल्ली में अनेकानेक हिंदू-नरेश उपस्थित थे, पर किसी को भी साहस न हुआ कि बादशाह की इस अनुचित आज्ञा का विरोध करें। सभी ने मूछ-दाढ़ी मुड़ा डाली। रावराजा भोज को यह बात बहुत आपत्ति-जनक जान पड़ी। उन्होंने दाढ़ी-मूछ मुड़ाने से साफ़ इनकार कर दिया। कहते हैं, यह खबर सुनकर अकबर बहुत ही अप्रसन्न हुआ, परंतु भोजजी के विरुद्ध कोई कारखाई न की। इस घटना का अवलंब लेकर मतिरामजी ने 'ललितललाम' में दो बड़े ही ओज-पूर्ण छंद लिखे हैं।

रावराजा भोज ने मूछें नहीं मुड़ाई थीं, उनके मुख पर काली-काली मूछें विराजमान थीं, किंतु मुख-मंडल क्रोध से रक्त वर्ण हो रहा था। इधर और नृपतियों के मुख-मंडल मुच्छ-विहीन थे, इसलिये मूछों की स्याही का चेहरे पर पता न था। रावराजा के मुख पर स्याह मूछें रहते हुए भी उनके चेहरे पर लाली देखकर और राजाओं के चेहरे, जो मूछें मुड़ी होने के कारण स्याही से हीन थे, श्याम-रंग हो गए, अर्थात् उन पर अपमान और लज्जा की स्याही दौड़ आई। स्वयं मतिरामजी के शब्दों में—

"जेते ऐंड़दार दरबार-सरदार, सब-
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो;
'मतिराम' कहै, करवार के कसैया केते,
गाड़र-से मूड़े, जग-हाँसी को प्रसंग भो।
सुरजन-सुत रज-लाज - रखवारो एक
भोज ही तैं साह को हुकुम-पग पंग भो;

**मूछन सों राव-मुख लाल रंग देखि, मुख
औरन को मूछन बिना ही स्याम रंग भो।"**

ऐसे अवसर पर केवल बादशाह के कह देने-मात्र से मूछें मुड़ा डालना वास्तव में बड़े ही अपमान की बात थी। जिन राजों ने ऐसा किया, उनकी हया (लज्जा) मानो नष्ट हो गई। अकेले भोजराज ने मूछें न मुड़ाकर मानो राजपूती लज्जा की रक्षा की। लज्जा बेचारी को एकमात्र भोज ही की मूछों में आश्रय मिला। लज्जा का सारा भार उन्हीं की मूछों को उठाना पड़ा। फिर भी बात बड़ी अद्भुत हुई। भोज का मुख लज्जा के भार से झुक जाना चाहिए था, पर वह सीध रहा, विपरीत इसके और नृपतियों के मुख, जो मूछ मुड़ाने के कारण लज्जा-भार से हलके हो रहे थे, नीचे को झुक गए। कैसी मर्मस्पर्शिनी और चतुराई से भरी असंगति है—

**"दारुन तेज दिलीस के, बीरन काहू न बंस के बाने बजाए;
छोड़ि हथ्यारन, हाथन जोरि तहाँ सबही मिलि मूँड़ मुड़ाए।
हाड़ा हठी रह्यो ऐंड़ किए, 'मतिराम' दिगंतन मैं जस छाए;
भोज के मूछन लाज रही, मुख औरनि लाज के भार नवाए।"**

रतन

संवत् १६६४ में रावराजा भोज का स्वर्गवास हो गया, और उनके पुत्र रावराजा रत्नसिंह बूँदी के सिंहासन पर आ विराजे। यह दिल्लीश्वर जहाँगीर के परम कृपा-पात्र थे। उसने इनको अपने रोज़-नामचे में सर बुलंदराय के नाम से संबोधित किया है। सर बुलंदराय का अर्थ है, सबके सामने सिर ऊँचा रखनेवाला, किसी को भी सिर न झुकानेवाला। रावराजा रत्नसिंह के समय में बूँदी और दिल्ली में बड़ा मेल रहा। दक्षिण के निज़ामशाही, कुतुबशाही आदि पठान राज्यों और मुग़लों में छेड़छाड़ होती ही रही, तथा दिल्लीश्वर की

ओर से रावरत्न वहाँ के नरेशों को सदा दबाते रहे। इसी को लक्ष्य करके मतिरामजी ने कहा है—

"बंस बारिनिधि-रतन भो रतन भोज को नंद,
साहनि सों रन-रंग मैं जीत्यो बखत बलंद।"

जहाँगीर-पुत्र ख़ुर्रमसिंह ने जब अपने पिता के विरुद्ध बग़ावत का झंडा उठाया, तो शाहज़ादे के दमन करने का भार बादशाह ने रावरत्न को ही सौंपा। उन्होंने इस काम को भी बड़े ही कौशल से पूर्ण किया। रावरत्न के पुत्र गोपीनाथजी थे। यह बड़े ही उदार और वीर थे। इनका एक ब्राह्मणी से अनुचित प्रेम था। ब्राह्मणी के पति ने एक दिन राजकुमार को अपने घर में स्त्री के साथ देख लिया। क्रोध के वशीभूत होकर उसने तत्काल उनकी हत्या कर डाली। रावरत्नजी को अपने एकमात्र पुत्र की ऐसी मृत्यु पर शोक तो बहुत हुआ, परंतु इस मामले में उन्होंने अपने पुत्र का ही दोष समझकर ब्राह्मण को किसी प्रकार का दंड न दिया। न्याय-प्रियता में ऐसे उदाहरण थोड़े ही मिलेंगे। यदि ऐसे उदार और ऊँचे भाव सत्ययुगी कहे जायँ, तो अनुचित न होगा। जान पड़ता है, बूँदी-नरेशों के ऐसे ही वीरोचित कार्यों का स्मरण करके मतिरामजी ने कहा था—

"जगत-बिदित बूँदी नगर सुख-संपति को धाम;
कलिजुग हूँ मैं सत्यजुग तहाँ करत बिसराम।"

रावरत्न ने दिल्लीश्वर से यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि उनके शिविरों के निकट गोवध न होने पाएगा। यह बड़े ही गोभक्त थे। उनके गोरक्षा-संबंधी कामों के विषय में मतिरामजी ने लिखा है—

"जोर दल जोरि साहिजादो साहिजहाँ जंग,
जुरि मुरि गयो, रही राव मैं सरम-सी;
कहै 'मतिराम', देव-मंदिर बचाए जाके,
बर बसुधा मैं बेद-स्रुति-बिधि यों बसी।

जैसो रजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा,
ऐसो और दूसरो भयो न जग मैं जसी;
गायनि को बकसी कसायनि की आयु सब,
गायनि की आयु सो कसायनि को बकसी।"

रावरतनजी का संवत् १६८८ में स्वर्गवास हो गया। पुत्र गोपीनाथजी का देहांत तो पहले ही हो चुका था, इसलिये पौत्र छत्रसाल या शत्रुशल्यजी बूँदी के राजसिंहासन पर बैठे।

छत्रसाल

छत्रसालजी बड़े ही वीर पुरुष थे। इन्होंने ५२ लड़ाइयों में भाग लिया था। इनके वीरता के काम सुनकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। इनका यशोविस्तार 'शत्रुशल्य-चरित्र'-नामक संस्कृत ग्रंथ में खूब हुआ है। कविवर 'भूषण' एवं 'लाल' ने भी कई छंदों द्वारा इनकी प्रशंसा की है। मतिरामजी के आश्रयदाता राव भावसिंहजी के तो यह पिता ही थे। ललित ललाम में इनकी प्रशंसा के कई छंद हैं। औरंगज़ेब और दाराशिकोह में दिल्ली के तख्त के लिये जो घोर युद्ध हुआ था, उसमें सम्राट् शाहजहाँ की आज्ञा से यह दारा की ओर से लड़े थे। उस भीषण लड़ाई में जब दारा की सेना भाग निकली, तब इन्होंने औरंगज़ेब से डटकर लड़ाई की, और प्राण रहते उसे आगे न बढ़ने दिया। अंत में जब यह युद्ध-स्थल में मारे गए, तब कहीं विजयलक्ष्मी औरंगज़ेब के हाथ आई। इनके शत्रु भी इनकी वीरता की प्रशंसा करते थे। राजपूताने के इतिहास में इनके जोड़ के वीर दो ही चार मिलेंगे। ऊपर जिस भयंकर युद्ध का उल्लेख हुआ है, उसी को लक्ष्य करके कविवर मतिरामजी कहते हैं—

"औरँग-दारा जुरे दोउ युद्ध, भए भट क्रुद्ध बिनौद-बिलासी;
मारू बजै, 'मतिराम' बखानै, भई अति अस्त्रनि को बरषा-सी।

नाथ-तने तिहि ठौर मरचो, जिय जानिकै छत्रिन को रन कासी;
सीस भयो हर-हार-सुमेरु, छता भयो आपु सुमेरु को बासी।"

रख:स्थल में लोहू बरसाकर शत्रुशाल ने जिस प्रकार 'रजपूती' की रक्षा की, उसका वर्णन भी मतिरामजी ने 'विरोधाभास' के उदाहरण में ख़ूब किया है। 'रज' का अर्थ 'धूल' और 'रजोगुण' (रजपूती) है। रणांगण में लोहू की वर्षा के बाद भी रज का रह जाना विरोधाभास है, क्योंकि आर्द्र लोहू 'रज' को अवश्य बिठाल देगा, पर यहाँ 'रज' का अर्थ 'रजोगुण' का होने से प्रत्यक्ष विरोध नहीं रह जाता। मतिरामजी कहते हैं—

"दोऊ जुरे सहजादन के दल, जानत है सगरो जग, साखी;
मारू बजे, रस बीर छके, बर बीरन कीरति बड़ी अभिलाखी।
नाथ-तनै करतूति करी, जग-जोति जगी, 'मतिराम' सुभाखी;
स्रोनित बैरिन को बरसायकै राव सता रन मैं रज राखी।"

शत्रुशालजी को इमारत का भी बड़ा शौक़ था। इन्होंने बूँदी के राजमहलों की अपूर्व श्री-वृद्धि की। इनका बनाया 'छत्र-महल' बड़ा ही विचित्र है। अनेक पाषाण-मूर्तियाँ, सरोवर और कूप आदि भी इन्होंने निर्माण कराए थे। इनका देहांत सं० १७१५ में हुआ, और इनके पुत्र राव भावसिंहजी उसी वर्ष बूँदी के राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुए। इन्हीं राव भावसिंहजी के आश्रित कविवर मतिरामजी थे, और 'ललितललाम' इन्हीं के आदेश से निर्मित हुआ। भावसिंहजी का शासन-काल स० १७१५ से १७३८ तक है। मतिरामजी ने भावसिंहजी को कई जगह 'बलाबंध'-पति कहा है। मेहता लज्जारामजी ने अपने 'पराक्रमी हाड़ाराव'-नामक ग्रंथ के पृष्ठ २६५ पर 'बलाबंध' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"बलाबंध=आड़ाबला। वह पहाड़ी सिलसिला, जो बूँदी के राज्य में ओर से छोर तक निकल गया है।"

भावसिंहजी-विषयक मतिराम के छंदों की संख्या 'ललित ललाम' में ६० है। कवि के वर्णनों और इतिहास को मिलाने से यह बात प्रमाणित होती है कि मतिराम का वर्णन प्रायः संतोषप्रद है। मतिरामजी ने भावसिंहजी को जैसा कुछ दिखलाया है—उनके वर्णनों में जहाँ-जहाँ ऐतिहासिक तथ्य हैं, उनका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

राव भावसिंह (संवत् १७१५–१७३८)

शत्रुशाल के पुत्र भावसिंह इस संसार में हिंदुओं की ढाल के समान थे। मुसलमानी मत का ऐसा प्रबल तिमिर छाया हुआ था कि श्रुति-धर्म-पथ के पथिकों को मार्ग ही नहीं सुझाई पड़ता था। ऐसे समय में भावसिंह का उदय दिनकर के समान हुआ। वह सच्चे बलाबंध-पति थे। शांति और युद्ध, दोनो में ही उनका समान भाव से यश था। शांति में उनके दान की चर्चा थी, तो युद्ध में कृपाण की। सुकवि मतिराम ने इन्हीं भावसिंह की प्रसन्नता के लिये 'ललित-ललाम'-ग्रंथ की रचना कर डाली*। प्रचंड मार्तंड के उदय होने पर तालाबों का जल सूख जाता है। किसी विशेष गहरे जलाशय में ही उसकी स्थिति रह जाती है। दिल्लीश्वर औरंगज़ेब के आतंक के सामने इसी प्रकार से सारे राजों की बहादुरी भाग गई थी। वह

---

* ललितललाम के छंद-नं० ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८१, ८७, ८९, ९२, ९४, ९६, ९८, १००, १०२, १०४, १०६, १०९, १११, ११२, ११५, ११७, ११९, १२०, १३५, १३८, १४६, १४९, १६०, १६१, १६३, १७०, १७२, १८१, १८४, १८८, १९०, १९२, १९७, १९९, २०७, २१४, २१६, २२२, २७९, २८३, २९२, २९४, ३००, ३०४, ३०६, ३१०, ३१८, ३२०, ३७३, ४१६, ४२१, ४३३, ४४१ और ४४३ का सारांश।

सब अब भावसिंह में ही आकर ठहरी थी। भावसिंह दान की दृष्टि से कल्पद्रुम के समान थे। वह समर से हटते न थे। उनमें ज्योति थी, तेज और प्रभाव था। अपने प्रण-प्रतिपालन में वह सच्चे थे, उनका मन शुद्ध और सरल था। वह धन-धान्य से परिपूर्ण थे, और उनका प्रताप सार्वभौम था। राजाओं में भावसिंह की अच्छी शोभा थी। उनका वंश, मन, हृदय और ऐश्वर्य, सभी महान् थे। भावसिंह के समान भावसिंह ही थे। जैसे उनका मन उच्च था, वैसे ही दान देने में भी वह मुक्तहस्त थे। उनकी समता दिल्लीश्वर से ही की जा सकती थी। बड़ों की समता बड़ों से करना ही ठीक है। भावसिंह की दानशालीनता के आगे बड़ी-बड़ी मनोकामनाओं को पूरी करनेवालों का मस्तक झुक जाता था। इनके आश्रय में बड़े-बड़े लोगों को स्थान मिला था। इनके सैन्य दल के हाथी क्या थे, चलते-फिरते पहाड़ थे। उनको देखकर मेघ-माला का धोका होता था। यह अपने पूर्ण प्रताप से मध्याह्न-काल के सूर्य के समान तपते थे, पर ब्राह्मणों पर इनका अनुग्रह रहता था। इन्होंने बड़े-बड़े गज-दान दिए। अपनी-अपनी भावना के अनुसार लोग इनको भिन्न-भिन्न प्रकार से देखते थे। कुछ लोगों को इनके इंद्र महाराज होने का धोका होता था। भावसिंह या तो अपने हाथियों की सेना से शत्रु का पराभव करते थे या कविराजों को पुरस्कार में बड़े-बड़े गज-दान दे दिया करते थे। इनका यश बहुत दूर तक फैला था। यह भक्त भी बड़े अच्छे थे। इनके हाथी डीलडौल में बड़े ऊँचे थे। इन हाथियों को देखकर बड़े-बड़े मनसबदारों को लालच लगता था, पर कविराजों को ऐसे हाथी सहज ही में मिल जाते थे। अपनी इज़्ज़त बचाने के लिये बादशाह ने शिवाजी के मुक़ाबले में इन्हीं को भेजा था। यह दान देने में हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव न रखते थे। कवि लोग इनका यश वर्णन करके अपने को धन्य मानते थे। हाड़ाओं के योग्य

वंशधर भावसिंह को समर में सदा विजय प्राप्त होती थी। इनकी समर-यात्रा का बड़ा आतंक था, पर इनका यशःसौरभ परम सुगंधमय था। शत्रु लोग स्वयं आ-आकर इनकी अधीनता स्वीकार कर लिया करते थे। इनकी धार्मिक वृत्ति भी सराहनीय थी। अपने पवित्र चरित्र से यह राजर्षि-पद के अधिकारी थे। शत्रुशाल-पुत्र युवा, नवल भावसिंह का सुयश नित्य नया दिखलाई पड़ता था। इनके राज्य में अनुचित बातों का ही अभाव दिखलाई पड़ता था। इनके शत्रु या तो इनकी अधीनता स्वीकार करते या पराजित होते थे। इनके पास सभी प्रकार के हाथी थे। इन्होंने कभी किसी से दबना स्वीकार नहीं किया। इनके यहाँ रोशनी का बड़ा अच्छा प्रबंध था। इनके नाम के भावसिंह शब्द सार्थक थे। कविवर मतिराम ने 'ललित ललाम' के अंत में बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में इन्हें आशीर्वाद दिया है।

मतिराम का वंश-परिचय

महाकवि मतिराम के वंश आदि के विषय में अब तक जो मत प्रचलित है, उसका सारांश यह है कि ये चार सगे भाई टिकमापुर, ज़िला कानपुर के रहनेवाले थे। चारो भाइयों के नाम भूषण, मति-राम, चिंतामणि तथा जटाशंकर हैं। इनके पिता का नाम रत्नाकरजी था, और ये चारो पुत्र श्रीदेवीजी के आशीर्वाद से हुए थे। भूषणजी ने देवीजी पर अपनी जिह्वा चढ़ाकर कवित्व-शक्ति प्राप्त की थी। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, और इनका जन्म कश्यप-गोत्र में हुआ था, तथा ये 'त्रिपाठी'-उपाधि से विभूषित थे। कुल, गोत्र एवं पिता के नाम आदि की पुष्टि शिवराजभूषण के निम्न-लिखित दोहे से होती है—

"दुज कनौज, कुल कस्यपी, रत्नाकर-सुत धीर;
बसत त्रिबिक्रमपुर सदा तरनि-तनूजा-तीर।"

इस दोहे में इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं है कि भूषण के

भाइयों में मतिराम, चिंतामणि तथा जटाशंकर भी थे। फिर भी हिंदी के विद्वानों में यह बात बहुत काल से ऐसी ही प्रसिद्ध है। कुछ मत देखिए—

१. **वंश-भास्कर** (सूर्यमल्ल)—

भूषण
मतिराम
चिंतामणि

यथा—"जेठो भ्रात भूषण रु मध्य मतिराम, तीजो चिंतामनि बिदित भए ये कविता-प्रबीन।" "बुँदेलन भूमै ब्रज-भाषा कबि बिप्र तीन।"

२. **पराक्रमी हाड़ाराव** (लज्जाराम मेहता)—

भूषण
मतिराम
चिंतामणि

३. **मुंशी देवीप्रसादजी** (मुंसिफ़, जोधपुर) के १४—५—२१ के पत्र का अंश—"भूषण बड़ा, मतिराम छोटा और सबसे छोटा चिंतामणि यह मैंने भी सुना है।"

४. **मनोहरप्रकाश** (रसराज की टीका), सं० १९५२ का छपा, हरिदान-कृत—"ईश्वर-इच्छा से ऐसा ही हुआ, तब उन चारो के नाम (१) चिंतामणि, (२) भूषण, (३) मतिराम और (४) जटाशंकर रक्खे गए।"

५. **शिवसिंहसरोज़** सं० १९३४ का छपा, शिवसिंह-कृत—(१) चिंतामणि, (२) भूषण, (३) मतिराम, (४) जटाशंकर।

६. **मिश्रबंधु-विनोद और हिंदी-नवरत्न** (मिश्रबंधु)—

चिंतामणि
भूषण

मतिराम

जटाशंकर

उपर्युक्त सम्मतियों के अनुसार केवल दो बातों में मतभेद है—एक तो नं० १, २ और ३ के मतानुसार जटाशंकर का नाम नहीं लिया गया है। केवल भूषण, मतिराम और चिंतामणि भाई माने गए हैं। दूसरे, अंतिम तीन सम्मतियों के अनुसार चिंतामणि सबसे बड़े थे; पर पहली तीन सम्मतियों के अनुसार चिंतामणि सबसे छोटे और भूषण सबसे बड़े माने गए हैं। पर इन सब सम्मतियों में इस बात का ऐकमत्य है कि भूषण, मतिराम तथा चिंतामणि सगे भाई थे। यह स्मरण रहे कि इन सम्मतियों का एकमात्र आधार किंवदंती है। स्वयं भूषणजी इस भ्रातृसंबंध के विषय में कुछ नहीं कहते।

मतिरामजी के वंश में बिहारीलाल नाम के एक परम प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। शिवसिंहसरोज के पृष्ठ ४४४ पर इनके विषय में लिखा है—"३ लाल कवि ३ बिहारीलाल त्रिपाठी टिकमापुरवाले सं० १८८५ में। ये कवि मतिराम-वंशी कवि बड़े भारी कवि थे। इस कुल में इन्हीं तक कविता रही। पीछे जो रामदीन, शीतल इत्यादि हुए, वे सामान्य कवि थे।" पृष्ठ २७६ पर इन कवि के चार छंद भी उद्धृत किए गए हैं। शिवसिंहजी ने बिहारीलाल का जो उत्पत्ति-काल माना है, वह अशुद्ध है। आगे का वर्णन पढ़ने स यह बात स्पष्ट हो जायगी। बिहारीलालजी चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के राजकवि थे। इन नृपति का शासन-काल १८५५ से १८८५ तक रहा है। यह स्वयं कवि थे। इन्होंने विक्रम-सतसई नाम की एक कविता-पुस्तक लिखी थी। बिहारीलाल ने इस पुस्तक पर रस-चंद्रिका नाम की एक टीका लिख डाली। इस टीका-ग्रंथ में उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"बसत त्रिबिक्रमपुर-नगर कालिंदी के तीर;
बिरच्यो भूप हमीर जनु मध्य देस को हीर।

भूषन-चिंतामनि तहाँ, कबि-भूषण मतिराम—
नृप हमीर-सनमान ते कीन्हें निज-निज धाम।
है पंती मतिराम के सुकबि बिहारीलाल;
जगन्नाथ-नाती बिदित, सीतल-सुत, सुभ चाल।
कस्यप-बंस, कनौजिया, बिदित त्रिपाठी गोत;
कबिराजन के बृंद में कोबिद सुमति-उदोत।
बिबिध भाँति सनमान करि ल्याए चलि महिपाल;
आए बिक्रम की सभा सुकवि बिहारीलाल।"

इस टीका का रचना-काल निम्न-लिखित दोहार्द्ध से प्रकट है—

"दृग२, मुनि७, बसु८, ससि१, वर्ष में, सिद्धि सोम, मधु-मास।"

सो यह रस-चंद्रिका संवत् १८७२ में बनी थी। इसके रचयिता के मतानुसार मतिरामजी के पुत्र का नाम जगन्नाथ, पौत्र का शीतल तथा प्रपौत्र का बिहारीलाल था। नवीन कवि ने भी बिहारीलाल को मतिराम का वंशज माना है। नवीन और बिहारीलाल का समय बहुत पास-पास है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि शिवसिंहजी का दिया संवत् अशुद्ध है। उनका यह लिखना भी ठीक नहीं कि शीतल बिहारी के बाद के कवि हैं। इस वर्णन के अनुसार तो वह बिहारी के पिता थे। शिवसिंहसरोज के पृष्ठ ४३६ पर जिन रामदीन त्रिपाठी का उल्लेख है, वह संभवतः इन्हीं बिहारीलाल के पुत्र थे। यह सब होते हुए भी बिहारीलाल ने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं लिखी है कि भूषण और चिंतामणि मतिराम के भाई थे। उनके वर्णन से तो यही ध्वनि निकलती है कि ये तीन कवि कहीं दूसरे स्थान से लाकर यहाँ सम्मान पूर्वक हमीर राजा द्वारा बसाए गए थे, और इन्होंने अपने-अपने घर यहाँ बना रक्खे थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन तीनों कवियों के घर अलग-अलग थे। ये भाई थे या नहीं, इस संबंध में बिहारीलाल भी कुछ नहीं कहते। जटाशंकर का इन्होंने भी उल्लेख

नहीं किया। जो हो, इस वर्णन से इतना पता अवश्य चलता है कि मतिराम, भूषण और चिंतामणि एक ही जगह—टिकमापुर में—रहते थे। उपर्युक्त उद्धरण हमें सं० १९७९ के 'कवि'-नामक मासिक पत्र के तृतीय वर्ष की ज्येष्ठवाली तृतीय संख्या में मिला है।

अच्छा, तो ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे जान पड़ता है, भूषण कश्यप-गोत्री त्रिपाठी और टिकमापुर के रहनेवाले थे, तथा मतिराम भी कश्यप-गोत्री त्रिपाठी और टिकमापुर के रहनेवाले थे, एवं चिंतामणि भी टिकमापुर के रहनेवाले थे; पर क्या वे कश्यप-गोत्री त्रिपाठी भी थे ? पं० मयाशंकरजी याज्ञिक को चिंतामणि-कृत रामाश्वमेध के आदि के कुछ पृष्ठ मिले हैं, उनमें कवि-वंश का भी कुछ अंश है, पर पूरा नहीं। यदि आगे के पृष्ठ मिल जायँ, तो सब बातें ठीक-ठीक मालूम हो जायँ। फिर भी अब तक जितना अंश मिला है, उससे यह स्पष्ट है कि चिंतामणि कान्यकुब्ज कश्यप-गोत्री मनोह के तिवारी थे। सो चिंतामणि को भी कश्यप-गोत्री त्रिपाठी और टिकमापुर का रहनेवाला मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

ज़िला हरदोई में क़स्बा बिलग्राम चिरकाल से प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन काल से बड़े-बड़े गुणी उत्पन्न होते आए हैं। यहीं के विद्वान् ग़ुलामअली नाम के एक सज्जन ने संवत् १८१० में 'तज़किरा सर्व आज़ाद हिंद'-नामक एक फ़ारसी-ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ 'कुतुब-ख़ाना आसफ़िया हैदराबाद दक्खिन' की ओर से प्रकाशित भी हो गया है। मीर जलील नाम के एक और मुसलमान सज्जन बिलग्राम में हो गए हैं। यह हिंदी के कवि थे। ग़ुलामअली इन्हीं मीर जलील के भांजे थे। बिलग्राम के ही रहनेवाले सैयद रहमतुल्ला साहब मुग़ल सरकार की ओर से जाजमऊ और बैसवाड़े के दीवान थे। रहमतुल्ला साहब हिंदी-काव्य के ज्ञाता थे, और चिंतामणि को उन्होंने पुरस्कृत किया था। मीर जलील रहमतुल्ला के मित्र और प्रशंसक थे। ये सब

बातें 'तज़किरा सर्व आज़ाद हिंद' में लिखी हुई हैं। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि ग़ुलामअली को चिंतामणि के विषय की सच्ची बातें जानने का पूरा अवसर था। फिर बिलग्राम और टिकमापुर के बीच में फ़ासला भी बहुत दूर का नहीं है। जो हो, ग़ुलामअली ने यह बात साफ़-साफ़ लिखी है कि चिंतामणि के दो भाई और थे, जिनके नाम मतिराम और भूषण थे। किंवदंती भी यही बात बतलाती है। ऐसी दशा में ग़ुलामअली की बात पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं समझ पड़ता। इसलिये हम मतिराम, चिंतामणि और भूषण को सगा भाई तथा कश्यप-गोत्री त्रिपाठी और टिकमापुर का रहनेवाला मानते हैं। चिंतामणि का 'भाषा-पिंगल'-नामक ग्रंथ हाल ही में हमको मिला है। इसमें शिवाजी के पितामह मकरंदशाह और उनके पिता शाहजी की प्रशंसा है। संभवतः चिंतामणि जहाँगीर के राजत्व-काल में कविता करते थे, और तीनो भाइयों में सबसे बड़े थे। मतिराम इनसे छोटे और भूषण सबसे छोट थे। इस बात के बहुत कम प्रमाण मिल रहे हैं कि जटाशंकर भी इनके भाई थे। सो उनको हम मतिराम का भाई नहीं मानते हैं। मतिराम और भूषण की कविता में भी ऐसा कुछ भाव-साम्य, भाषा-सादृश्य तथा लक्षण आदि की एकता है कि उससे भी इनके भ्रातृत्व की बात की पुष्टि होती है। कुछ वैसी सामग्री आगे दी जाती है।

'ललितललाम' और 'शिवराजभूषण', दोनो ही अलंकार-ग्रंथ हैं। दोनो ही में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए हुए हैं। दोनो कवियों के लक्षणों का ध्यान-पूर्वक मिलान करने से हमें उभय कवियों के लक्षणों में अद्भुत सादृश्य दिखलाई पड़ा है। यह सादृश्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि लक्षण-दोहे के अंतिम तुक भी मिल जाते हैं। किसी-किसी में तो कवि के नाम-भर का भेद रह जाता है। यों तो प्रत्येक आचार्य के लक्षण कुछ-न-कुछ मिल ही जाँयगे, पर तुक और

शब्द-समूह का न्यास भी यदि एक ही प्रकार का हो, तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि दोनो कवि एक दूसरे से परिचित थे, और उनका संबंध ऐसा था कि एक दूसरे का अनुकरण करने में वे हानि न समझते थे। पाठकगण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शिवराजभूषण और भारत-जीवन प्रेस, काशी के छपे ललि'तललाम' को सामने रख लें, और निम्न-लिखित लक्षणों का मिलान करें—

मालोपमा

"जहाँ एक उपमेय को होत बहुत उपमान ;
तहाँ कहत मालोपमा कबि 'मतिराम' सुजान।"
(ललितललाम, पृष्ठ ३२)

"जहाँ एक उपमेय के होत बहुत उपमान ;
ताहि कहत मालोपमा, 'भूषन' सुकबि सुजान।"
(शिवराजभूषण, पृष्ठ १८)

उल्लेख

"कै बहुतै, कै एक जँह, एकहि को उल्लेख ;
बहुत करत उल्लेख तँह, कहत सुकबि सबिसेष।"
(ललितललाम, पृष्ठ ४७)

"कै बहुतै, कै एक जँह, एक बस्तु को देखि,
बहु बिधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेखि।"
(शिवराजभूषण)

छेकापह्नुति

"जहाँ और की संक ते साँच छपावत बात ;
छेकापह्नुति कहत हैं तहाँ बुद्धि अवदात।"
(ललितललाम)

"जहाँ और को संक करि साँच छिपावत बात ;
छेकापह्नुति कहत हैं 'भूषन' कबि अवदात ।"
(शिवराजभूषण)

दीपक

"बन्र्य-अबन्र्यन को जहाँ धरम होत है एक;
बरनत हैं दीपक तहाँ कबि करि बिमल बिबेक ।"
(ललितललाम)

"बन्र्य-अबन्र्यन को धरम जँह बरनत हैं एक;
दीपक ताको कहत हैं 'भूषन' सुकबि बिबेक ।"
(शिवराजभूषण)

निदर्शना

"सदृश वाक्य जुग अर्थ को जहाँ एक आरोप;
बरनत तहाँ निदर्शना कबिजन मति अति ओप ।"
(ललितललाम)

"सदृश बाक्य जुग अर्थ को करिए एक अरोप;
'भूषन' ताहि निदर्शना कहत बुद्धि दै ओप ।"
(शिवराजभूषण)

विस्तार-भय से और अधिक लक्षण उद्धृत न करके हम पाठकों से प्रार्थना करेंगे कि वे दोनो ग्रंथों में क्रम से समाधि, संभावना, अवज्ञा, तद्गुण, अतद्गुण, अनुगुण, स्वभावोक्ति और भाविक आदि अलंकारों के लक्षणों का मिलान करें, उन्हें तुक तक की समता मिलेगी । इतने से ही संतुष्ट न होकर आइए, दोनो कवियों की कविता पर भी किंचित् बारीक निगाह डाली जाय । देखिए—

(१) "अली चली नवलाहि लै पिय पै साजि सिंगार;
ज्यों मतंग अँड़दार को लिए जात गँड़दार ।"
(मतिराम)

"दावदार निरखि रिसानो दीह दलराय,
जैसे गँड़दार अँड़दार गजराज को।"
(भूषण)

(२) "आई फूलनि लैन को, चलौ बाग मैं लाल;
मृदु बोलनि सों जानिए, मृदु बेलिन मैं बाल।"
(मतिराम)

"सिव सरजा तुव सुजस मैं मिले धौल छबि तूल;
बोल-बास ते जानिए हंस, चमेली-फूल।"
(भूषण)

(३) "दान-हीन कलभ, कदलि-दल कंपजुत;
राव भावसिंहजी के राज मैं निहारिए।"
(मतिराम)

"कंप कदली मैं, बारि-बुंद बदली मैं, सिव-
राज अदली के राज मैं यों राजनीति है।"
(भूषण)

(४) "तन तरवारिन मैं, मन परमेसुर मैं,
प्रान स्वामिकारज मैं, माथो हर-माल मैं;"
(भूषण)

"सीस भयो हर-हार-सुमेरु, छता भयो आपु सुमेरु की बासी।"
(मतिराम)

(५) "तमक ते लाल-मुख सिवा को निरखि भए
स्याह-मुख नौरंग-सिपाह-मुख पियरे;"
(भूषण)

"मूछनि सों राव-मुख लाल-रंग देखि मुख
औरन को मूछनि बिना हीं स्याम-रंग भो;"
(मतिराम)

(६) "भूषन तीषन तेज-तरन्नि सों
बरिन को कियो पानिप-हीनो।
(भूषण)

"दिल्ली के दिनेस के प्रचंड तेज-आँच लागे
पानिप रह्यो न काहू भूपति-तलाव में;
(मतिराम)

(७) "चमकती चपला न, फेरत फिरंगै भट,
इंद्र की न चाप, रूप बैरष समाज को ;
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न, बाजिबो दुंदुभि दराज को ;
भौंसिला के डरन डरानी रिपु-रानी कहैं—
पिय, भजौ देखि उदौ पावस के साज को ;
घन की घटा न, गज-घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत, आयो सेन सिवराज को।"
(भूषण)

"पावस-भीति, बियोगिनी बालनि यो समुझाय सखी सुख साजैं;
जोति जवाहिर की 'मतिराम' नहीं सुर-चाप छिनौ छबि छाजैं।
दंत लसैं, बक-पाँति नहीं, धुनि दुंदुभि की, न घनैं घन गाजैं;
रीझिकै भाऊ नरिंद दिए कबिराजन के गजराज बिराजैं।"
(मतिराम)

(८) "देसन देसन नारि नरेसन 'भूषन' यों सिख देहिं दया सों;
मंगन ह्वै करि दंत गहो तिन, कंत, तुम्हैं है अनंत महा सों।
कोटि गहौ कि गहौ बन ओट कि फौज की जोट सजौ प्रभुता सों;
और करो किन कोटिक राह, सलाह बिना बचिहौ न सिवा सों।"
(भूषण)

"बिपिन-सरन कै चरन तकौ राव ही के,
चढ़ौ गिरि पर, कै तुरंग परवर में;

राखौ परिवार को कि आपनीयै हठ, राज-
संपति दै मिलौ, कै नगारे दै समर मैं।
कहै 'मतिराम', रिपु-रानी निज नाहनि सों,
बोलैं यों डरानी भावसिंहजी के डर मैं;
बैर तौ बढ़ायो, कह्यो काहू को न मान्यो, अब
दाँतनि तिनूका, कै कृपान गहौ कर मैं।"
(मतिराम)

(९) "दल के चढ़त फन-मंडल फनीपति को
फूटि-फाटि जात साथ सैल की सिलान के;"
(मतिराम)

"काच-से कचरि जाति सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु हैं।"
(भूषण)

(१०) "औरनि के औगुननि तचि कबिजन राव
होत हैं सुखित तेरी कीर्ति-नदी न्हायकै;
खायकै अँगार, आँच औटिकै चकोरगन
होत हैं मुदित चंद-चाँदनी को पायकै।"
(मतिराम)

"'भूषन' यों कलि के कबिराजन राजन के गुन पाय नसानी;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजै बर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।"
(भूषण)

मतिराम के ग्रंथ और आश्रयदाता

महाकवि मतिराम के जिन ग्रंथों का पता अब तक लगा है, उन सबका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) फूल-मंजरी

इस ग्रंथ में ६० दोहे हैं। एक दोहे को छोड़कर शेष ५९ दोहों

में फूलों का वर्णन है। प्रत्येक दोहे में एक फल का कथन है। इनमें कवि की प्रतिभा का विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता। फिर भी वर्णन-शैली और शब्द-माधुर्य आदि सभी गुणों की दृष्टि से इसके दोहे मतिराम की अन्य रचनाओं के समान ही हैं। उक्ति-चमत्कार में जो कमी दिखलाई पड़ती है, वह इस अनुमान को पुष्ट करती है कि यह पुस्तक कवि की प्रथम रचना है। दिल्लीश्वर जहाँगीर की आज्ञा से आगरा-नगर में मतिरामजी ने इस पुस्तक को बनाया था। फूल-मंजरी के अंतिम दोहे में यह बात स्पष्ट दी हुई है—

"हुकुम पाय जहँगीर को नगर आगरे धाम—
फूलन की माला करी मति सों 'कबि मतिराम'।"

हमारा विचार है कि फूल-मंजरी में जैसी कविता पाई जाती है, उसे ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को उस समय की बनी मानना चाहिए, जब कवि की अवस्था १८ वर्ष के लगभग थी। आगरे-नगर में किसी विशेष उत्सव के अवसर पर ही इस ग्रंथ के निर्माण की विशेष संभावना समझ पड़ती है। कवि के अन्य ग्रंथों के रचना-काल एवं अवस्था तथा कई ऐतिहासिक परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए हमारा अनुमान है कि सम्राट् जहाँगीर के शासन-काल के १५ वर्ष समाप्त हो जाने के बाद १६वें वर्ष के प्रारंभ में बड़ी धूमधाम के साथ जो 'नौरोज' का उत्सव मनाया गया था, उसी समय मतिरामजी ने भी पुस्तक-रचना-रूप में अपनी भाग्य-परीक्षा प्रारंभ कर दी थी। स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी द्वारा अनुवादित 'जहाँगीरनामा' के पृष्ठ ४६४ और ४६५ पर इस उत्सव का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

"चंद्रवार २७ रबीउल आसिर सन् १०३० हिजरी (चैत्र-बदी १४) को सूर्य मेष में आया। सोलहवाँ वर्ष बादशाह के राज्याभिषेक में लगा। बादशाह ने शुभ घड़ी, शुभ मुहूर्त में आगरे के राजसिंहासन पर विराजमान होकर शाहज़ादे शहरयार का मनस ८ हजारी ४०००

सवार का कर दिया। ××× बुधवार को बादशाह बेगमों-सहित नाव पर बैठकर 'नूरअफ़शाँ बाग़' में गया। यह बाग़ नूरजहाँ की सरकार में था। इसलिये उसने दूसरे दिन गुरुवार के उत्सव की बड़ी भारी मजलिस करके एक शानदार भेंट पेश की। बादशाह ने एक लाख रुपए के जवाहिर, जड़ाऊ पदार्थ और दिव्य वस्त्र उनमें से चुनकर ले लिए।"

हो सकता है, 'फूल-मंजरी' की रचना इसी समय हुई हो, और उसमें जिन फूलों का वर्णन पाया जाता है, वे 'नूरअफ़शाँ बाग़' के ही मनोमोहक पुष्प हों। पर यह हमारा अनुमान-ही-अनुमान है। निश्चय-पूर्वक कोई भी बात नहीं कही जा सकती। जो हो, हम 'फूल-मंजरी' का रचना-काल संवत् १६७८ मानते हैं। इस समय मतिराम की अवस्था १८ वर्ष के लगभग थी। सो उनका जन्म-काल संवत् १६६० के आस-पास पड़ता है। 'फूल-मंजरी' हमें श्रीयुत भवानीशंकरजी याज्ञिक की कृपा से प्राप्त हुई है। उसके दो और दोहे यहाँ उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

"कमल-नैन लीनें कमल कमल-मुखी के ठाउँ ;
तन न्योछावरि राज की, यहि आवनि बलि जाउँ।
निस कारी भारी हुती, तरसत मेरो जीव ;
फूल निवारी को सरस वारी तुम पर पीव।"

(२) रसराज

इस ग्रंथ में शृंगार-रसांतर्गत नायिका-भेद का वर्णन है। यह किसी राजा के आश्रय में नहीं बनाया गया है। मतिराम का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ यही है। कवि की अवस्था जिस समय ३० या ३५ वर्ष की होगी, उस समय यह ग्रंथ बना होगा। अनुमान से इसका रचना-काल हम सं० १६९० और १७०० के बीच में मानते हैं। इस ग्रंथ की

उत्कृष्टता का अंदाज़ा इसी बात से हो सकता है कि इस पर कई उत्कृष्ट कवियों ने टीकाएँ लिखी हैं। संवत् १८१२ के लगभग चरखारी के राजा रतनसिंह के आश्रित बख़्तेश कवि ने रसराज पर एक अत्युत्कृष्ट टीका बनाई। संवत् १८९६ में सुप्रसिद्ध प्रतापसाहि कवि ने भी इस ग्रंथ पर एक अनुपम तिलक लिखा। अभी संवत् १९५० में कवि हरिदानजी सिंडायच ने भी 'मनोहरप्रकाश' नाम से एक टीका बनाई है। यह पुस्तक छप भी गई है।

(३) छंद-सार-पिंगल

कहा जाता है, श्रीनगर के फ़तेहसाहि बुँदेला के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई थी। इसका निर्माण-काल अनिश्चित है, पर अनुमान किया जाता है कि वह संभवतः सं० १७०० और १७१० के बीच में बना होगा।

(४) ललित ललाम

यह अलंकार-शास्त्र-संबंधी ग्रंथ है। बूँदी के महाराज भावसिंहजी के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई है। हमारा विचार है कि यह पुस्तक संवत् १७१८ और १७१९ के बीच में बनी थी। इस पर गुलाब कविराज ने, संवत् १९४१ में, 'ललित कौमुदी' नाम से एक टीका भी की है। सटीक 'ललितललाम' भारत-जीवन-प्रेस, काशी में मुद्रित भी हो गया है। इसके और रसराज के समय पर हमने आगे विशेष विचार किया है।

(५) मतिराम-सतसई

यह पुस्तक किन्हीं भोगराज नाम के गुणी राजा के लिये मतिरामजी ने बनाई है। इस ग्रंथ का भी समय अनिश्चित है। हमारे खयाल से इसकी रचना 'रसराज' और 'ललितललाम' के बाद की है। संभवतः यह ग्रंथ संवत् १७२५ और १७३५ के बीच में बना है। इस ग्रंथ पर आगे हमने विस्तार के साथ विचार किया है।

(६) साहित्य-सार

यह १० पृष्ठ का एक छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें नायिका भेद का वर्णन है। इसकी हस्त-लिखित प्रति दतिया-राज के पुस्तकालय में मौजूद है। यह प्रति सं० १८३७ की लिखी हुई है। ग्रंथ संभवतः १७४० में बना होगा।

(७) लक्षणशृंगार

यह १४ पृष्ठ का छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें भावों और विभावों का वर्णन है। हस्त-लिखित प्रति संवत् १८२२ की लिखी हुई है, और विजावर-राज्य के पुस्तकालय में मौजूद है। इसकी रचना भी संभवतः १७४५ के लगभग हुई होगी।

(८) अलंकार-पंचाशिका

यह ग्रंथ संवत् १७४७ में कुमायूँ के राजा उदोतचंद के पुत्र ज्ञानचंद के लिये मतिरामजी ने बनाया। इसके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

"गजपुर गिरिजा गिरिस रबि हरि पूँजौं हर बार;
मन-बच राजकुमार कौं कीजौ कृपा अपार।
महाराज उद्योतचँद भयो धरम को धाम;
तपन धरनि पर एक सम चहूँ चक्र पर नाम।
देस दाबि दिल्लीस को गए सुरसरी न्हान;
लए बिकट गढ़ जीतिकैं दए षोड़सौ दान।
तिनके राजकुमार घर ग्यानचंद कुलचंद;
कुबलय कोबिद कबिन कौं बरसै सुधा अमंद।
यों कुमारता ही भयो जहाँ-तहाँ परगास;
अरुन उदै ही होत ज्यों अंधकार कौ नास।

ग्यानचंद के गुन घने गनै-भनै गुनवंत ;
बारिधि के मुक्तान को कौने पायौ अंत ?
तदपि यथामति सों कह्यो सब्द-अर्थ अभिराम ;
अलंकार-पंचासिका रची रुचिर मतिराम।
संसकिरत कौ अर्थ लै भाषा सुद्ध बिचारि ;
उदाहरन क्रम ए किए, लीजो सुकबि सुधारि।
मानि लेत जहँ एकहू बहु प्रकार बहु लोग ;
उल्लेखा तासों कहत बड़े बड़ाई-जोग।
उत्तर तपत तेज तपत उदोतचंद,
ताको नंद ग्यानचंद मूरति मनोज है ;
कबि 'मतिराम' नव निधिन-निधान, जाकौ
बिबिध बिधान जोग बिलसत रोज है।
जैसो जो चहत ताहि वैसोई दिखाई देत,
हेत हूक परत न देखो करि खोज है ;
बैरी कहैं बाडव, बिड़ौजा कहैं बड़े जन,
मामा कहैं भामिनी, भिखारी कहैं भोज है।
जहँ अनेकधा बरनिए एक बस्तु निरधार ;
उल्लेखा दूजौ कहै अलंकार मति-सार।
साहस को सागर, सुमेरु सरदारन को,
समर को सदन, मदन बनितान कौं ;
कबि 'मतिराम' वह देव-द्विज दीनन कौं,
कंचन बरस अस महिप पुरानि कौं।
गंजन गनीमन कों, रंजन गुनी मन को,
दान देनहार जग षोड़स बिधान कौं ;
ग्यानिन कौ गुरु ग्यानचंद्र चंद्रबंसिन कौं,
बासौ सुभटन को, सुटीको हिंदुआन कौं।

सहज सिकार खेले पुहुमि पहार पति,
भार रह्यौ यत्न गढ़ ढार सों लपटिकै ;
कहै 'मतिराम' नाद सुनत नगारन की,
नगन के गढ़पति गढ़ तें निकरिकैं।
सोहै दल - बृंद में गयंद पर ग्यानचंद,
बखतबिलंद रही सोभा ऐसी बढ़िकैं ;
मेरे जान मेघन के ऊपर अमारी कसि,
मघवा मही को सुख लेन आयो चढ़िकैं।

कुमायूँ-नरेश उदोतचंद इनका बड़ा आदर करते थे। इनकी प्रशंसा में मतिरामजी ने बड़े अच्छे-अच्छे छंद रचे हैं। एक छंद नीचे दिया जाता है—

"पूरन पुरुष के परम दृग दोऊ जानि
कहन पुरान-बेद बानी यों ररति गई ;
कबि 'मतिराम' दिनपति औ' निसा-पति यों
दुहुन की कीरति दिसान माँझ मढ़ि गई।
रबि के करन भए एक महादानि यह,
जानि जिय, आनि चिंता चित माँझ चढ़ि गई,
तोहि राज बैठत कुमायूँ श्रीउदोतचंद,
चंद्रमा की करक करेजे हूँ ते बढ़ि गई।"

सूर्य और चंद्र की प्रसिद्धि बराबर चली आती थी। सूर्य के कर्ण-जैसा दान-वीर तनय उत्पन्न हुआ। इससे उसका यश चंद्रमा से बढ़ गया। चंद्रमा के वैसा योग्य पुत्र न था। इससे उसे यह बात सदा खटका करती थी, पर जब उदोतचंद कुमायूँ के राजसिंहासन पर बैठे, तो चंद्रमा के कलेजे की वह कड़क मिट गई, क्योंकि कर्ण के समान दानी पुत्र उसे भी मिल गया, अब वह भी सूर्य के बराबर हो गया; कैसी सरस और चातुर्य से भरी उक्ति है! यही उदोतचंद एक बार

किसी कविराज की उद्दंडता से दरबार के सभी कवियों से रुष्ट हो गए थे। सभी का अनादर करने लगे थे। उस अवसर पर मतिरामजी ने कैसी मधुर चेतावनी दी थी।

करन के, बिक्रम के, भोज के प्रबंध सुनो,
कैसी भाँति कबिन को आगे लीजियतु है;
'कबि मतिराम' राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है।
एक के गुनाह नरनाह श्रीउदोतचंद,
कबिन पै एतो कहा रोष कीजियतु है?
काहू मतवारे एक अंकुस न मान्यो, तो
दुरद दरबारन ते दूरि कीजियतु है।

कुमायूँ-नरेश की प्रशंसा भूषणजी ने भी की है।

वृत्त-कौमुदी

प्रायः दो वर्ष हुए, जब पं० भागीरथप्रसादजी दीक्षित ने इस पुस्तक को असानी में ढूँढ़ निकाला। इसके रचयिता का नाम भी मतिराम है, और इसका निर्माण-काल संवत् १७५८ है। इसमें कवि का वंश-परिचय भी दिया हुआ है। इसमें वृत्त-कौमुदी के रचयिता वत्सगोत्री त्रिपाठी प्रमाणित होते हैं। इनका निवास-स्थान वनपुर में था, और इनके पिता का नाम विश्वनाथ था। दीक्षितजी रसराज और वृत्त-कौमुदी के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते हैं, और उनका कहना है कि रसराज के रचयिता का जो 'छंद-सार-पिंगल' प्रसिद्ध है, वही यह 'वृत्त-कौमुदी' ग्रंथ है, क्योंकि इसके अंत में भी 'छंद-सार-संग्रह' दिया हुआ है। दीक्षितजी का यह भी कहना है कि 'शिवसिंहसरोज' में 'छंद-सार-पिंगल' के जो दो छंद उदाहरण-रूप दिए गए हैं, उनमें से एक (दाता भयो जैसो इत्यादि) 'वृत्त-कौमुदी'

में भी मौजूद है। इसलिये 'वृत्त-कौमुदी' ही छंद-सार-पिंगल है। 'वृत्त-कौमुदी' रसराज के रचयिता की ही बनाई है या नहीं, इस बात की भली भाँति से छानबीन करने के लिये हमने संपूर्ण 'वृत्त-कौमुदी' ग्रंथ देखने का विचार किया, और इसलिये पं० भागीरथ-प्रसादजी से उसे मँगा देने की प्रार्थना की तथा जहाँ उन्होंने ग्रंथ के होने का पता दिया था, वहाँ पत्र लिखे, और दो आदमी भी भेजे, पर हमको ग्रंथ न मिला। इतना ही नहीं, हमारे भेजे आदमियों ने तो हमें यह उत्तर दिया कि जिन महाशय के यहाँ उक्त ग्रंथ बतलाया जाता है, उनका कहना है कि हमारे यहाँ ग्रंथ नहीं है। दीक्षितजी का भी कहना है, अब हमें ग्रंथ नहीं मिल रहा है। ऐसी दशा में 'वृत्त-कौमुदी' का जितना अंश 'माधुरी' तथा 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में छपा है, हमें उतने पर ही संतोष करना पड़ता है। हमने इस अंश को ध्यान से पढ़ा, तो हमें इसके रचयिता रसराज और ललित ललाम के कर्ता से भिन्न जान पड़े। रसराज के रचयिता की कविता में प्रसाद-गुण की प्रचुरता है, तथा उन्होंने उसी बात को बार-बार दोहराया नहीं, पर 'वृत्त-कौमुदी' में क्लिष्टता है, और पिष्टपेषण भी। रसराज के कर्ता का जो पिंगल प्रसिद्ध है, उसका नाम 'छंद-सार' है, पर इसका नाम 'छंद-सार-संग्रह' या 'वृत्त-कौमुदी' है। 'शिवसिंहसरोज' में जो दो छंद उद्‌धृत हैं, उनमें से एक 'वृत्त-कौमुदी' में भी हो, तो इससे दोनो ग्रंथ एक न हो जायँगे। शिवसिंह-जी ने बहुत-सी बातें सुनी-सुनाई भी लिखी हैं। संभव है, इन दो छंदों को भी उन्होंने सुनकर ही लिखा हो। क्या दीक्षितजी को वह दूसरा छंद भी 'वृत्त-कौमुदी' में मिला है, जिसको शिवसिंहजी ने 'छंद-सार' से उद्‌धृत किया है? वह दूसरा छंद तो सेनापति का है, और 'कवित्त-रत्नाकर' में मौजूद है। इससे स्पष्ट है कि शिवसिंहजी ने सुनी हुई बात ही लिखी है। फिर 'वृत्त-कौमुदी' के रचयिता ने यह स्पष्ट

निर्देश किया है कि मैं 'दंडक-पद्धति' बना रहा हूँ; पर पंडित भागीरथ प्रसादजी का कहना है कि 'वृत्त-कौमुदी' में दंडक दो ही चार हैं। यह क्यों? ललित ललाम, रसराज तथा मतिराम-सतसई, इन तीनो ही ग्रंथों में बहुत-से समान छंद पाए जाते हैं, पर 'वृत्त-कौमुदी' में ऐसे छंद नहीं हैं। ऐसा क्यों? 'ललित ललाम' में कोरा शृंगार नहीं है। फिर भी उसमें अनेक वैसे छंद हैं, जो सतसई और रसराज में भी हैं। पं० भागीरथप्रसादजी दीक्षित 'फूल-मंजरी', 'रसराज' और 'वृत्त-कौमुदी' का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं। 'फूल-मंजरी' जहाँगीर के समय में लिखी गई, और 'वृत्त-कौमुदी' औरंगज़ेब के मृत्यु-काल के निकट। सो इस हिसाब से जब मतिराम की अवस्था सौ बरस के लगभग हुई, तब उन्होंने 'वृत्त-कौमुदी'-जैसे पिंगल की रचना प्रारंभ की। ऐसा होना बहुत कम संभवनीय है। कवि लोग पिंगल-जैसे विषय के ग्रंथ अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था में लिखते हैं, मरण-काल के समीप नहीं। रसराज के रचयिता के वंशज बिहारीलाल एक प्रतिष्ठित कवि थे। इन बिहारीलाल के वंशज और संबंधी आज भी टिकमापुर, ज़िला कानपुर में मौजूद हैं। बिहारीलाल-जी तथा शीतल और रामदीनजी बड़े-बड़े रजवाड़ों में रसराज के रचयिता मतिराम के वंशज माने जाकर ही सम्मानित होते थे। कविवर 'नवीन' ने भी बिहारीलाल को मतिराम कवि का वंशज माना है। स्वयं बिहारीलालजी ने रस-चंद्रिका ग्रंथ में जो अपना वंश-परिचय दिया है, उसमें अपने को 'मतिराम' का पंती स्वीकार किया है। पं० भागीरथप्रसादजी ने इस ग्रंथ को भी देखा है। इस ग्रंथ में मतिराम के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र तक का नाम दिया हुआ है, और उनके कान्यकुब्ज कश्यपगोत्री त्रिपाठी होने की बात लिखी है। दीक्षितजी को कुल, वंश और गोत्र शब्दों के प्रयोग पर कुछ आपत्ति है; पर यदि वह कृपा करके एक बार गोत्र और कुल शब्दों

का अर्थ संस्कृत और हिंदी के प्रतिष्ठित कोषों में देखेंगे, तो उनकी यह आपत्ति आप-ही-आप दूर हो जायगी। बिहारीलाल ने मतिराम को टिकमापुर में बसानेवाले हमीर नाम के राजा का नाम लिया है। इस पर दीक्षितजी को आपत्ति है कि उस समय मध्य-देश में हमीर नाम का कोई राजा था ही नहीं। यह बात भी ठीक नहीं है। 'छत्र-प्रकाश' में धँधेरे हमीर राजा का स्पष्ट उल्लेख है। इसका समय भी मतिराम के समय से मिलता है, तथा इसकी कार्य-भूमि भी हम दीक्षितजी के माने मध्य-देश में ही पाते हैं। निदान 'रस-चंद्रिका' द्वारा प्राप्त वंश-परिचय को प्रामाणिक मानते हुए हम रसराज और ललित ललाम आदि ग्रंथों के रचयिता कश्यपगोत्री त्रिपाठी मतिराम को 'वृत्त-कौमुदी' के रचयिता वत्सगोत्री मतिराम से भिन्न मानते हैं। वृत्त-कौमुदी-ग्रंथ रसराज के रचयिता का बनाया नहीं है।

रसराज और ललित ललाम की टीका के नमूने

अब हम रसराज और ललित ललाम, इन दो ग्रथों के संबंध में कुछ विस्तार के साथ विचार करना चाहते हैं। हम ऊपर लिख आए हैं कि इन ग्रंथों पर बड़ी ही सुंदर टीकाएँ बनी हैं। यहाँ उन टीकाओं के कुछ नमूने भी दिए जाते हैं—

(१)

"अथा रसराज की वितपत्त। ग्रंथ कौ नाम रसराज। रसराज कहे तैं शृंगार सो या ग्रंथ मैं शृंगारैई प्रधान है। तातैं या ग्रंथ कौ नाम रसराज धरौ है॥ इति॥ अथ मूल दोहा॥ होत नाइका नाइकहि आलंबित शृंगार। तातैं बरनौं नाइका नाइक मति अनुसार॥ १॥ अथ टीका॥ नाइका नाइक जो है ताके आलंबित कहै आधार सृंगार रस होत है कौन प्रकार कै आधार कहैं दोष कैं तातें कवि कहत है कै नाइका-नाइक कौ बरनन करत हौ अपनी बुद्ध के अनुसार

तैं ग्रंथ कौ नाम रसराज है सो रस नाइका-नाइक के आधीन होत है ।। इति ।। १ ।।" रसराज टीका संयुक्त बख्तेश ।

(२)

"दोहा ।। समुझि-समुझि सब रीझिहै सज्जन सुकबि-समाज । रसिकन के रस को कियो सकल भयो रसराज ।।४२४।। कवि मतिराम कहै कै मैंने जो रसराज ग्रंथ कियौ सो जे रसिक रस के जाननवारे सज्जन अरु सुकविन के समाज ते सुनि समुझि कै सब रीझिहै ।"

(रसराज-तिलक प्रतापसाहि-कृत)

(३)

"मोहि पठाई कुंज में, सठ आयो नहिं आप । आली औरौ मित को, मेरो मिट्यो मिलाप ।।१५४।। × × × मेरे और मित्र का मिलाप मिटा याते नायका कुलटा जानी जाती है और लालच नहीं पाया जाता है याने गनिका साबित नहीं होती है । उत्तर । जो कुलटा होती तो सखी से कहती कि मुझे किसी और पुरुष से मिलाओ पर इसे और पुरुष की अभिलाषा नहीं है सो धन देनेवाले और मित्रों का मिलाप मिटा क्योंकि सदैव बैसिक नायक इसके घर पर आते थे सो वह समय नहीं रहा गनिका बिप्रलब्धा स्पष्ट ।"

(मनोहरप्रकाश टीका रसराज कवि हरिदानजी-कृत)

(४)

"कवि मतिराम गणेश कौं सुमिरत सुख सरसत । स्रौन पौन लागें बिघन तूल तूल उड़ि जात ।। मतिराम कवि कहै हैं गणेश कौं सुमिरत तैं सुख सरसावत है कानन की पवन लगतैं ही बिघन प्रत्यूहन को तूल लंबाव अर्थात् फैलाव सोई भयो तूल रुई सो उड़ि जात है, अथवा विघ्न है सो रुई के तुल्य उड़ि जात है यहाँ सुमिरत सुख सरसात मैं हेतु विघ्न में रूपक, तूल तूल मैं यमकालंकार है ।"

(ललित कौमुदी टीका ललित ललाम गुलाब-कृत)

रसराज-ग्रंथ पर और भी कई टीकाएँ लिखी गई हैं। काव्य-शास्त्र के पढ़नेवाले इस ग्रंथ को अवश्य पढ़ते हैं। प्रायः सभी संग्रह-ग्रंथों में इस ग्रंथ के तथा ललित ललाम के छंद उद्‌धृत किए गए हैं। कवि-राजा मुरारिदान ने अपने जसवंत-जसोभूषण में इन दोनो ग्रंथों के बहुत-से छंद उद्‌धृत किए हैं। इनके भाव अपनाने को बड़े-बड़े कवियों ने हाथ फैलाए हैं। इसके बहुत-से उदाहरण तुलनात्मक समालोचना-वाले अध्याय में मिलेंगे। रसराज के छंदों में आनेवाले भावों को लेकर चित्र भी बनाए गए हैं। ऐसे सचित्र रसराज का एक अंश काशी के सुप्रसिद्ध रईस और साहित्य-सेवी रायकृष्णदासजी के पास सुर-क्षित है।

ललित ललाम पहले बना या रसराज ?

रसराज और ललित ललाम में किस ग्रंथ की कविता अधिक उत्तम है, इस विषय में मतभेद की कम संभावना है। प्रायः सभी विद्वानों की यही राय है कि रसराज की कविता विशेष हृदयग्राहिणी और मार्मिकतामयी है। रसराज किसी राजा या महाराजा के नाम पर नहीं बनाया गया है। रसराज और ललित ललाम में किस ग्रंथ की रचना पहले हुई, इस विषय में मतभेद हो सकता है। कुछ विद्वानों की राय है कि रसराज की रचना ललित ललाम के बाद हुई है। इसके कारण ये बतलाए जाते हैं—

(क) रसराज की कविता ललित ललाम की कविता से श्रेष्ठ है। कवि का प्रथम ग्रंथ प्रायः उतना अच्छा नहीं बनता, जितनी बाद की रचनाएँ। इस कारण स्पष्ट है कि रसराज बाद को बना।

(ख) रसराज और ललित ललाम में कुछ शृंगार-रस के ऐसे छंद हैं, जो दोनो ग्रंथों में समान रूप से पाए जाते हैं। जान पड़ता है, 'ललित ललाम' के अच्छे-अच्छे छंद चुनकर मतिराम ने बाद को रसराज में भी उद्‌धृत कर दिए हैं।

(ग) ललित ललाम बूँदी-नरेश भावसिंह के समय में बना था। भावसिंह के बाद भी राव बुद्धसिंह के समय तक बूँदी से मतिराम का संबंध रहा है। फिर भी मतिराम ने रसराज बूँदी-नरेश के नाम से नहीं बनाया। सो जान पड़ता है, यह ग्रंथ मतिराम के बूँदी से संबंध टूटने के बाद बना।

हम इन कारणों पर क्रमशः विचार करते हैं—

(क) कवि का प्रथम ग्रंथ प्रायः उतना अच्छा नहीं बनता, यह बात ठीक है; परंतु ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनमें कवि की प्रथम रचना को उसकी बाद की रचनाएँ नहीं पा सकी हैं। अवस्था, रुचि और विषय का प्रभाव कवि पर बहुत अधिक पड़ता है। तुलसीदासजी का रामचरित-मानस उनके और कई ग्रंथों के पहले बना था; पर उन सबसे 'मानस' की कविता चौगुनी-पचगुनी अच्छी है। मानस में ही 'बाल' और 'अयोध्याकांड' में जैसी उत्कृष्ट कविता है, वैसी बाद के कांडों में नहीं। रसराज का भी पूर्व भाग उत्तर भाग से प्रौढ़ है। ऐसी दशा में अकेले कविता-प्रौढ़ता के विचार से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि 'रसराज' बाद की रचना है।

(ख) जैसे यह कहा जा सकता है कि 'ललित ललाम' से उठाकर मतिरामजी ने रसराज में छंद रख दिए, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि रसराज के छंदों को 'ललित लालम' में रख दिया। जब दोनो ग्रंथों में वे ही छंद पाए जाते हैं, तो एक से दूसरे में वे अवश्य रक्खे गए हैं।

रसराज में भाव-भेद और ललित ललाम में अलंकारों के लक्षण दिए हैं। इन्हीं के उदाहरणों में जो शृंगार-रस के बहुत-से शब्द हैं, उनमें से कुछ रसराज और ललित ललाम में समान रूप से पाए जाते हैं। देखना यह चाहिए कि रसराज के जिस लक्षण के उदाहरणवाला छंद ललित ललाम के किसी लक्षण के उदाहरण में आया

है, वह उभय ग्रंथों में किस ग्रंथ के लक्षण के उदाहरण में विशेष चस्पाँ होता है। मेरे विचार से यदि ये शृंगार-रस के छंद ललित ललाम के अलंकार-लक्षणों के उदाहरणों में रसराज के उदाहरणों से विशेष चस्पाँ हैं, तो वे ललित ललाम के लिये ही बनाए गए हैं, और वहीं से उठाकर रसराज में रक्खे गए हैं, पर यदि वे रसराज में दिए गए लक्षणों के उदाहरण में विशेष चस्पाँ हों, तो ललित ललाम में उनको बाद को स्थान मिला है। उदाहरण के लिये दो छंद लीजिए—

(१) "सतरौहीं भौहन नहीं दुरत दुराए नेह;
होत नाम नँदलाल के नीपमाल-सी देह।"

उपर्युक्त छंद ललित ललाम में चंचलातिशयोक्ति के उदाहरण में दिया है, और रसराज में लक्षिता-नायिका के उदाहरण में। लक्षिता और चंचलातिशयोक्ति, दोनो का निर्वाह दोहे में भली भाँति होता है। परंतु संपूर्ण दोहे पर लक्ष्य रखने से यह साफ़ प्रकट होता है कि कवि ने जब दोहे की रचना की, तो उसका लक्ष्य लक्षिता-नायिका ही थी। दोहे की प्रथम पंक्ति चंचलातिशयोक्ति के लिये आवश्यक नहीं है, पर लक्षिता के लिये उस पंक्ति का अभाव सहन नहीं किया जा सकता। दूसरी पंक्ति दोनो के लिये समान हितकारिणी है। हमारी राय है, उपर्युक्त दोहा लक्षिता-नायिका के उदाहरण में विशेष रूप से चस्पाँ है।

(२) "जा दिन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है;
'कबि मतिराम' छोड़े भूषन-बसन, पान,
सखिन सों खेलनि - हँसनि बिसराई है।
आई ऋतु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित,
ऐसे मैं चलौ तौ लाल, रावरी बड़ाई है;
सोवति न रैन-दिन, रोवति रहति बाल,
बूझे तें कहति, सुधि मायके की आई है।"

ललित ललाम में उपर्युक्त छंद तृतीय आक्षेप और रसराज में मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी के उदाहरण में दिया हुआ है। कहना नहीं होगा कि नायिका और अलंकार, दोनो का निर्वाह छंद में समान चमत्कार के साथ हो जाता है; परंतु तृतीय आक्षेप का काम अंतिम पंक्ति से भी चल सकता था, पर प्रवत्स्यत्प्रेयसी के लिये सभी पद समान रूप से उपकारी हैं। छंद को पढ़ना आरंभ करते ही हठात् यही विचार उठता है कि मतिरामजी प्रवत्स्यत्प्रेयसी का उदाहरण दे रहे हैं। अंतिम पंक्ति मुग्धात्व और आक्षेप, दोनो के लिये समान उपयोगिनी है; पर संपूर्ण छंद मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी का फ़ोटो है— उसी के उदाहरण में चस्पाँ है।

पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार प्रौढ़ा आगत-पतिका और स्मृति-संबंधी रसराज के वर्णन ललित ललाम के उपमा के उदाहरणों से मिलाएँ एवं परिहास और भ्रम, मध्या स्वाधीन-पतिका और वस्तूत्प्रेक्षा, मध्यम दूती, संबंधातिशयोक्ति, मुग्धा, तुल्य-योगिता, मंडन, आक्षेप और मध्या सम आदि अनेक उदाहरणों पर विचार करें। हमने प्रायः इन सभी पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि उपर्युक्त सभी उदाहरण रसराज में विशेष फबते हैं। यदि ललित ललाम से छंद लिए गए होते और रसराज के बनते समय उक्त ग्रंथ प्रस्तुत होता, तो यह संभव नहीं जान पड़ता कि 'ललित ललाम' के कई एक शृंगार-रस के अत्युत्कृष्ट छंद रसराज में स्थान न पाते। उदाहरण के लिये—

"ह्वैकै डहडहे दिन, समता के पाए बिन,
साँझ सरसिजन सरभि सिर नायो है;
निसा-भरि निसापति करिकै उपाय बिन
पाए रूप, बासर बिरूप ह्वै लखायो है।
कहै 'मतिराम', तेरे बदन बराबरि को
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है;

दरप न रह्यो, ताते दरपन कहियत,
मुकुर परत, ताते मुकुर कहायो है।"
(ललित ललाम)

यह छंद था छलापह्नुति के उदाहरण का—

"रातौ-दिन फेरैं अमरालय के आस-पास,
मुख मैं कलंक-मिसि कारिख लगायकै।"

या संदेह के उदाहरण का—

"सीरे करिबे को पिय-नैन घनसार कैधों,
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है।"

या इसी प्रकार के कई और छंद रसराज में सहज ही स्थान पा सकते थे। मतिराम का रसराज में रूपगर्वितावाला छंद ऊपर दिए ललितललाम वाले छंद से बहुत घटकर है। यदि यह छंद रसराज के बनते समय पहले से ही प्रस्तुत होता, तो उसमें अवश्य स्थान पाता। सारांश यह कि हमारी राय में ललित ललाम से लेकर रसराज में छंद नहीं रक्खे गए। इसके विपरीत रसराज के अच्छे छंदों ने ललित ललाम में स्थान पाया है। जिन अलंकारों के उदाहरण में कई छंद दिए हैं, जिनमें का एक भावसिंह से संबंध रखनेवाला है, तो वह प्रायः पहले दिया है। बाद को शृंगारवाले छंद दिए गए हैं। इससे भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ललित ललाम के लिये खास जिस छंद की रचना हुई थी, उसको पहले देकर कवि ने अपने अन्य ग्रंथ के छंद भी उठाकर ललित ललाम में रख दिए।

(ग) किसी बूँदी-नरेश के नाम पर न बनने के कारण जैसे यह नतीजा निकाला जाता है कि 'रसराज' बूँदी से मतिराम के संबंध-भंग होने के बाद बना, उसी प्रकार यह नतीजा निकलने में भी कोई आपत्ति नहीं कि बूँदी से संबंध स्थापित होने के पहले ही रसराज की रचना हुई थी, और इस बात का क्या प्रमाण है कि

बुद्धसिंह के समय मतिराम का बूँदी से संबंध था ? (क) और (ख) के संबंध में हमने अपने जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे हमारी धारणा यही है कि रसराज ललित ललाम से पहले बना, और इसी ग्रंथ की सुख्याति से लाभान्वित होकर मतिराम का बूँदी आदि दरबारों में सम्मान होने लगा।

हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि निम्न-लिखित कारणों से और भी होती है—

(१) कविजन की अधिक श्रृंगारमयी कविता युवावस्था में ही बनती है। कई कवियों के प्रथम ग्रंथ श्रृंगार-रस-संबंधी हैं। केशव-दास की रसिक-प्रिया और दासजी का श्रृंगार-निर्णय ऐसे ही ग्रंथ हैं। ललित ललाम की अपेक्षा रसराज विशेष श्रृंगारमय है। मतिरामजी ने संभवतः रसराज युवावस्था में बनाया, और यह उनकी प्रारंभिक रचनाओं में से एक है। फिर भी वह ललित ललाम से प्रौढ़ है. इसका कारण कवि की अवस्था, रुचि और विषय की अनुकूलता है।

(क) पर विचार करते समय हमने दिखलाया है कि प्रथम रचना भी कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना हो सकती है, जैसे गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित-मानस।

(२) यदि हम रसराज को ललित ललाम के बाद बना हुआ मानें, तो कहना पड़ता है कि रसराज की रचना मतिराम की वृद्धा-वस्था में हुई। वृद्ध मतिराम को रसराज में दिए रसीले भावों का बनानेवाला मानना कुछ खटकता है। घोर श्रृंगारी कवि भी ५० वर्ष की अवस्था के बाद क्रम से श्रृंगार से विरक्ति प्रदर्शित करने लगते हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित भूषण-ग्रंथा-वली में दिए भूषण के समय पर जिस कोटिक्रम से विचार किया गया है, उससे रसराज की रचना मतिराम की सत्तर और अस्सी वर्ष

की अवस्था के बीच में ठहरती है। हमारी राय में रसराज कवि की इस अवस्था में नहीं बना।

(३) कविजन प्रायः अपने प्रथम ग्रंथ में अपने गुरु की वंदना करते हैं। बाद के ग्रंथों में उसका उतना विचार नहीं रहता। मतिराम ने रसराज के आरंभ में "श्रीगुरुचरण मनायकै" तब गणपति का ध्यान किया है। इसी प्रकार प्रथम ग्रंथ में ही अपने सहयोगी कवियों को संबोधन करके क्षमा इत्यादि माँगी जाती है। आजकल भी जब कोई नवीन लेखक साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है, तो वह साहित्य-सेवियों की सहानुभूति आकर्षित करने को उन सबकी क्षमा-प्रार्थना करता है। मतिरामजी का यह कथन देखिए—

"कवित्तार्थ जानौं नहीं, कछुक भयो संबोध;
भूल्यो भ्रम ते जो कछुक, सुकबि पढ़ैंगे सोध।"

हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे कथनों के स्थान पाने की संभावना कवि की प्रथम रचना में ही अधिक है। रसराज का अंत का दोहा भी यही इशारा करता है कि उक्त ग्रंथ ही कवि की प्रथम रचना है। यथा—

"रसिकन के रस को कियो नयो ग्रंथ रसराज।"

कुल बातों पर विचार करके हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि रसराज ललित ललाम से पहले बना है।

रसराज कब और किसके लिये बनाया गया, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है। रसराज की 'मनोहर-प्रकाश'-नामक एक टीका राजस्थान-यंत्रालय, अजमेर में, सं १९५२ में, छपी थी। टीका के प्रारंभ में कवि-परिचय भी दिया गया है। उक्त परिचय का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"कहते हैं, यह तीसरा ग्रंथ रसराज दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के कहने से बनाया गया था, और प्रकट रूप से अपने इष्टदेव

का मंगलाचरण न करने का भी यही कारण बतलाते हैं, क्योंकि उक्त सम्राट् वैदिक मत का बड़ा द्वेषी था। इसके साथ ही यह संदेह डालनेवाली बात भी है कि इस ग्रंथ में बादशाह की प्रशंसा कहीं भी नहीं लिखी है कि जिसकी बड़ी भारी चाल आज तक चली आती है।" इत्यादि।

उक्त प्रेस से प्रकाशित रसराज का प्रारंभ "होत नायका नय-कहि आलंबित शृंगार" इत्यादि दोहे से हुआ है; परंतु अन्य यंत्रा-लयों से प्रकाशित होनेवाली प्रतियों में इस दोहे के पूर्व ४ छंद और हैं। मंगलाचरण-रूप प्रथम सवैया में देव-वंदना है। दूसरे दोहे में श्रीगुरुचरण और गणपति का ध्यान किया गया है, तथा तीसरे दोहे में कवि ने सुकवियों से क्षमा-प्रार्थना की है। रसराज की मुद्रित प्रतियों में सबसे पुरानी सं० १९२५ में बनारस के लाइट-छापेख़ाने में छपी है। इस प्रति में देवता और गुरु-विषयक छंद मौजूद हैं। वेंकटेश्वर-प्रेस और नवलकिशोर-प्रेसवाली प्रतियों में भी ये छंद हैं। इस कारण इष्टदेव का मंगलाचरण न होने से पुस्तक औरंगज़ेब के लिये बनाई गई, यह निष्कर्ष निकालना भ्रम-मात्र समझ पड़ता है।

ऐसा जान पड़ता है कि रसराज की रचना उस समय हुई, जब मतिरामजी पूर्ण युवा थे। यह समय सं० १६९० और १७०० के बीच में होगा। मतिरामजी का कविता-काल कविवर बिहारीलाल के कविता-काल से बहुत पहले आरंभ होता है, यद्यपि दोनो कवि कुछ समय के लिये समसामयिक भी थे। जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं, मतिराम ने किसी नरेश के आश्रय में न बनाकर अपनी काव्य-प्रतिभा के प्रताप से सुकवियों का सुखदायक रसराज रसिकों के मनोरंजन के लिये बनाया था; परंतु इस ग्रंथ की ख्याति इतनी हुई कि इसी की बदौलत मतिराम का बड़े-बड़े रजवाड़ों में आदर होने लगा। ललित ललाम बूँदी के राव भावसिंह के लिये बना था।

राव भावसिंह सं० १७१५ में बूँदी के राजसिंहासन पर बैठे। इनके पिता जिन औरंगज़ेब के विरोधी थे, वही इस समय दिल्ली के अधीश्वर हो रहे थे। ऐसी दशा में राव भावसिंह के शत्रुओं की संख्या कम न थी। उनको दमन करने में राव भावसिंहजी को कम-से-कम दो वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। इस दो वर्ष के समय में इनका दिल्ली से किसी प्रकार का संपर्क न रहा। राजपूताने के अन्य राजा-महाराजा दिल्ली-नरेश को प्रसन्न करने का उद्योग करते रहे; परंतु इन्होंने अपने राज्य को सुदृढ़ करना ही ठीक समझा। शत्रु-दमन एवं सुशासन से इनकी धाक बैठ गई। संवत् १७१७ के लगभग दक्षिण में संभवत: शिवाजी और मुग़लों से छेड़छाड़ आरंभ हुई। भावसिंहजी के बाबा रावराजा रत्नसिंह दक्षिण में विद्रोह शांत करने में ख्याति-लाभ कर चुके थे। ऐसी दशा में मराठों के प्रारंभिक आक्रमणों के समय औरंगज़ेब ने भावसिंहजी से अपने बाबा के काम पर जाने के लिये कहा, और इन्होंने जाकर कुछ आक्रमण निवारण किए। राव भावसिंह औरंगाबाद में पड़ाव डालकर वहीं से लड़ते थे। वहीं इन्होंने एक भावपुरा-गाँव बसाया था। यहीं इनकी मृत्यु हुई। जदुनाथ सरकार ने भावसिंह के दक्षिण समर में रहने का वर्णन किया है। मतिरामजी तथा भूषण इस बात को अपने निम्न-लिखित छंदों द्वारा पुष्ट करते हैं—

"सूबनि को मेटि दिल्ली-देस दाबिबे को चमू,
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम', ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मति हिए मैं उलहति है।
सत्रुसाल-नंद के प्रताप की लपट सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;

पति पातसाह की, इजति उमरावन की
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है ॥"
(मतिराम)

"सासताखाँ दुरयोधन-सो औ' दुसासन-सो जसवंत निहारचो;
द्रोन-सो भाऊ, करन्न करन्न-सो और सबै दल सों दल भारचो।
ताहि बियोग सिवा सरजा, भनि 'भूषन', औनि छता यों पछारचो;
पारथ कै पुरुषारथ भारथ जैसे गजाय जयद्रथ मारचो ॥"
(भूषण)

यह घटना संभवतः सं० १७१८ के लगभग की समझ पड़ती है। मतिरामजी के 'ललितललाम' ग्रंथ में भावसिंह द्वारा दिल्ली-नरेश की इसी सहायता का उल्लेख है। राव भावसिंह सं० १७२० के पश्चात् फिर दिल्ली गए थे। औरंगज़ेब ने इनको मनसब दिया था। दिल्ली में इनका रहना प्रायः दो वर्ष हुआ था। भगवान् के विमानों के निकालने में इन्होंने बड़ी दृढ़ता दिखलाई थी। कहते हैं, औरंगज़ेब ने हिंदू-नरेशों से बादशाह के साथ भोजन करने का प्रस्ताव किया था, जिसका अकेले इन्होंने ही विरोध किया था। केशवराय के मंदिर की रक्षा में भी इनका हाथ था। अंतिम समय में इनकी इज़्ज़त देवतों के समान हो गई थी। राव भावसिंहजी के जीवन-काल की उपर्युक्त सभी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका उल्लेख उन्हींका आश्रित कवि उनके आदेश से बनाए ग्रंथ में अवश्य करता; परंतु 'ललित-ललाम' में इन घटनाओं से संबंध रखनेवाले वर्णनों का स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। यदि ये घटनाएँ घट चुकी होतीं, तो मतिरामजी इनका उल्लेख कैसे न करते? सो यह मानने में कोई प्रबल आपत्ति नहीं कि 'ललितललाम' की रचना इन घटनाओं के पूर्व की है। औरंगज़ेब और शिवाजी की प्रारंभिक छेड़छाड़ का आरंभ सं० १७१८ के लगभग हुआ था। मतिरामजी ने इस घटना

का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस संबंध में उनका जो छंद है, वह ऊपर दिया ही जा चुका है। 'ललितललाम' के अंत में कवि ने राव भावसिंहजी को एक छप्पय द्वारा आशीर्वाद दिया है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"नृप सत्रुसाल-नंदन नवल भावसिंह भूपाल-मनि;
जग चिरंजीव तब लगि सुखद कहत सकल संसार धनि।"

उक्त पद्यांश में 'नवल'-शब्द पर हम पाठकों का ध्यान विशेष रीति से आकर्षित करते हैं। हमारा विचार है, यह छप्पय उस समय बना है, जब भावसिंह को सिंहासनासीन हुए बहुत समय नहीं बीता था। सब बातों पर ध्यान देने के पश्चात् हमारी राय है कि 'ललित-ललाम' १७१९ में बना।

बूँदी-दरबार में मतिराम की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। भावसिंहजी के लिये इन्होंने 'ललितललाम' ग्रंथ बनाया था। बूँदी-नरेश को यह ग्रंथ इतना पसंद पड़ा कि उन्होंने कविवर को इस उपलक्ष्य में समस्त वस्त्र, आभूषण, चार हजार रुपए, ३२ हाथी और पाटन-परगने के रिड़ी और चिड़ी दो गाँव दिए (देखो पराक्रमी हाड़ाराव, पृष्ठ २६२)। यह विवरण राव सूर्यमल्ल कवि के वंश-भास्कर में भी दिया हुआ है। वंश-भास्कर की रचना संवत् १८९७ में हुई थी। इसमें बूँदी-राज्य का इतिहास विस्तार के साथ है। मुंशी देवीप्रसाद का राय में इसमें इतिहास है; मगर कविता में छिपा हुआ। इस पुस्तक में मतिराम के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह अविकल उद्धृत किया जाता है—

"भाऊ को प्रभाव अलंकारन - विषय आनि,
नूतन बनाय ग्रंथ 'ललितललाम' नाम;
संसद को पाय सो नरेसन सुनाय रुचि,
रीझ पै बढ़ाय कह्यो आगम जितेक काम।

सब पट-भूषन रु बारन बतीस कहै,
बाइसहु कति रु दए चउ सहस दाम;
गेहहि इते गज निबाहन बहुरि दए,
पाटनि के प्रांत के रिरी रु चिरी दुव गाम।
भाऊ भूमिपाल अभिलाष 'मतिराम' को यों
पूरन बिरचि भेद्यो जगती जगाय जस;
भौन-भौन 'ललितललाम' हू बिदित भयो,
पढ़न-पढ़ावन मैं सुकबिन रम्य रस।"

मतिरामजी का कवित्व-यश सुनकर भावसिंहजी के भाई भगवंतसिंह ने भी इन्हें बुला भेजा था, परंतु इन्होंने बूँदी-राज्य के विरोधी भगवंत सिंह के दरबार में जाना अस्वीकार कर दिया।

यदि नृपशंभु वास्तव में शंभाजी हों, तो मानना पड़ता है कि मतिरामजी सतारागढ़ भी जाया करते थे। वहाँ से भी इनको अच्छी अर्थ-प्राप्ति हुई होगी।

शिवसिंहसरोज में मतिराम का सतारागढ़ के सोलंकी राजा शंभुनाथ के यहाँ जाना भी लिखा है। सतारागढ़ के सोलंकी राजा शंभुनाथ कौन थे, इस विषय में हमें संदेह था। सो हमने इस विषय में हिंदी-साहित्य-संसार में प्रसिद्ध, परलोक गत, इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी, मुंसिफ़ से पूछा। उन्होंने हमें जवाब में जो कुछ लिखा, वह इस प्रकार है—"शंभु या नृपशंभु सतारे के राजा शंभाजी मरहटा सेवाजी के बेटे थे। सोलंकी नहीं थे। यह भूल शिवसिंहसरोज से मिश्रबंधु-विनोद में भी, इतिहास न जानने से, आ गई है। सतारा बंबई-हाते में है। कोल्हापुर-महाराज नृपशंभु के घराने के हैं। नृपशंभु ने कविता 'कवि-कलश' से सीखी थी।" इस विषय में हम अपना मत अब भी नहीं निश्चय कर सके हैं।

मतिराम-सतसई

महाकवि मतिराम ने दोहों की एक सतसई भी बनाई है, यह बात बहुत दिन से सुन पड़ती थी, पर सतसई की हस्त-लिखित प्रति सुलभ न थी। ऐसी दशा में 'रहीम-सतसई' के समान 'मतिराम-सतसई' की सत्ता के संबंध में भी बहुत लोगों को संदेह था; परंतु काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से जो खोज का काम होता है, उसके प्रयत्न से १२ या १३ वर्ष हुए, जब यह निश्चयात्मक पता लगा कि हुसेनगंज, फ़तहपुर के निवासी पं० शिवदुलारेजी दुबे के यहाँ उक्त सतसई की एक संपूर्ण हस्त-लिखित प्रति मौजूद है। सभा की ओर से उक्त पुस्तक का नोटिस भी लिया गया, जो खोज-विभाग की रिपोर्ट (बाबत सन् १९०९-११) के पृष्ठ २८५-८६ में है। दुबेजी ने कृपा करके अब वह हस्त-लिखित प्रति गंगा-पुस्तकमाला के स्वामी श्रीदुलारेलाल भार्गव के हाथ बेच डाली है, इसलिये अब वह जिल्द हमारे देखने में भी आ गई है। इसमें लिपि-काल नहीं दिया है। इस प्रति के मिलने के पूर्व हमें एक और खंडित प्रति श्रीयुत पं० भवानीशंकरजी याज्ञिक से मिली थी। शिवदुलारेजी की प्रति खंडित प्रति से काग़ज़ और लिपि में बिलकुल मिल जाती है। शायद दोनो प्रतियाँ एक ही लेखक की लिखी हैं। इसलिये जो बातें खंडित प्रति के विषय में लिखी जाती हैं, वे ही शिवदुलारेजी की प्रति के संबंध में भी कही जा सकती हैं। खंडित प्रति अधिक शुद्ध है।

सतसई की जो खंडित प्रति हमारे देखने में आई है, वह संपूर्ण प्रति के एक-तिहाई अंश से अधिक नहीं है। अंत के ५० पृष्ठ से लेकर ७२ पृष्ठ तक खंडित नहीं है। यह स्पष्ट है कि इस हस्त-लिखित प्रति में ७२ पृष्ठ थे। प्रत्येक पृष्ठ की लंबाई साढ़े आठ इंच तथा चौड़ाई साढ़े पाँच इंच के लगभग है। औसत से प्रत्येक सफ़े में १५ पंक्तियाँ हैं। काग़ज़ मोटा, खुरखुरा और पुराने ढंग का लगा है। लिपि

सुंदर, स्पष्ट तथा पक्की काली रोशनाई की है। बीच-बीच में लाल रोशनाई का भी प्रयोग हुआ है, और पुस्तक हरताल लगाकर शुद्ध भी की गई। 'फतू' नाम के किसी लेखक ने इसे लिखा है। पुस्तक लिखे जाने का संवत् भी दिया है। संवत् के आदि का १७ तथा अंत का ४ तो बिलकुल स्पष्ट है, पर बीच का अंक कुछ खुरच गया है, जिससे उसके पढ़ने में भ्रम होता है। जो हो, उपलब्ध प्रति सं० १७९४ के बाद की लिखी तो किसी भी प्रकार से नहीं है। आजकल की देवनागरी-लिपि से उक्त लिपि में व्यवहृत कुछ अक्षरों में भेद पड़ता है। उदाहरण के लिये उक्त प्रति में व्यवहृत 'भ' का रूप आजकल के 'ल' से मिल जाता है। अंतिम दोहे का नं० ७०४ है। खोज की रिपोर्ट में मतिराम-सतसई के जो दो अंतिम दोहे उद्धृत हैं, वे वही हैं, जो इस प्रति में हैं। भेद इतना ही पड़ता है कि रिपोर्ट-वाले अंतिम दोहे का नं० ७०५ है, और इस प्रति के दोहे का ७०४। वे दोनो दोहे ये हैं—

तिरछी चितवनि स्याम की लसति राधिका-ओर;
भोगनाथ को दीजिए वह मन-सुख बरजोर ॥ १ ॥
मेरी मति में राम है, कबि मेरें मतिराम;
चित मेरो आराम में, चित मेरे आराम ॥ २ ॥

रिपोर्ट में 'भोगनाथ' के स्थान पर 'लोगनाथ' छपा है। यह भ्रम कदाचित् 'भ' और 'ल' के रूप में समता होने के कारण हुआ है। रिपोर्ट में जिस सतसई का उल्लेख है, उसमें ५० पृष्ठ हैं। प्रति पृष्ठ की लंबाई ९ इंच तथा चौड़ाई साढ़े पाँच इंच है। प्रति पृष्ठ में १८ पंक्तियाँ तथा पूरी प्रति में ८४० दोहे हैं। खोज की रिपोर्ट में मतिराम-सतसई के आदि और मध्य के जो ६ दोहे और दिए हुए हैं, तथा जो हमें मिलनेवाली खंडित प्रति में नहीं हैं, उन्हें भी हम दिए देते हैं—

मो मन-तम-तोमहि हरो राधा को मुख-चंद;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नँद-नंदन-आनंद।
भुंज-गुंज को हार उर, मुकुट मोर-पर-पुंज,
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन-कुंज।
रति-नायक-सायक-सुमन सब जग-जीतनवार;
कुबलय-दल सुकुमार तन, मन कुमार जय मार।
राधा-मोहन लाल को जा दिन लावत नेह;
परियो मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह। (आदि)
तेरी मुख-समता करी साहस करि निरसंक;
धूरि परी अरबिंद - मुख, चंदहि लग्यो कलंक।
खेलत गार सिकार है घाड़ोरे पास समेत;
नैन-मृगनि सो बाँधिकै, नैन-मृगनि गहि लेत। (मध्य)

मतिरामजी ने अपनी सतसई किन्हीं भोगनाथ नरनाथ के लिये बनाई है। इन्होंने भोगनाथ की बड़ी प्रशंसा की है। मतिराम-जैसे सत्कवि का सत्कार करनेवाले भोगनाथजी अवश्य ही गुणी और गुणियों का आदर करनेवाले होंगे। हमें इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं कि यह कहाँ के रहनेवाले थे, तथा इनका शासन-काल कौन-सा रहा है। इनसे संबंध रखनेवाले भी दो दोहे नीचे दिए जाते हैं—

सुनत सदा गुरु-बचन, हित रहत बिबुधगन-साथ;
भोगनाथ यह जानियत सदा भूमि-सुरनाथ।
सरनागत-पालक महा, दान-जुद्ध अति धीर;
भोगनाथ नरनाथ यह पग्यो रहत रस-बीर।

भोगनाथ का समय निश्चित हुए बिना 'मतिराम-सतसई' का समय बतलाना बड़ा कठिन काम है, पर हमारा अनुमान है कि संभवतः इसकी रचना 'रसराज' और 'ललितललाम' के बनने के बाद

हुई है। 'रसराज' के बहुत-से उत्कृष्ट दोहे हमको 'सतसई' में मिले हैं, तथा 'ललितललाम' का मंगलाचरण भी इसमें मौजूद है। इस बात की कम संभावना है कि कवि ने 'ललितललाम' का मंगलाचरण अलग न बनाकर उसे अपनी 'सतसई' से उठाकर रख दिया हो। दुबेजी द्वारा जो संपूर्ण प्रति हमको मिली है, वह इस ग्रंथावली में छापी गई है। उसमें एक दोहा शिवाजी की प्रशंसा का भी है।

फुटकल छंद

'मतिराम-सतसई' में जो एक दोहा शिवाजी की प्रशंसा का है, उसके अलावा शिवाजी की प्रशंसा में मतिरामजी के दो और छंद प्राप्त हुए हैं। वे भी आगे दिए जाते हैं। एक छंद छत्रशाल की प्रशंसा में भी है। वह छंद भी दिया जाता है। इनके पढ़ने से जान पड़ता है कि मतिरामजी को शिवाजी और छत्रशाल का भी आश्रय प्राप्त था। संग्रहों में कुछ और भी छंद मिलते हैं, जिनमें मतिराम का नाम आया है। पर हमें वे संदिग्ध समझ पड़े। इसलिये उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं करते हैं। संभवतः मतिराम का जन्म-संवत् १६६० के लगभग हुआ था, और स्वर्गवास संवत् १७५० के लगभग हुआ—

मोह-मद-छाके, बिरचे ते बर बाँके, ऐसे,
बकसे सिवा के कबिराज लिए जात हैं;
धावत धरनि धराधर-धुकि-धक्कन सों,
चिक्करत जिन्हैं देखि दिग्गज परात हैं।
तामसी, तरुन ताम-रस तोरि 'मतिराम',
गगन की गंगा में करत उतपात हैं;
मंद गति सिंधुर मदंध में बिलंदु बिंदु,
ग्यान-अरबिंद-कंद चंदहि चवात हैं॥ १ ॥

बान अरजुन को बखानै 'मतिराम' कबि,
गदा भीमसेन की सदा ही जस-काज की;
बासव को बज्र, बासुदेवजू को चक्र,
बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की।
दंड दंडधर को अदंडन के दंडिबे को,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की;
संभु को त्रिसूल, संभु-सिस्य को कुठार,
संभु-सुत की सकति, समसेर सिवराज की ॥ २ ॥
कबि 'मतिराम' कहै, रति ते अनूप बनी,
रूप धरे राजै मानौ कोकन की कारिका;
धार सुने बार-बार नीर भरि आवतु है,
नीरज की आँखिन नलिन-ऐसी तारिका।
आगरे-दिली में छत्रसाल तेरी धाकनि तैं,
आयो-आयो बोलत मुखन सुक-सारिका;
चौंकि चलि सकैं न चरन जुगलनि लाल,
गुलनि के रंग मुगुलनि की कुमारिका ॥ ३ ॥

द्वितीय खंड

[ग्रन्थावली]

रसराज

मंगलाचरण

ध्यावैं सुरासुर-सिद्ध-समाज, महेसहु आदि महामुनि ग्यानी ;
जोग मैं, जंत्र मैं, मंत्र मैं, तंत्र मैं, गावैं सदा स्त्रुति, सेष, भवानी ।
संकट-भाजन आनन की दुति पूरन दंड उदंड सो जानी ;
ध्याय सदा पदपंकज को[1] 'मतिराम' तबै रसराज बखानी ॥१॥

प्रार्थना

कबित्तार्थ जानौं नहीं, कछुक भयो संबोध ।
भूल्यो भ्रम ते जो कछुक, सुकबि पढ़ैंगे सोध ॥ २ ॥
बरनि नायका-नायकनि, रच्यो ग्रंथ 'मतिराम' ।
लीला राधारमन की, सुंदर जस अभिराम* ॥ ३ ॥

नायक-नायिका

होत नायका नायकहि, आलंबित सिंगार ।
तातैं बरनों[2] नायका, नायक मति-अनुसार ॥ ४ ॥
उपजत जाहि बिलोकिकै, चित्त-बीच रस-भाव[3] ।
ताहि बखानत नायका, जे प्रबीन कबिराव ॥ ५ ॥

---

१ ध्याय सदा तिनके पद को, २ जातैं बरनत, ३ रति ।

छ० नं० २ संबोध=जानकारी । सोध=संशोधन करके ।

* प्रथम तीन छंद केवल वेंकटेश्वर-प्रेस और नवलकिशोर-प्रेसवाली प्रतियों में पाए जाते हैं । कुछ विद्वान् इन्हें मतिराम-कृत नहीं मानते ।

उदाहरण

कुंदन कौ रँगु फीको[1] लगै, झलकै अति[2] अंगन चारु गुराई;
आँखिन मैं[3] अलसानि[4], चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै[5] मुसकानि-मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे[6] ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥ ६ ॥

जाल[7]-रंध्र-मग ह्वै कढ़ै, तिय-तनु दीपति-पुंज।
झिझिया-कैसो घट भयो, दिन ही मैं बन कुंज ॥७॥
तरुनि-अरुन एँड़ीन की, किरिन-समूह-उदोत।
बैनी मंडन-मुकुत के, पुंज गुंज-दुति[8] होत ॥८॥

नायिका-भेद

कही नायिका तीन बिधि, प्रथम स्वकीया मान[9]।
परकीया पुनि दूसरी, गनिका तीजी जान[10] ॥९॥

स्वकीया-लक्षण

लाजवती, निसदिन पगी निज पति के अनुराग।
कहत स्वकीया सीलमय, ताको पति बड़ भाग ॥१०॥

उदाहरण

संचि बिरंचि निकाई मनोहर, लाजति[11] मूरतिवंत बनाई;
तापर तो परभाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति प्रीति सुहाई।

---

१ नीको, २ असि, ऐसे, इमि, ३ की, ४ अलिसौनि, ५ लसै, ६ नीरे कै नैननि, ७ छिद्रजाल, ८ रुचि, ९ प्रथमहि स्वकीया जान, १० मानि, ११ लाजतैं।

छं० नं० ६ कुंदन=तपाया सोना। छं० नं० ७ जाल-रंध्र=जाली के छिद्र। झिझिया-घट =बहुत-से छेदों वाला घंट। छं० नं० ८ मंडन =शृंगार। गुंज=गुंजा, घुंघुची। मुकुत=मुक्ता, मोती। छं० नं० ११ संचि=संचित करके। लाजति=लजाती। पतिदेवत=पतिव्रत।

तेरे सुसील सुभाव भटू, कुलनारिन को कुलकानि सिखाई;
तैही जनो[1] पतिदेवत के गुन गौरि सबै गुन गौरि पढ़ाई ।।११।।

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ।
गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति ।।१२।।

स्वकीया-भेद

त्रिबिध स्वकीया जानियों[2], प्रथमहि मुग्धा नाम ।
मध्या पुनि, प्रौढ़ा गनौ, बरनत कबि 'मतिराम' ।।१३।।

मुग्धा-लक्षण

अभिनव-यौवन-आगमन, जाके तन[3] मैं होय ।
तासों[4] मुग्धा कहत हैं, कबि-कोबिद सब कोय ।।१४।।

उदाहरण

नैक मंद मधुर कपोल मुसिक्यान लागे,
नैक मंद गमन गयंदन की चाल भौ ;
रंचक[5] न ऊँचो लगो अंचल उरोजन के,
अंकुरनि बंक-दीठि नेक सो बिसाल भौ ।
'मतिराम' सुकबि रसीले कछु बैन भए,
बदन सिंगार-रस बेलि-आलबाल भौ ;
बाल-तनु-जोबन-रसाल उलहत सब[6],
सौतिन कै साल भौ, निहाल नंदलाल भौ ।।१५।।

अभिनव जौबन-जोति-सौं, जगमग होत बिलास ।
तिय के तनु पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास ।।१६।।

---

१ मनी, २ जानियै, ३ अंग, ४ को, ५ रंच ऊँचो अंचल उरोजनि अंकुरनि बंक दीठि नैम जुग नेसुक बिलास भों, ६ लखि ।

छं० नं० १४ अभिनव=नवीन । छं० नं० १५ आलबाल=थाल्हा । छं० नं० १६ पनिप=आब ।

मुग्धा-भेद

मुग्धा के द्वै भेद बर भाषत सुकबि सुजान।
एक अग्यातहि जौबना, ग्यातजौबना आन ॥ १७ ॥

अज्ञातयौवना-लक्षण

निज तनु-जौबन-आगमन जो नहिं जानति नारि।
सो अग्यात सु जौबना, बर्नत कबि निरधारि ॥ १८ ॥

उदाहरण

खेलन चोर-मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं;
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाँई[1]।
एकहि भौन दुरे इकसंग ही, अंग सों अंग छुवायो कन्हाई;
कंप छुटयो, घनस्वेद[2] बढ़यो, तनु रोम उठयो,[3] अँखियाँ भरि आई ॥ १९ ॥

लाल, तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नयन हौ करन कपूर[4] लगाइ ॥ २० ॥

ज्ञातयौवना-लक्षण

निज तनु जौबन-आगमन जानि परत है जाहि।
कबि-कोबिद सब कहत हैं ग्यात जौबना ताहि ॥ २१ ॥

---

१ हँसाई, २ तन, ३ उठे, ४ कपोल।

छं० नं० १९ चोर-मिहीचनी=लुकीलुकौरा नाम का खेल। छं० नं० २० बलाइ= बला से। छं० नं० २१ का भावार्थ यह है—हे कृष्ण, मैं तुम्हारे साथ चोर-मिहीचिनी खेल क्यों खेलूँ? तुम तो अपने हाथों में कपूर लगाकर मेरी आँखें बंद करते हो, जिससे उनमें आँसू आ जाते हैं। अज्ञात-यौवना नायिका होने से नायक के कर-स्पर्श के कारण नायिका की आँखों में जो अश्रु-संचार होता है, वह उसका असली कारण नहीं समझ पाती है। उसका खयाल है कि नायक शरारत करने के लिये हाथों में कपूर लगाकर आँखें बंद करता है।

उदाहरण

कानन लौं लागे, मुसकान प्रेम-पागे, लौने,
लाज भरे लागे लोल[1] लोचन अनंग ते;
भारु धरि भुजनि[2] डुलावति चलत मंद,
औरैं ओप उलहत उरज उतंग ते।
'मतिराम' जोबन[3]-पवन की झकोर आय,
बढ़िकै[4] सरस रस तरल तरंग ते;
पानिप अमल की झलक झलकन लागी,
काई-सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते ॥ २२ ॥
इतै-उतै सचकित चितै चलत डुलाबत[5] बाँह।
दीठि[6] बचाइ सखीन की छिनकु निहारति[7] छाँह ॥ २३ ॥

नवोढ़ा-लक्षण

मुग्धा जो भय लाजयुत रति न चहै पति-संग।
ताहि नवोढ़ा कहत हैं जे प्रबीन रसरंग ॥ २४ ॥

उदाहरण

साथ सखी के नई दुलही को, भयो हरि कौ हियो हेरि हिमंचल;
आय गए 'मतिराम' तहाँ घरु[8], जानि इकंत अनंद ते चंचल[9]।

---

१ बिलसति, २ भुज को, ३ के पवन, ४ बाढ़त, ५ चलै झुलावति, ६ डीठि, ७ निरीखति, ८ घर, ९ अनंदित चंचल, अनंद सों चचल।

छं० नं० २२ ओप=शोभा। काई=वर्षा-ऋतु में जलाशयों में एक प्रकार की बेलि फैल जाती है, उसको काई कहते हैं। छं० नं० २५ "भयो हरि को हियो हेरि हिमंचल"=दुलहिन को देखकर कृष्णचंद्र हिमाचल के समान अचल और शीतल हो गए, अर्थात् सौंदर्याधिक्य देखकर वह जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गए और आनंद से उनका हृदय शीतल हो गया।

देखत ही नँदलाल को बाल के पूरि रहे अँसुवानि दृगंचल ;
बात कही न गई, सु रही गहि हाथ दुहू सों सहेली को अंचल ॥
॥ २५ ॥

ज्यों-ज्यों परसत[1] लाल तन, त्यों-त्यों राखै[2] गोय ।
नवल बधू[3] डर[4]-लाज तैं इंद्रबधू-सी होय ॥ २६ ॥

विश्रब्धनवोढ़ा-लक्षण

होय नवोढ़ा कै कछू प्रीतम सों परतीति ।
सो विस्रब्धनवोढ़ यों बरनत कबि रस-रीति ॥ २७ ॥

उदाहरण

केलि कैं राति[5] अघाने नहीं, दिन[6] ही मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयौ, भीतर बैठिकैं बात सुनाई ।
जेठी पठाई गई दुलही[7], हँसि, हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई ;
कान्ह के बोल मैं कान न दीनो, सो गेह की देहरी पै[8] धरि
आई ॥ २८ ॥

प्रीतम तुम्हरी[9] सेज पर[10] हौं आऊँ नँदलाल[11] ।
दया गहौ, बात न कहौ, दुख न दीजिए लाल ! ॥ २९ ॥

मध्या-लक्षण

जाके तन[12] मैं होत है लाज-मनोज समान ।
ताकौं[13] मध्या कहत हैं कबि 'मतिराम' सुजान ॥ ३० ॥

---

१ परसै, २ राखत, ३ बाल, नारि, ४ उर, ५ रैनि, ६ हूँ कै, ७ जिठानी पठाई गई दुलही हँसि इत्यादि, जेठी पठाई गई इत्यादि, ८ हौं, ९ प्रीति तुम्हारी, १० मैं, ११ गोपाल, १२ मन, १३ तासों ।

"रही गहि हाथ दुहूँ सों सहेली को अंचल"=सहेली को अंचल पकड़ने में नायिका का यह अभिप्राय है कि तू यहीं रह, मुझे नायक के पास अकेली न छोड़ । इस वाक्य से नायिका का नवोढ़त्व सूचित होता है । छं० नं० २६ गोय=छिपाकर । इंद्रबधू=बीरबहूटी । छं० नं० २८ जेठी=जिठानी, पति के बड़े भाई की स्त्री ।

उदाहरण

चित्र[1] मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जिहि कोटि चंद सरद-पुनीन के ;
मुसकानि अमल कपोलन मैं रुचि बृंद,
चमकै तरचौननि की रुचिर चुनीन[2] के ।
प्रीतम निहारचो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के ;
गाढ़े गही लाज-मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के ।। ३१ ।।

केलि-भवन की देहरी खरी बाल छबि नौल[3] ।
काम कलित हिय कौ लहै लाज कलित दृग-कौल[4] ।। ३२ ।।

प्रौढ़ा-लक्षण

निज पति सौं रति-केलि की सकल कलानि प्रबीन ।
तासों प्रौढ़ा कहत हैं, जे कबिता[5]-रस-लीन ।। ३३ ।।

उदाहरण

प्रान-पिया मनभावन संग, अनंग-तरंगनि रंग पसारे ;
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर, केलि के पुंज हजार[6] उघारे ।
होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम, सुंदरि के हिय मैं दुख भारै ;
चंद-सौ आनन, दीप-सी दीपति, स्याम सरोज-से नैन निहारे ।।
३४ ।।

---

१ चित, २ गुनीन, ३ भौन, ४ कौन, ५ कबित्त, ६ अनेक ।

छं० नं० ३१ सरद-पुनीन=शरद् पूर्णिमाओं के । मैन=काम । बरुनी=पलकैं । छं० नं० ३२ नौल—नवल=सुंदर । कलित=शोभित । कौल=कमल । छं० नं० ३४ पसारे=फैलाए । उघारे=खोले । अनंग-तरंगनि रंग पसारे=अनंग लहरियों के रंग विस्तृत किए । केलि के पुंज हजार उघारे=नाना प्रकार की काम-क्रीड़ा की । स्याम सरोज=नीलोत्पल, नीला कमल । नील कमल के संबंध में यह कवि-संप्रदाय है कि वह दिन में न फूलकर रात में फूलता है ।

लपटानी अति प्रेम सौं दै उर उरज-उतंग।
घरी एक[1] लौं छुटेहु पर रही लगी-सी अंग ॥ ३५ ॥

मध्या-प्रौढ़ा-भेद

मध्या प्रौढ़ा मानतें[2] तीन भाँति पुनि जानि।
धीरा बहुरि[3] अधीर तिय, धीराधीरा मानि ॥ ३६ ॥

मध्या-धीरा-प्रौढ़ा लक्षण

बचननि की रचनानि सौं पियहि जनावत[4] कोप।
मध्या धीरा कहत हैं ताहि सुमति-रस-चोप ॥ ३७ ॥

उदाहरण

तुम कहा करो कान[5]! काम तैं अटकि रहे,
　　तुमकौं[6] न दोस, सो तो आपनोई भाग है;
आय मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही तैं,
　　अति हर बरन बनाय बाँधी पाग है।
मेरे ही बियोग रहे जागत सकल राति,
　　गात अलसात,[7] मेरो परम सुहाग है;
मनहु की जानी प्रानप्यारे! 'मतिराम' यहै
　　नैननि हूँ माहिं पाइयतु अनुराग है ॥ ३८ ॥

---

१ छूटे पर घरि एक लौ रहौ, २ प्रौढ़ा मध्या मान मैं, ३ और, ४ जनावै, ५ काहू, ६ तुम्हैं कहा, ७ अंग अलसाने।

छं० नं० ३५ उतंग=उत्तुंग, ऊँचे। छं० नं० ३८ कान—कान्ह=कृष्ण। मनहू की जानी प्रानप्यारे पाइयतु अनुराग है=नायिका व्यंग्य के साथ नायक से कहती है कि मेरे प्रति तुम्हारा अनुराग मन में भी है, और आँखों में भी। आँखों का अनुराग तो नेत्रों की लाली से स्पष्ट ही है, पर मन का अनुराग भी मुझसे छिपा नहीं है—मन में मेरे प्रति अनुराग रहने से ही पाग बाँधने में आपने हड़बड़ी की है, रात-भर मेरे वियोग में जगते रहे हैं, और शरीर में आलस्य भरा हुआ है। पर

अजौं उड़ावत हौ नहीं, पीर न होत सभाग।
ठौर-ठौर या भौंर के डसे[1] अधर-दल-दाग ॥ ३९ ॥

मध्या-अधीरा-लक्षण

मध्या कही अधीर तिय, बोलै बोल[2] कठोर।
पियहिं जनावति कोप सो[3], बरनत कबि-सिरमौर ॥ ४० ॥

उदाहरण

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम,' रहो तित ही, जित ही मन भायो;
काहेकौं सौंहैं हजार करौ तुम, तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमें दुख, यों ही कहा रसवाद[4] बढ़ायो;
मान रहोई नहीं मनमोहन ! मानिनी होय, सो मानैं मनायो ॥ ४१ ॥

बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम-छाप।
तितैं जाहु मनभावते, जितै बिकाने आप ॥ ४२ ॥

मध्या-धीराधीरा-लक्षण

मध्या-धीराधीर तिय ताहि कहत सब कोय।
पिय सौं कहिके बचन कछु, रोस जतावै[5] रोय ॥ ४३ ॥

उदाहरण

आजु कहा तजि बैठी हो भूषन ? ऐसे हीं अंग कछू अरसीले;
बोलती बोल रुखाई लिए 'मतिराम' सनेह सने न रसीले[6]।

---

१ लसे, २ बचन, ३ यों, ४ बकबाद, ५ जनावै, ६ मतिराम सनेह सुनैं ते रसीले।

ये सब बातें झूठी हैं, असली अभिप्राय तो यह है कि आपका मुझ पर अनुराग नहीं है। छं० नं० ४१ सौंहैं=क़समें। ठायो=किया। रसवाद=प्रेम-विवाद। छं० नं० ४२ बलय=चूड़ी। तरिवन=तरयोना, कान में पहनने का आभूषण। छं० नं० ४३ रोस=रोष, गुस्सा।

क्यों न कहौं दुख प्रान-प्रिया ? अँसुवानि रहे भरि नैन लजीले;
कौन तिनैं[1] दुख है, जिनकें तुम-से मनभावन छैल-छबीले ॥
४४ ॥

तुम सों कीजै मान क्यों, बहु नायक मन-रंज ।
बात कहत यों बाल के भरि आए दृग-कंज ॥ ४५ ॥

प्रौढ़ा-धीरा-लक्षण

पिय सों प्रगट न रिस करै, रति ते रहै उदास ।
प्रौढ़ा-धीरा जानिए, सो निज सुमति बिकास[2] ॥ ४६ ॥

उदाहरण

वैसे ही चितैकै मेरे चित्त को चुरावती हौ,
बोलती हौ वैसे ही मधुर मृदु बानि सौं ;
कबि 'मतिराम' अंक भरत मयंकमुखी,
वैसे ही रहत गहि[3] भुज-लतिकानि सौं ।
चूमति कपोल, पान करत अधर-रस,
वैसे ही निहारियत[4] सकल कलानि सौं ;
कहा चतुराई ठानियत ? प्रानप्यारो तेरो
मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सौं ॥ ४७ ॥

ढीली बाहुन सों मिली, बोली कछू न बोल ।
सुंदरि मान जनाय यों लियो प्रानपति मोल ॥ ४८ ॥

प्रौढ़ा-अधीरा-लक्षण

डरु दैकैं प्रिय को प्रिया देय सुमन की मारु ।
प्रौढ़ अधीरा कहत हैं, ताहि सुकबि मति[5] चारु ॥ ४९ ॥

---

१ तुम्हैं, २ विलास, ३ गहत रहि, ४ निहारी रीति, ५ सुमति कवि ।

छं० नं० ४५ मन-रंज=मनरंजन । छं० नं० ४७ रूखी मुख-मुसकान=कृत्रिम मुसकराहट, जिसमें प्रेम का अभाव झलकता हो । छं० न० ४९ सुमन की मारु=फूलों से मारना ।

उदाहरण

जाके अंग-अंग की निकाई निरखत आली,
वारनें अगंन की निकाई कीजियतु है ;
कबि[1] 'मतिराम' जाकी चाह ब्रजनारिन को,
देह अँसुवान के प्रबाह भीजियतु है।
जाके बिनु देखे न परत कल तुमहूँ कौं,
जाकें बैन सुनत सुधा-सी पीजियतु है ;
ऐसे सुकुमार प्रिय नंद के कुमार को यों
फूलन के मालन की मारु दीजियतु[2] है ॥ ५० ॥

जहाँ-जहाँ सखि, देत तू फूल-माल की मारु।
तहाँ-तहाँ नँदलाल के उठैं[3] रोम तन चारु ॥ ५१ ॥

प्रौढ़ा-धीरा-अधीरा-लक्षण

रति-उदास ह्वै नाह कों डर दिखरावै बाम।
प्रौढ़ अधीरा धीर तिय बरनत कबि[4] 'मतिराम' ॥ ५२ ॥

उदाहरण

प्रीतम आए प्रभात प्रिया-घर, राति रमैं रति-चिह्न लिए हीं;
बैठि[5] रही पलका पर सुंदरि नैन नवायकें, धीर धरें हीं।
बाँह गहैं 'मतिराम' कहैं, न रही रिस मानिनी के हठ कें हीं ;
बोली[6] न बोल कछू, सतरायकें, भौंह चढ़ाय तकी तिरछौंहीं ॥
५३ ॥

आवत उठि आदर कियो, बोली[7] बोल रसाल।
बाँह गही नँदलाल जब, भए बाल-दृग लाल ॥ ५४ ॥

---

१ कहें, २ ऐरी बौरी फूलन की मारु दीजियतु है, ३ उठत, ४ कहत सुकवि, ५ पौढ़ि, ६ बोलै, ७ बोलै।

छं० नं० ५० निकाई=शोभा। वारनें=न्योछावर करना। प्रबाह=बहाव, धारा। छं० नं० ५१ उठैं रोम तन चारु=रोमांच हो जाता है। छं० न० ५३ सतरायकें=गर्व-संयुक्त अनमनी होकर। तकी तिरछौंहीं=टेढ़ी निगाह से देखा।

जेष्ठा-कनिष्ठा-लक्षण

बरनत ज्येष्ठ-कनिष्ठिका, जहँ द्वै ब्याही नारि ।
प्रथम पियारी, दूसरी घटि प्यारी निरधारि ॥ ५५ ॥

उदाहरण

बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ,
आय तहाँ प्रीतम सुधा-समूह बरसै ;
कबि 'मतिराम' ढिग बैठे मनभावन जू[1],
दुहुँन के हीय-अरबिंद मोद सरसै ;
आरसी दै एक सों कह्यो यों निज मुख देखौ,
जामें बिधु-बारिज-बिलास बर दरसै ;
दरप-सौं भरी वह दरपन देख्यो जौलौं,
तौलौं प्रानप्यारी के उरोज हरि[2] परसै ॥ ५६ ॥

बेनी गूँथत एक की नंदलाल चित-लोल ।
चूमत प्यारी के मधुर[3] बिहँसत गोल कपोल ॥ ५७ ॥

परकीया-लक्षण

प्रेम करै पर-पुरुष सौं, परकीया सो जान ।
दोय भेद ऊढ़ा कहत, बहुरि अनूढ़ा मान ॥ ५८ ॥

ऊढ़ा-लक्षण

ब्याही औरै पुरुष सौं, औरै सों रस-लीन ।
ऊढ़ा तासों कहत हैं, कबि[4]-पंडित-परबीन ॥ ५९ ॥

---

१ बैठ्यो मनभावतो सो, २ हार, ३ अधर, ४ जे ।

छं० नं० ५५ घटि प्यारी=ज्येष्ठा से कम प्यारी । छं० नं० ५६ हीय-अरबिंद—हृदयारविंद=हृदय-कमल । आरसी=आइना । बिधु-बारिज=चंद्रमा और कमल । दरप=दर्प, अभिमान । दरपन=दर्पण, शीशा । छं० न० ५७ लोल=चंचल ।

उदाहरण

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै;
नेकु निहारैं[1] कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहौ कैसे के जीजै ।
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ;
ह्वै बनमाल हिए लगिए, अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै ॥६०॥

कंत चौक सीमंत की बैठी गाँठि जुराय ।
पेखि परोसिनि कौं प्रिया घूँघट मैं मुसकाय ॥६१॥

अनूढ़ा-लक्षण

अनब्याही केहु पुरुष सों अनुरागिनि जो होय ।
ताहि अनूढ़ा कहत हैं कबि-कोबिद सब कोय ॥६२॥

उदाहरण

गोप-सुता कहै, गौरि गुसाइँन ! पायँ परौं, बिनती सुनि लीजै;
दीन-दया-निधि दासी के ऊपर नेक सुचित्त दया-रस भीजै ।
देहि जो ब्याहि उछाह सों मोहनै, मात-पिता हू को सो मन कीजै;
सुंदर साँवरो नंदकुमार, बसै उर जो वह, सो बर दीजै ॥६३॥

---

१ लखे तैं ।

छं० नं० ६० इहि गाँव बसे कहौ कैसे के जीजै=इस गाँव में रहकर कैसे ज़िंदा रह सकते हैं । बनमाल=बैजयंती माला, जो कृष्णचंद्र धारण करते थे । परकीयत्व का प्रतिपादन इस भाँति होता है कि नायिका को इस जन्म में श्रीकृष्ण से मिलने की आशा नहीं है, क्योंकि वह जानती है कि मैं विवाहित हूँ, अब इस जन्म में दूसरा पति नहीं पा सकती । छं०नं० ६१ नायिका अपने पति के साथ गाँठ जोड़कर सीमंत-संस्कार का काम पूरा कर रही है, पर पास ही पड़ोसिन के प्रियतम को बैठा देखकर घूँघट से मुस्कराती भी है । असल में जिस पुत्र के लिये सीमंत-संस्कार (मूल-शांति) हो रही है, उसकी उत्पत्ति इस पड़ोसी के संसर्ग से हुई है ।

मैं सुन आई नंद-घर, अब तू होहु निसंक।
राधे-मोहन[1]-ब्याह सौं जैहै धोव कलंक ॥६४॥

परकीया-भेद

परकीया के भेद षट, गुप्ता प्रथम बखान।
बहुरि बिदग्धा, लच्छिता, मुदिता, कुलटा मान ॥६५॥
और जु अनुसयना कही, तिनके बिमल[2] बिबेक।
बरनत कबि 'मतिराम', यह रस-सिंगार को सेक ॥६६॥

गुप्ता-लक्षण

सुरति छिपावै जो तिया सो गुप्ता, उर आनि।
बरनत कबि 'मतिराम', यह चतुराई की खानि ॥६७॥

उदाहरण

लेन गई हुती बागन फूल, अँध्यारी लखें डर बाढ़चो महाई[3];
रोम उठे, तन कंप छुटे, 'मतिराम' भई स्रम की सरसाई।
बेलिन में उरझी अँगियाँ, छतियाँ अति कंटक के छत-छाई;
देह में नेक सँभार रह्यो न, यहाँ लगि भाजि मरू करि आई ॥६८॥

भलो नहीं यह केवरो, सजनी! गेह अराम।
बसन फटैं, कंटक लगैं[4] निसि-दिन, आठों जाम ॥६९॥

बिदग्धा-भेद

द्विबिधि बिदग्धा कहत हैं कबि करि बिमल बिबेक।
बचन-बिदग्धा एक है, क्रिया-बिदग्धा एक ॥७०॥

---

१ माधव, २ त्रिविधि, ३ तहाँई, ४ अटैं।

छं० नं० ६४ जैहै धोय कलंक=इस वाक्य से स्पष्ट है कि ब्याह के पहले से ही इनके संबंध की चर्चा करके लोग इन्हें कलंकित करते थे। इस प्रकार परकीयत्व स्पष्ट हो जाता है। सखी कहती है कि ब्याह हो जाने से इनका पूर्व कलंक मिट जायगा। छं० नं० ६६ सेक=मत। छं० नं० ६८ स्रम की सरसाई=श्रम की सरसता, थकान। छत-छाई=घायल हो गई। मरू करि=कठिनता से।

बिदग्धा-लक्षण

करै बचन सौं चातुरी, बचन-बिदग्धा जान।
करै क्रिया सौं चातुरी, क्रिया-बिदग्धा मान ॥७१॥

वचन-विदग्धा-उदाहरण

आई[1] है निपट साँझ, गैयाँ गईं घर-माँझ,
ह्वाँ ते दौरि आई, मेरो कह्यो कान्ह कीजिए।
हौं तो हौं अकेली, और दूसरो न देखियत,
बन की अँधेरी मैं अधिक भय भीजिए॥
कबि 'मतिराम' मनमोहन सौं पुनि-पुनि
राधिका कहत, बात साँची यै पतीजिए ;
कब की हौं हेरति, न हेरे हरि ! पावति हौं,
बछरा हिरानो, सो हिराय नैंक दीजिए ॥७२॥
खेत निहारौ[2] धान को यौं बूझ्यो मुसकाय।
इहौ हमारो है कह्यो, सघन ज्वार[3] दरसाय ॥७३॥

क्रिया-विदग्धा-उदाहरण

बैठी तिया गुरलोगन मैं रति तैं अति सुंदर रूप बिसेखी ;
आयो तहाँ 'मतिराम' सुजान[4], मनोभव सौं बढ़ि कांति उरेखी[5]।
लोचन रूप पियो ही चहैं, अरु लाजनि जात नहीं छबि पेखी ;
नैन नमाय रही हिय-माल मैं, लाल की मूरति लाल मैं देखी
॥७४॥

---

१ आवै, २ निहारै, ३ उबर, ४ सु जामैं, ५ बिसेखी।

छं० नं० ७२ भय-भीजिए=भय में मग्न होना। छं० नं० ७३ सघन ज्वार दरसाय=ज्वार के खेत को दिखलाने में यह अभिप्राय है कि उसमें छिपकर केलि करने का अवसर धान के खेत से भी अच्छा है। छं० नं० ७४ मनोभव=काम। हिय-माल=हृदय पर धारण की हुई माला। लाल=पहले स्थान पर कृष्ण और दूसरे पर रत्न।

चढ़ी अटारी बाम[1] वह कियो प्रनाम अखोट[2] ।
तरनि-किरन तैं दृगन कौं कर-सरोज की ओट ॥७५॥

लक्षिता-लक्षण

होत लखाय सखीन कौं पिय सौं जाको प्रेम ।
ताहि लच्छिता कहत हैं कबि-कोबिद करि नेम ॥७६॥

उदाहरण

आई हौ पायँ दिवाय महावर कुंजन तैं करिकैं सुख-सैनी ;
साँवरे आजु सँवार्‌यो है अंजन, नैनन को लखि लाजति ऐनी ।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करिए यह[3] भौंह तनैनी ;
मूँदि न राखत प्रीति भटू[4], यह गँदी[5] गुपाल के हाथ की बैनी ॥७७॥

सतरौहीं भौंहन नहीं दुरै दुरायो नेह ।
होत नाम नँदलाल के नीपमाल[6]-सी देह ॥७८॥

कुलटा-लक्षण

जो चाहत बहु नायकन, सरस सुरति पर-प्रीति ।
तासौं कुलटा कहत हैं, लखि ग्रंथन की रीति ॥७९॥

उदाहरण

अंजन दै निकसै नित नैनन, मंजन कै अति अंग सँवारै ;
रूप-गुमान-भरी मग मैं पग ही के अँगूठा-अनौट सुधारै ।

---

१ बाल, २ निखोट, ३ भटू, ४ अली, ५ गूँधी, ६ दीपमाल ।

छं० नं० ७७ सुख-सैनी=सुख-पूर्वक शयन-कार्य । साँवरे=कृष्ण । ऐनी=एणी, हरिणी । भटू=बाला । गूँदी=गुही हुई, बनाई हुई । महावर तन-स्वेद से फैला है, कज्जल अश्रु सात्त्विक के कारण बहकर आँखों के बाहर फैल गया है, तथा पीड़ा के डर से नायक ने वेणी ढीली बाँधी है । छं० नं० ७८ नीप=कदंब । नीपमाल-सी देह=रोमांच-युक्त शरीर ।

जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारैं[1] ;
जाति चली यहि भाँति गली[2], बिथुरी अलकैं अँचरा न सँभारैं[3]
॥८०॥

मोह मधुर मुसकानि सौं, सबै गाम के छैल ।
सकल सैल, बन, कुंज मैं, तरुनि सुरति की सैल ॥८१॥

मुदिता-लक्षण

चित चाही सुन बात लखि मुदित होय जो बाल ।
तासौं मुदिता कहत हैं कबि 'मतिराम' रसाल ॥८२॥

उदाहरण

मोहन तैं कछु द्योसन मैं 'मतिराम' बढ़्यो अनुराग सुहायो ;
बैठी हुती तिय मायके मैं ससुरारि को काहू सँदेसो सुनायो ।
नाह के ब्याह की चाह[4] सुनी हिय माँहि उछाह छबीली के छायो ;
पौढ़ि रही पट ओढ़ि अटा दुख को मिस कै[5] सुख बाल छिपायो ।
॥८३॥

बिछुरत रोवत दुहुन कौ, सखि यह रूप लखै न ।
दुख-अँसुवा पिय-नैन हैं, सुख-अँसुवा तिय-नैन ॥८४॥

पहली अनुसयना-लक्षण

केलि करे जहँ कंत सौं, सो थल मिट्यो निहारि ।
कहि अनुसयना तासु सों, सोच करे बर नारि ॥८५॥

---

१ मतवारी न अंग सँभारैं, २ अली, ३ उर धारैं, ४ बात, ५ मिसु कै ।

छं० नं० ८३ दुख को मिस कै सुख बाल छिपायो=नायिका ने प्रकट तो यह किया कि नायक के दूसरे विवाह से मुझे दुःख है पर असल में उसे सुख हुआ पर इस सुख को उसने छिपाया । छं० नं० ८४ दुख-अँसुवा, सुख-अँसुवा=दुख के आँसू गरम और सुख के ठंढे माने गए हैं ।

उदाहरण

आई रितु पावस अकास आठौं दिसन मैं,
सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को ;
'मतिराम' सुकबि कदंबन की बास जुत,
सरस बढ़ावैं रस परस समीर को।
भौन ते निकसि बृषभानु की कुमारि[1] देख्यो,
ता समें[2] सहेट को निकुंज गिरयो तीर को ;
नागरि के नैननि तैं नीर को प्रबाह बढ़यो,
निरखि प्रबाह बढ़्यो जमुना के नीर को ॥८६॥

ग्रीषम-रितु मैं देखि कैं बन मैं लगी दुवारि[3]।
एक अपूरब बात यह, जरत हिए बर नारि ॥८७॥

दूसरी अनुसयना

होनहार संकेत को जहँ अभाव उर-आनि[4]।
अनुसयना कहिए यहौ हिए दुखनि की खानि[5] ॥८८॥

उदाहरण

बेलिन सों लपटाय रही है तमालन की अवली अति कारी ;
कोकिल-केकी[6]-कपोतन के कुल केलि करैं जहाँ आनँद भारी।
सोच करो जिन, होहु सुखी 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी ;
मंजुल बंजुल-कुंजन में घन पुंज सखी ! ससुरारि तिहारी ॥८९॥

केलि करैं मधुमत्त जहँ घन मधुपन के पुंज।
सोच न कर तुव सासुरे सखी ! सघन बन-कुंज ॥९०॥

---

१ कुँवरि, २ तासु में, ३ दवाँरि, ४ सोच करै जो नारि, ५ होय हिये दुख भारि, ६ कूक।

छं० नं० ८६ सहेट=प्रणयियुग्म के मिलने का निर्जन एकांत स्थल। छं० न० ८९ बंजुल=बेत या अशोक।

तीसरी अनुसयना

प्रीतम गए सहेट कौं जानै हेतुहि पाय।
तृतिया अनुसयना कही, हौं न गई पछिताय ॥९१॥

उदाहरण

साँझ समै 'मतिराम' काम-बस बंसीधर,
बंसीबट-तट पै बजाई जाय बाँसुरी ;
सुमिरि सहेट बृषभानु की कुमारि[1]-उर,
दुख अधिकानो भयो सुख को बिनासु री।
सर-सौ समीर लाग्यौ, सूल-सी सहेली सब,
विष-सो बिनोद लाग्यो, बन-सो निवासु री;
ताप चढ़ि आयो तन, पीरी पर आई मुख,
आँखिन के ऊपर उमँगि आए आँसु री ॥९२॥
छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की हाल।
कुम्हिलानी उरसाल धरि फूल-माल ज्यों बाल ॥९३॥

गणिका-लक्षण

धन दै जाके संग मैं रमें पुरुष सब कोइ।
ग्रंथन को मत देखि कैं गणिका जानहु सोइ ॥९४॥

उदाहरण

लाल कर-चरन रदन-छद नख लाल,
मोतिन की रदन[2] रही है छबि छाइ कै;
कवि 'मतिराम' मुख सुबरन रूप रहि[3],
रूप-खानि मुसकानि सोभा सरसाइ कै।

---

१ कुँवरि, २ गूँदन, ३ देह सुबरन रूप जानि।

छं० नं० ९२ भयो सुख को बिनासु री=अरी सुख का नाश हो गया। बन-सो निवासु री=अरी निवासस्थान जंगल-सा लगने लगा। पीरी परि आई मुख=मुख पीला पड़ गया। उमँगि आए आँसु री=अरी आँसू छलक आए।

आनन कौं इंदु जान, आँखैं अरविंद मानि,
इंदिरा रजनि-दिन रहति सिहाइ[1] कैं;
नायक नवल क्यों न देय धन-मन ऐसे ?
सुतनु कौं सुतनु अतुन-धन पाइ कै ॥९५॥
लसत गूजरी ऊजरी बिलसत लाल इजार[2]।
हियै हजारनि के हरै बैठी बाल बजार ॥९६॥

अन्य-संभोगदुःखितादि-भेद

अनसौं रति हुय दुःखिता, प्रेमगरबिता जान।
रूपगरबिता और पुनि मानवती उर आन ॥९७॥

अन्य-संभोगदुःखिता-लक्षण

निज पति के रति-चिह्न जो लखे और तिय-देह।
अन्य सुरतिदुखिता कहौ, करै पेच-रिस-तेह ॥९८॥

उदाहरण

याही कौं पठाई भलो काम करि आई बड़ी,
तेरी ये बड़ाई लखे लोचन लजीले सौं;
साँची क्यों न कहे कछु मोकौं किधौं आपहिं कौं,
पाइ बकसीस लाई बसन छबीले सौं।
'मतिराम' सुकबि सँदेसो अनुमानियत[3],
तेरे[4] नख-सिख अंग हरष कटीले सौं;
तू तौ है रसीली रस-बातन बनाय जानैं,
मेरे जान आई रस राखि कैं रसीले सौं ॥९९॥
कहत तिहारो रूप यह, सखी पैंड़ को खेद।
ऊँची लेत उसास है कलित सकल तन-स्वेद ॥१००॥

---

१ सहाय, २ बिचार ३ कबि मतिराम मोसो कहत सदसोऊ न, ४ भरे।

छं० नं० ९५ सुतनु दो बार आया है। एक बार वह नायक का विशेषण है और दूसरी बार अतनु का। अतनु=कामदेव।

छं० नं० ९६ इजार=पायजामा। छं० नं० ९९ रसीले=रसिक नायक। छं० नं० १०० पैंड़=रास्ता।

प्रेमगर्विता-लक्षण

निज नायक के प्रेम कौं गरब जानवै बाल।
प्रेम-गरबिता कहत हैं तासौं सुमति-रसाल ।।१०१।।

उदाहरण

मेरे हँसे हँसत हैं, मेरे बोले बोलत हैं,
मोही कौं जानत तन[1]-मन-धन-प्रान री;
कबि 'मतिराम' भौंह टेढ़ी किए हाँसी हू मैं,
छोड़ देत भूषन-बसन, खान-पान री!
मोतैं प्रानप्यारी प्रानप्यारे कें न और कोऊ,
तासों रिस कीजै कहौ कहाँ की सयान री!
मैन-कामनी के[2] मैनका हू के न रूप रीझे,
मैं न काहू के सिखायें आनों मन मान री! १०२।।
औरन के पाइन दियो नायनि जावक लाल।
प्रान-पियारी रावरी परखति तुम्हें रसाल ।।१०३।।

रूपगर्विता-लक्षण

जाकें अपने रूप को अति ही होय गुमान।
रूप-गरबिता कहत हैं तासौं परम सुजान ।।१०४।।

उदाहरण

सोय रही रति अंत रसीली अनंत बढ़ाय अनंग-तरंगनि;
केसरि-खौरि रची तिय के तन प्रीतम और सुबास के संगनि।

---

१ मोहि को सो जानत है, २ सी।

छं० नं० १०२ मैन-कामिनी=रति। मैनका=एक अप्सरा का नाम। छं० नं० १०५ भौंह के भंगनि=भ्रूभंग द्वारा, भवें चढ़ाकर। रूप का गर्व इस प्रकार से प्रकट हुआ कि नायिका को केसरि का लगाया जाना नहीं रुचा, क्योंकि वह अपनी अंग-दीप्ति और अंग-सुगंधि को केसरि से बढ़कर मानती थी।

जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावत भौंह के भंगनि;
लाल सों बोलति नाहिन बाल सु पोंछति आँखि अँगोछति अंगनि।
१०५।।

कैसे आऊँ हूँ वहाँ हैं जित नंदकिसोर।
दिन हूँ में मुखचंद को लखि ललचात चकोर।।१०६।।

मानवती-लक्षण

करै ईरषा सों जु तिय मनभावन सों मान।
मानवती तासों कहत कबि 'मतिराम' सुजान[1] ।।१०७।।

उदाहरण

सो मनमोहन होत लटू मुख जाके भटू! बिधु की छबि छाजै;
खोल कैं नैनन देखैं जो नेक तो स्याम सरोज-पराजय साजै।
जो बिहँसै मुख सुंदर तो 'मतिराम' बिहान को बारिज लाजै;
बोले अली मृदु मंजुल बोल तो कोकिल-बोलनि को मद भाजै।।
१०८।।

सुन चित[2] दै मनमानिनी! बिन अपराध रिसानि।
नेह-जरावन को महा दीपि जोति जिय जानि।।१०९।।

दश नायिका

प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहंतरिता जान।
बिप्रलब्ध, उतकंठिता[3], बासकसज्जा मान।।
स्वाधिनपतिका, कहत कबि[4], अभिसारिका सुनाम।
कही प्रबच्छतिप्रेयसी[5], आगतपतिका बाम।।
दसों अवस्था-भेद सौं दसों नायका जानि।
तिनके लच्छन-लच्छ अब, आछे[6] कहौं बखानि।।११०।।

---

१ कबिजन परम सुजान, २ सुनु इत,सुनियत, ३ उत्का बहुरि, ४ स्वाधीनैं प्रियतम कहै, ५ प्रवत्स्यत्प्रेयसी, ६ नीके।

छं० नं० १०८ लटू=लट्टू, लोट-पोट। स्याम सरोज=नीलोत्पल। बिधु=चंद्रमा। बिहान=प्रातःकाल। छं० नं० ११० आछे=अच्छी तरह से।

मुग्धा-प्रोषितपतिका-लक्षण

जाको पिय परदेश मैं बिरह-बिकल तिय होय।
प्रोषितपतिका-नायका ताहि कहत सब कोय ॥१११॥

उदाहरण

बार कितेक सहेलिन के कहैं कैसेहुँ लेत न बीरी सँवारी;
राखति रोकि कहै 'मतिराम' चलै अँसुवा अँखियान तैं भारी।
प्रानपियारो चल्यो जब तैं, तब तैं कछु और ही रीति निहारी;
पीरी जनावति अंगन मैं कहि पीर जनावत काहे न प्यारी॥
११२॥

पिय-बियोग तिय-दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय।
बरुनि-मूल-बेला परसि, बहुरचो जात बिलाय ॥११३॥

मध्या-प्रोषितपतिका-उदाहरण

चंद के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत,
छायो परदेस देह दाहनि दगतु[1] है;
उसिर, गुलाब-नीर, करपूर परसत,
बिरह-अनल-ज्वाल-जालन जगतु है।

---

१ बहुत।

छं० नं० ११२ बार कितेक=कई बार। बीरी=पान। पीरी जनावति अंगन मैं=शरीर पीला पड़ा जाता है। 'कहि पीर जनावति काहे न प्यारी' पद से मुग्धत्व स्पष्ट हो जाता है। नायिका अपनी काम-पीड़ा की बात कह नहीं पाती है। छं० नं० ११३ दृग-जलधि= नेत्र-समुद्र। बरुनि-मूल-बेला=आँखों की बिरुनियों का उद्गम-स्थान-रूप समुद्र-तट। दोहे का भाव यह है कि जैसे समुद्र-जल बेला के आगे नहीं बढ़ता है वैसे ही मुग्धा के आँसू पलकों तक आकर रह जाते हैं। आँसुओं को इस प्रकार से प्रकट न होने देने से मुग्धत्व स्पष्ट हो जाता है। छं० नं० ११४ दगतु=जलती है। उसिर—उषीर=ताप-निवारक शीतल द्रव्य।

लाजनि ते कछू न जनावै[1] काहू सखी हूँ सौं[2],
उर को उदार अनुराग उमँगतु है;
कहा करों[3]? मेरी बीर! उठी है[4] अधिक पीर,
सुरभी-समीर सीरो तीर-सो लगतु है ।।११४।।
बहू दूबरी होत क्यों[5], यौं जब बूझ्यो सास ।
ऊतर कढ़्यो न बाल-मुख, ऊँचे लेत[6] उसास ।।११५।।

प्रौढ़ा-प्रोषितपतिका-उदाहरण

बिरह तिहारे लाल ! बिकल[7] भई है बाल,
नींद, भूख, प्यास, सिगरी, बिसारियतु है;
चोरी कैसी बात चंद्रमा हू ते चुरायत[8],
बसननि तानि कै बयारि बारियतु है ।
कहै 'मतिराम' कलाधर कैसी कला छीन,
जीवन-बिहीन मीन-सी निहारियतु है;
बार-बार सुकुमार फूलन की मारे[9] ऐसी,
मार के मरोरनि[10] मरोरि मारियतु है ।।११६।।
चंद्र-किरन लगि बाल-तन उठति आँच[11] यौं जागि ।
दुपहर-दिनकर-कर परसि ज्यौं दरपन मैं आगि ।।११७।।

परकीया-प्रोषितपतिका-उदाहरण

ह्वाँ मिलि मोहन सौं 'मतिराम'सुकेलि करी अति आनँदवारी;
तेई लता-द्रुम देखत दुःख चले अँसुआ अँखियान ते भारी ।

---

१ जनैयै, २ सखिन सों, लोगनि सों, ३ कहौं, ४ उठहि, ५ कत, ६ ऊँचो लयो, ७ ब्याकुल, ८ छिपाइयतु, ९ माल, १० मसूसनि, मरूरनि, ११ आगि ।

छं० नं० ११६ चंद्रमा हू ते चुराइयत=महावरा है, अभिप्राय यह है कि अत्यंत गुप्त रखने की चेष्टा करती है । जीवन-बिहीन मीन=जल अथवा प्राण-रहित मत्स्य । मार के मरोरनि मरोरि मारियतु है=कामदेव तोड़-मरोड़कर जान ले लेता है । छं० नं० ११७ दिनकर-कर=सूर्य की किरण । दरपन=दर्पण, शीशा ।

आवति हौं जमुना-तट[1] कौं नहिं जानि परै बिछुरे गिरिधारी;
जानति हौं सखि, आवन चाहत कुंजत तैं कढ़ि कुंजबिहारी ।।
११८।।

लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सौं छुट्यो सनेह ।
सखि, कहियौ वा निठुर सौं, रही छूटिबे देह ।।११९।।

सामान्या-प्रोषितपतिका-उदाहरण

आली सिँगारति है हठ सौं, पर लागत अंग सिँगार अँगारौ;
पीरी परी तन मैं 'मतिराम' चले अँखियान तैं नीर-पनारौ ।
सोउ नहीं[2] मनभावन नायक आवत जो बहुतै धनवारौ;
बारबिलासिनि कौं बिसरै न बिदेस गयो पिय प्रानपियारो ।।
१२०।।

धन के हेतु बिलासिनी रही सँवारे बेस ।
जो तिय के हिय मैं बसे सो पिय बसे बिदेस ।।१२१।।

खंडिता-लक्षण

पिय-तन औरै नारि के रति के चिह्न निहारि ।
दुखित होत सो खंडिता, बरनत सुकबि बिचारि[3] ।।१२२।।

मुग्धा-खंडिता-उदाहरण

लाल तुम्हैं कहुँ और तिया की लख्यो अँगिया मैं लगावत चोवै;
ता छिन तैं 'मतिराम' न खेलत, बूझें सखीनहु सौं दुख गोवै ।

---

१ जल, २ सो न अहै, ३ सुधारि ।

छं० नं० ११९ निठुर=निष्ठुर, दयाभाव-रहित । रही छूटिबे देह= मरना बाक़ी है । छं० नं० १२० आली सिंगारति है=सखी शृंगार करती है । बारबिलासिनि=वेश्या । छं० नं० १२३ लिखै कर के नख सौं पग को नख=हाथ के नाखून से पैर के नाखून को खरोचती है ।

लिखै कर के नख सौं पग को नख[1], सीस नवाय के नीचे ही जोवै;
बाल नबेली न रूसनो[2] जानति, भीतर भौन[3] मसूसनि रोवै ॥
१२३॥

बाल सखिन की सीख तैं मान न जानत ठानि।
पिय बिन आगम भौन मैं बैठी भौंहें तानि ॥१२४॥

मध्या-खंडिता-उदाहरण

जावक लिलार, ओठ अंजन की लीक सोहै,
खैये न[4] अलीक लोक-लीक न बिसारिए;
कबि 'मतिराम' छाती नख-छत जगमगै,
डगमगै पग सूधे मग मैं न धारिए।
कसकै उघारत हौ पलक पलक यातैं,
पलका पै पौढ़ि स्रम राति को निवारिए[5];
अटपटे बैन मुख बात न कहत बनै,
लटपटे पेंच सिर-पाग के सुधारिए[6] ॥१२५॥

कोऊ करो[7] कितेक यह[8] तजो न टेव गुपाल।
निसि औरनि के पग परो दिन औरनि के लाल ॥१२६॥

प्रौढ़ा-खंडिता-उदाहरण

प्रीतम आए प्रभात प्रिया[9] मुसकाय उठी दृग सों दृग जोरै;
आगे ह्वै आदर सौं, 'मतिराम' कहै मृदु बैन सुधा-रस बोरै।

---

१ पा नख को लिखै पानि नखै, २ रूसिबो, ३ मौन, ४ खैयन अलीक, ५ पल याते पलका मैं पौढ़ि स्रम राति के रमन को निवारिए, ६ लटपटे पेंच कछु बात न कहत बनै लटपटे पेंच सिर पाग के सँवारिए, ७ कर, ८ हू, ९ तिया।

कसकै उघारत हौ=किस प्रकार से नेत्र खोलते हो, जोर लगाकर नेत्र खोलते हो। लटपटे पेंच=गड़बड़ लिपटे हुए पगड़ी के फंदे। छं० नं० १२५ खैये न अलीक लोक-लीक न बिसारिए=झूठी बात कहकर लोक-मर्यादा मत बिगाड़ो।

ऐसे सयान सुभायन हीं सौं मिली मनभावन सौं मन भोरै[1];
मान गौ जानि सुजान तबै अँगिया की तनी न छुटी जब छोरै।
१२७॥

आदर करि[2] पिय सौं मिली तिय हिय राखि सयान।
दृढ़ कसि बाँधी कंचुकी[3] समुझायो मन-मान ॥१२८॥

परकीया-खंडिता-उदाहरण

रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए;
डारि दिए गुरु लोगनि को डर गाम चवाई मैं नाम[4] धराए।
हेत कियो हम जो तो कहा[5] तुम तो 'मतिराम' सबै बिसराए[6];
कोऊ कितेक[7] उपाय करौ कहुँ होत हैं आपने पीउ पराए॥
१२९॥

हमसौं तुमसौं लाल इत नैनन ही सौं नेह।
उत प्यारी के दृगन के सलिल सींचियत देह ॥१३०॥

गणिका-खंडिता-उदाहरण

ह्याँ हमसों मिलिबो ठहराय कैं सैन कहूँ अनतैं ही करीजै;
भोरहिं आय बनाय कें बातनि चातुर ह्वै बिनती बहु कीजै।
ऐसीहि रीति सदा 'मतिराम' सु[8] कैसे पियारे जु प्रेम[9] पतीजै;
सौंहैं न खाइए जाइए ह्याँ ते न मानहु जो धन लाखन दीजै[10]॥
१३१॥

कंत कहा सौंहन करो जानि परचो अब नेह।
देन कह्यो सो बिन दिएँ जान न पैहो गेह ॥१३२॥

---

१ मोरै, २ दै, ३ किंकिनी, ४ नाउँ, ५ हिय सों, ६ न जी ठहराए, ७ कितेकौ, ८ सो, ९ प्रीति, १० न मानिहौं तौहूँ जो लाखन दीजै।

छं० नं० १२७ सयान सुभायन=ऐसे सयानेपन के साथ। सुजान=नायक। तनी=कंचुकी के बंद। छं० नं० १३० दृगन के सलिल सींचियत=आँसुओं से भिगोते हैं। छं० नं० १३१ अनतैं ही=अन्यत्र ही। पतीजै=विश्वास करे। सौंहैं=क़समें।

कलहांतरिता-लक्षण

कह्यो न मानै कंत को पुनि पीछे पछिताय ।
कलहंतरिता नायका ताहि कहत कबिराय ।।१३३।।

मुग्धा-कलहांतरिता-उदाहरण

गौने की चूनरी वैसिय है दुलही अबही ते ढिठाई बगारी[1];
वेऊ मनावन आए हैं आपन हाथ सौं जात न पाग सँवारी ।
पाँइ परे 'मतिराम' लला मनुहारि करी कर जोरि हहारी;
आप ही मान्यो, मनायो न कान्ह को, आप ही खात न पान पियारी।
१३४।।

आई गौने कालि ही सीखी कहा सयान ।
अबहीं तें रूसन लगी, अबहीं तैं पछितान ।।१३५।।

मध्या-कलहांतरिता-उदाहरण

पाँयन आनि परे तो परे रहे केती करी मनुहारि न झेली[2];
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम' गुमान मैं ऐसी भई अलबेली ।
प्यारो गयो दुखमान कहूँ अब कैसे रहूँ यहि राति अकेली;
आप[3] तेल्याउ मनाय कन्हाई को मेरो न लीजियो नाम सहेली ।
१३६।।

जो तू कहै तो राधिका[4], पियहि मनाबन जाउँ ।
वहाँ कहौंगी जाय कैं सखी तिहारो नाँउ ।।१३७।।

ठाढ़े भए कर जोरि कै आगे अधीन ह्वै पाँयन[5] सीस नवायो;
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठ तें मन भायो ।

---

१ बिगारी, २ सहेली, ३ आजु तो, ४ राधिके, पाँय को ।

छं०नं० १३४ ढिठाई बगारी=ढिठाई की । मनुहारि करी कर जोरि हहारी=हाथ जोड़कर बहुत तरह से खुशामद की । छं० नं० १३६ गुमान मैं ऐसी भई अलबेली=अभिमान में ऐसे विचित्र रूप से मग्न हुई ।

देखत ही सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महा मद छायो;
रूठि गयो उठि प्रानपियारो कहा कहिए तुमहूँ न मनायो ॥
१३८॥

पीतम जब पाँयन परयो, तब अति भई सरोस।
कह्यो न मान्यो कंत[1] कौ, हमें दीजियतु दोस ॥१३९॥

परकीया-कलहांतरिता-लक्षण

जाके लिये ग्रह-काज तज्यो, न सिखी सखियान की सीख सिखाई;
बैर कियो सिगरे ब्रजगाम सौं, जाके लिये कुल-कानि गँमाई ॥
जाके लिये घर-बाहर हूँ 'मतिराम' रहे हँसि लोग-लुगाई[2]।
ता हरि सौं हित एकहि बार गँवारि मैं तोरत बार न लाई ॥
१४०॥

जोरत हू सजनी बिपति, तोरत बिपति[3] समाज।
तेह कियो बिन काज पुनि[4], तेहि कियो बिन[5] काज ॥१४१॥

गणिका-कलहांतरिता-लक्षण

जाते लही जग-बीच बड़ाई मैं, मेरे बियोग जो होत है छीनों;
मोहि गिने 'मतिराम' जो प्रान सो, मेरे सदा हीं रहे जो अधीनों।
मेरे लिये नित ही उठि कें गहनों जु गढ़ाय कै लावे नवीनों;
प्रानपियारो सो पाइन लाग्यो री, मैं हँसि[6] कंठ लगाइ न लीनों
॥१४२॥

जासों कियो सनेह मन, रही न एको साध।
तासो भई सरोस हौं, सजनी बिन अपराध ॥१४३॥

---

१ आपु ही, २ चवाई, ३ सपत, ४ ही, ५ किन, ६ भरि।

छं० नं० १४० कुल-कानि=कुल-लज्जा। गँवारि मैं तोरत बार न लाई=मेरी-जैसी गँवारिन ने प्रीति तुरंत तोड़ डाली। छं० नं० १४१ तेह=क्रोध।

विप्रलब्धा-लक्षण

मिलन आस करि जाय तिय, मिले न पिय संकेत।
बिप्रलब्ध सो जानिए, बिरह-बिकल बिन चेत[1] ॥१४४॥

मुग्धा-विप्रलब्धा-उदाहरण

आलिनि को सुख मानिबे कौं पिय प्यारे की सेज[2] गई चलि बागै;
छाय रह्यो हियरा दुख सौं जब देखे न ह्वाँ नँदलाल सभागै।
काहू सों बोल कछू न कह्यो, 'मतिराम' न चित्त कहूँ अनुरागै।
खेलति खेल सहेलनि मैं पर खेल नवेली कों जेलु-सो लागै ॥१४५॥
लख्यो न कंत सहेट मैं, लख्यो नखत को राय।
नवल बाल को कमल-सों, गयो बदन कुँभिलाय ॥१४६॥

मध्या-विप्रलब्धा-उदाहरण

केलि के मंदिर देखो न लाज को बाल के दाहन अंग दहे हैं;
भौंह चढ़ाय सखी सो लख्यो[4], 'मतिराम' कछू न कुबोल कहे हैं।
भूलि हुलास-बिलास गए दुख तें भरि कें अँसुवा उमहे हैं;
ईछन-छोरन तें न गिरे मनु तीछन छोरन[5] छेद रहे हैं ॥१४७॥

---

१ (क) आप जाय संकेत मैं, मिलै न जाको पीय;
ताहि बिप्रलब्धा कहत, सोच करत अति जोय।
(ख) लखै न पियहि सहेट मैं, होई बिकल जो बाल;
बिप्रलब्ध तासों कहैं, जे कमि सुमति-रसाल।

२ प्रीति, ३ सेल, ४ सखीन लख्यो, ५ कोरन।

छं० नं० १४५ आलिनि को सुख मानिबे कौं=सखियों को खुश करने के लिये। जेलु-सों लागै=बंधनमें पड़ी हुई-सी समझती है। छं० नं० १४६ नखत को राय=चंद्रमा। छं० नं० १४७ ईछन छोरन तें··· तीछन छोरन छेद रहे हैं=आँसुओं के बूंद नेत्र से नहीं गिरे मानो तीक्ष्ण नेत्र-कटाक्षों में भिदकर रह गए हों। ईछन=ईक्षण, आँख। तीछन=तीक्ष्ण, तेज।

तिय को मिलो न प्रान-प्रिय[1] सजल जलद, तन-मैन ।
सजल जलद लखि कें भए[2] सचल जलद-से[4] नैन ।।१४८।।

प्रौढ़ा-विप्रलब्धा-उदाहरण

सकल[3] सिँगार साज संग लै सहेलिन कों,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद कों;
कबि 'मतिराम' यग[4] करति मनोरथनि,
पेख्यो परजंक पै न प्यारे नँदनंद कों ।
नेह ते लगी है देह दाहन दहत गेह,
बाग को बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद कों;
चंद को हँसत तब आयो मुखचंद अब,
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुखचंद कों ।।१४९।।
लख्यो न मंदिर केलि के पिय-रुचि-बिजित अनंग ।
नैन-करन तें जल-बलय गिरे एक ही संग ।।१५०।।

परकीया-विप्रलब्धा-उदाहरण

चली 'मतिराम' प्रानप्यारे को मिलन घात,
नैसुक निहारि कै बिसारि काज घर कौ;
पियरो बदन दुख हियरे समाय रह्यौ,
कुंजन में भयो न मिलापु गिरिधर कौ;

---

१ पति, २ तिय, ३ साँझ ही, ४ बाल ।

छं० नं० १४८ सजल जलद=जलपूर्ण मेघ । छं० नं० १४९ चंद को हँसत······तिया के मुखचंद कों=जब नायिका जा रही थी तो विहसितवदना थी । उसकी छवि देखकर चंद्रमा लजाता था, पर जब वहाँ नायक न मिला, तो उसका मुख म्लान हो गया और ऐसा जान पड़ने लगा मानो चंद्रमा उसका उपहास कर रहा है । छं० नं० १५० पिय-रुचि-बिजित अनंग=जो प्रिय को मिलने की इच्छा रखती हुई कामदेव के वश में थी ।

बिसरे बिलासु वे, बिलाय गयो हासु छायो[1]
सुंदरि के तन में प्रताप पंचसर कौ;
तीछन जुन्हाई भई ग्रीषम को घामु, भयौ
भीसम पियूषभानु[2], भानु दुपहर कौ ।।१५१।।

सची भूमि अति जोन्ह सों, झरे कुंज तें फूल ।
तुम बिन वाको बन भयो खड्गपत्र के तूल ।।१५२।।
साहस करि कुंजनि गई लख्यो न नंदकिसोर ।
दीप-सिखा-सी थरहरी लगी बयारि-झकोर ।।१५३।।

गणिका-विप्रलब्धा-उदाहरण

बारिबिलासिनी कोटि हुलास बढ़ाय कैं अंग सिंगार बनायौ;
पीतम-गेह गई चलि कैं 'मतिराम' तहाँ न मिल्यो मनभायौ ।
संग सहेली सों रोसु कियो नहीं, आपुन को यह दोसु लगायौ;
हाय मैं कीनो मतो यह कौन[3] जु? आपने भौन न बोलि पठायौ ।
१५४।।

मोहि पठाई कुंज मैं सठ आयो नहिं आप ।
आली औरै मित को मेरो[4] मिट्यो मिलाप ।।१५५।।

---

१ सोह्यो, २ पियूषमान, ३ हाय कियो मैं मतो यह कौन, ४ मोंसों ।

छं० नं० १५१ पियूष भानू=चंद्रमा । पंचसर=कामदेव । अरविन्दमशोकं च चूतं च नव मल्लिका; नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चवाणस्य शायकाः । छं नं० १५२ खड्गपत्र=यमयातना के वर्णन में वृक्ष-विशेष, जिसमें नुकीली तलवारें रहती हैं। यमदूत पापी को खड्गपत्र से उलझाते हैं । छं० नं० १५३ थरहरी=थरथराई, काँप उठी । छं० नं० १५४ हाय मैं कीनो मतो यह कौन=हाय यह मैंने कैसा निश्चय किया । छं० नं० १५५ मित=मित्र । दूसरे मित्र से मतलब धन का है । इसी पद से गणिकत्व सिद्ध होता है ।

उत्कंठिता-लक्षण

आप जाय संकेत में पीव न आयो होय।
ताकी मन चिंता करै उत्का कहिए सोय ॥१५६॥

मुग्धा-उत्कंठिता-उदाहरण

बीति गई जुग जाम निसा 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई;
जानति हौं कहूँ और तिया से रहे रस में रमि कै रसराई[1]।
सोचति सेज परी यों नवेली सहेली सों जाति न बात सुनाई[2];
चंद चढ़्यो उदियाचल पै मुखचंद पै आनि चढ़ी पियराई॥
१५७॥

कत न[3] कंत आयो अली, लाजन बूझि सकै न।
नवल बाल पलिका परी, पलक न लागत[4] नैन ॥१५८॥

मध्या-उत्कंठिता-उदाहरण

बारहि बार बिलोकति द्वारहि चौंकि परै तिनके खरके हूँ;
सेज परी 'मतिराम' बिसूरति आई अहो[5] अबही लखि मैं हूँ।
संग सखान के खेलत ह्वौ अजहूँ रजनी-पति के अथए हूँ;
लालन बेगि न जाहु घरै पुनि[6] बाल न मानिहै पाँय परे हूँ॥
१५९॥

---

१ रह्यो रस के रस सों रसिकाई, २ बनाई, ३ क्यों, ४ लागै, ५ अलो, ६ फिरि।

छं० नं० १५७ रहे रस में रमि कै रसराई=रसराज कृष्ण रस में रमण करते रहे। चंद चढ़्यो······पियराई=उधर चंद्रमा निकला नहीं. इधर प्यारी का मुख पीला पड़ गया। छं०नं० १५८ कत न आयो=क्यों आया। छं० नं० १५९ रजनी-पति=चंद्रमा।

कहाँ रहो आयो सखी, पीय पहर जुग मैन।
अधनिकरे अखरानि सों, बाल बदन ते बैन ॥१६०॥

प्रौढ़ा-उत्कंठिता-उदाहरण

कैयो घरी निसि बीति गई अरु, मेह चहूँ दिसि आयो[1] उनैहै;
अंग सिँगार के बैठी है, साँवरे रावरी[2] बाट बिलोकति ह्वैहै।
बैठे कहा 'मतिराम' रसाल हो राति मनावत ही पुनि[3] जैहै;
जाहु न बेगि तिहारी पियारी सु दोसु बिहारी हमें पुनि[4] दैहै॥
१६१॥

पीव न आयो ध्यान कैं मूँदे लोचन बाल।
पलक उघारी पलक में आयो होय न लाल ॥१६२॥

परकीया-उत्कंठिता-उदाहरण

जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ[5],
मधुकर करत मधुर मंद सोर हैं;
कबि 'मतिराम' तहाँ छबि सौं छबीली बैठी,
अंगन ते फैलत सुगंध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी,
चहूँ ओर दीरघ दृगनि करी दौर हैं;
एक ओर मीन मनो, एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन, चकोर एक ओर हैं ॥१६३॥

---

१ आए, २ तेरियै, ३ चलि, ४ बहु, ५ जहाँ।

छं० नं० १६० कहाँ रहो आयो सखी ··· बाल बदन ते बैन = नायिका सखी से पूछती है कि आधी रात हो गई पर नायक क्यों नहीं आया, पर उसके पूछने का ढंग विचित्र है। उसके मुँह से जो वचन निकलते हैं उनके अक्षर अस्पष्ट (अधनिकरे) हैं। इससे समान लाज और काम का पता चलता है और मध्यत्व स्पष्ट हो जाता है। छं० नं० १६३ चहूँ ओर ·· दौर हैं = विशाल नेत्रों से नायिका चारों ओर देखती है।

कंत[1] बाट लखि गेह कौं कुंज देहरी आय।
ऐहैं पीव बिचारि यों, नारि फेरि फिरि जाय ॥१६४॥

गणिका-उत्कंठिता-उदाहरण

पीतम को धरि ध्यान घरीक, करे मन-ही-मन काम किलोलैं;
पातहू के खरकें 'मतिराम' अचानक ही अँखियाँ[2] पुनि खोलैं।
पीतम ऐहैं अजो सजनी! अँगराय, जँभाय, घरीक यों बोलैं;
गावे घरीक गरे ही हरे-हरे, गेह के बाग हरे-हरे डोलैं ॥१६५॥

बारबधू पिय-पंथ लखि अँगरानी अँग-मोरि।
पौढ़ि रही परजंक जनु[3] डारी मदन मरोरि ॥१६६॥

बासकसज्जा-लक्षण

ऐहैं प्रीतम आजु यों[4], निश्चय जाने बाम।
साजे सेज सिंगार सुख[5] बासक-सज्जा नाम ॥१६७॥

मुग्धा-बासकसज्जा-उदाहरण

भई हौ सयानी तरुनाई सरसानी प्रीति,
प्रीतम पत्यानी दूरि लाज उर नाखियो;
कबि 'मतिराम' काम केलि की कलानि करि,
मोहन लला को बस कीबो अभिलाखियो।

---

१ कंत बाट लखि कुंज ते गेह देहरी आय;
प्यो आयो ह्वैहै समुझि नारि फेर फिर जाय।

२ पलकैं, ३ मनु, ४ ही, ५ सखि।

छं० नं० १६५ गावे घरीक गरे ही हरे-हरे=कुछ समय के लिये अस्पष्ट स्वर में (गले में ही) धीरे-धीरे गाती है। इस छंद में गणिका स्पष्ट नहीं है। "मन-ही-मन काम किलोलैं" का यह अर्थ लगाने से कि 'मणियों में ही मन लगाकर काम की किलोल करती है' तथा अंतिम पद में गाने का उल्लेख होने से गणिकत्व सिद्ध होता है। छं० नं० १६६ अँगरानी=अँगड़ाग ली। छं० नं० १६८ नाखियो=रखना।

मृदु मुसकाय परजंक में निसंक जाय,
अंक भरि आनँद अधर-सुधा[1] चाखियो;
नेवर की झनक-भनक राखि प्यारी आजु,
रसना की झनक तनक रस राखियो ॥१६८॥

डीठि बचाय सखीन की केलि-भवन में जाय।
पौढ़ि रहे छिन सेज में[2] तिय[3] आनँद अधिकाय ॥१६९॥

मध्या-बासकसज्जा-उदाहरण

केसरि, कनक कहा? चंपक-बनक कहा?
दामिनी यों दुरि जात देह की दमक तैं;
कबि 'मतिराम' लौने लोचन लपेट लाज,
अरुन कपोल काम तेज की तमक तैं।
पग के धरत कल[4] किंकिनी-नूपुर[5] बजे,
बिछिया भनक उठै एक ही झमक[6] तैं;
नाह-सुख चाहि चित औंचक हँसति, चौंक
परै चंदमुखी निज चौका की चमक तैं ॥१७०॥

निसि नियराति निहारियति सौति-बदन-अरबिंद।
सखी! एक यह देखिए तेरो आनन-इंदु ॥१७१॥

प्रौढ़ा-बासकसज्जा-उदाहरण

वारनि धूपि अँगारनि धूप कैं धूम-अँध्यारी पसारी महा है;
आनन-चंद समान उगो[7] मृदु मंद हँसी जनो जोन्ह-छटा है।

---

१ रस, २ तिय, ३ अति, ४ जहाँ, ५ नेवर, ६ जमक, ७ उयो।

नेवर=पैरों के नूपुर। रसना=घुँघरूदार करधनी। 'रसना की झनक' रखने का शिक्षा से यह अभिप्राय है कि पर्यंक पर प्रीतम के साथ केलि करने में प्रवृत्त होना। छं० नं० १७० दामिनी यों दुरि·· दमक तैं=शरीर की दीप्ति के सामने बिजली छिप जाती है। चौका=आगे के दाँत जिनमें चमकीली वस्तु जड़ी रहती है। छं०नं० १७२ बारनि धूपि

फैलि रही 'मतिराम' जहाँ-तहाँ दीपति दीपनि[1] की परभा है,
लाल! तिहारे मिलाप को[2] बाल ने आजु[3] करी दिन में ही निसा है।
१७२॥

सब सिँगार सुंदरि सजै बैठी सेज बिछाय।
भयो द्रौपदी को बसनु बासर नाहिं बिहाय ॥१७३॥

परकीया-बासकसज्जा-उदाहरण

साँझ ही तें करि राखे सबै करिबे के जे काज हुते रजनी के;
पौढ़ि रही उमगी अति ही, 'मतिराम' अनंद अमात न जी[4] के।
सोवत जानि के लोग सबै, अधिकाने मिलाप[5] मनोरथ पी के[6];
सेज ते बाल[7] उठी हरुए-हरुए, पट खोल दिए खिरकी के॥
१७४॥

मनमोहन के मिलन को, करै मनोरथ[8] नारि।
धरैं पौन के सामुहें दियो भौन[9] को बारि ॥१७५॥

---

१ सुतारन, २ सु, ३ मानो, ४ ही, ५ बिलास, ६ नीके, ७ नारि, ८ करि मनोरथ, ९ भवन।

अँगारनि धूप कैं=आग में सुगंधित धूप डाल कर उससे जो धुवाँ उठा उससे बालों को शुष्क किया। जोन्ह=चाँदनी। दीपति दीपनि की परभा है=दीपकों की प्रभा उद्दीपित हो रही है। छं० नं० १७३ द्रौपदी को बसनु=बहुत लंबा, जिसका ओर-छोर न हो। छं० नं० १७४ अनंद अमात न जी के=हृदय में आनंद समाता नहीं है। अधिकाने मिलाप मनोरथ पी के=प्रियतम से मिलने की इच्छा खूब उत्तेजित हो उठी। हरुए-हरुए=धीरे-धीरे। छं० नं० १७५ हवा के सामने दीपक रखने से वह बुझ जाता है। नायिका ऐसा इसलिये करती है जिसमें अँधेरे में नायक से मिलने में सुभीता रहे।

सामान्या-बासकसज्जा-उदाहरण

सेत सारी सोहत उजारी मुखचंद की-सी,
　　महलनि मंद मुसक्यान की महमही;
अँगिया के ऊपर ह्वै[1] उलही उरोज-ओप,
　　उर 'मतिराम' माल मालती डहडही।
माँजे मंजु मुकुर-से मंजुल कपोल गोल,
　　गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही;
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय,
　　बेला को फुलेल, फूली बेलि-सी लहलही ॥१७६॥

सुंदरि सेज सँवारि के साजे सकल[2] सिँगार।
दृग कमलन के द्वार पै, बाँधे बंदनवार ॥१७७॥

स्वाधीनपतिका-लक्षण

सदा रूप-गुन रीझि पिय जाके रहे अधीन।
स्वाधीनैपतिका[3] तियै, बरनत कबि परबीन ॥१७८॥

मुग्धा-स्वाधीनपतिका-उदाहरण

आपने हाथ सों देत महावर, आप ही बार सँवारत[4] नीके;
आपुन हीं पहिरावत आनि कैं, हारि सँवारि कै मौरसिरी[5] के।
हों सखी! लाजनि जात मरी[6], 'मतिराम' सुभाव कहा कहों पीके;
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अबही ते ये चेरे भए दुलही के ॥१७९॥

---

१ है, २ शकल, ३ स्वधिनपतिका नायिका, ४ सिँगारत, ५ मौलसिरी, ६ गड़ी।

छं० नं० १७६ माँजेमंजु मुकुर-से=सुंदर और स्पष्ट दर्पण के समान। महमही, डहडही, गहगही और लहलही के क्रम से अर्थ हैं, सुगंधित, हरी-भरी, प्रफुल्लित और बहारदार एवं तरोताजा। छं० नं० १७९ मौरसिरी—मौलश्री=पुष्प-विशेष। लाजनि जात मरी=मारे लज्जा के मरी जाती हूँ। घर घैरु करैं=घरों में चवाव करते हैं।

अंग-अंग अवलोकि कैं तिय जोबन की जोति ।
सुधा-सिंधु-अवगाह-जुत, डीठ नाह की होति ॥१८०॥

मध्या-स्वाधीनपतिका-उदाहरण

जगमगे जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी, रंभा-सी, रमा-सी बिसराइए;
देखिबे को प्रानप्यारी पास खरो प्रानप्यारो,
घूँघटि उघारि नेंक बदन दिखाइए ।
तेरे अंग-अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
'मतिराम' सुकबि[1] प्रगट यह पाइए;
नायक के नैनन में नाइए सुधा-सी सब,
सौतिन के लोचनन लोन-सो लगाइए ॥१८१॥

बड़े आपने दृगन कौं तुम कहि सकौ सु मैन ।
पिय-नैनन भीतर सदा बसत तिहारे नैन ॥१८२॥

प्रौढ़ा-स्वाधीनपतिका-उदाहरण

लालन मैं रति नायक तैं सुभ[2], सुंदरता रुचि कुंजन पेखी;
बाल में त्यों 'मतिराम' कहै, रति तें अति रूप-कला अवरेखी ।
सामुहि बैठी लखै इक सेज में, बोल अली सुख[3] प्रीति बिसेखी;
भाल में तेरे लिखी बिधि सो, यह लाल की मूरति लाल मैं देखी ।
१८३॥

सुधा-मधुर तेरे अधर सुंदर-सुमन-सुगंध ।
पीय जीव को बंध यह, बंधुजीव को बंध ॥१८४॥

---

१ कहत, २ सुख, ३ मृदु ।

छं०नं०१८० सुधा डीठ नाह की होति=नायक नायिका के अंगप्रत्यंग की शोभा देखता है तो उसे ऐसा जान पड़ता है मानो उसकी दृष्टि ने अमृत के समुद्र में स्नान कर लिया है । छं० नं० १८४ पीय जीव···बंध=नायिका के अधर नायक को बंधन में डालने वाले हैं और बंधुजीव (गुलदुपहरी) फूल के भाई-बंध-से जान पड़ते हैं, बंधुजीव एवं फूल के समान लाल है ।

परकीया-स्वाधीनपतिका-उदाहरण

मो जुग नैन-चकोरन कौं यह रावरो रूप सुधा ही को नैबौ;
कीजै कहा कुलकानि तें आनि, पर्‌यो अब आपनो प्रेम छिपैबौ।
कुंजनि में 'मतिराम' कहूँ निसि-द्योसहू घात परें मिलि जैबौ;
लाल सयानी सखीन[1] के बीच निवारिए ह्याँ की गलीन को ऐबौ।
१८५॥

बिषम लोग ब्रज-गाम के लाल! बिलोको बास।
बढ़ि जैहै इन दृगन के हाँसहि[2] ते उपहास ॥१८६॥

सामान्या-स्वाधीनपतिका-उदाहरण

†बारन बार सँवारि सिंगारत मोतिन-हार धरैं तन गोरैं;
पाँइ महावर देत बनाय, यौं बैनी बनावत नेह निहोरैं।
यौं रस-लीन रहै नित ही बस, औरन सौं दृग नाह न जोरैं,
लाज गिनै नहिं लोगन की पिय पाँइ परे धन देत करोरैं ॥१८७॥

छाँड़ि सबै सुधि सदन की रहत मदन-बस-लीन।
मोही कौं धन देत हैं पिय सुजान-परबीन ॥१८८॥

मोही लगो सजनी! भलो, जाको धन-मन-प्राण।
सपने हू ता पीय सौं मान भलो न सयान ॥१८९॥

---

१ अलीन, २ हाँसी ही।

छं० नं० १८६ बिषम लोग ब्रज-गाम के…उपहास=इस व्रज-गाँव के लोग बड़े कठिन हैं देखिए इन आँखों की हँसी को लेकर फिर बड़ा उपहास होगा अर्थात् मामला बहुत बढ़ जायगा। छं० नं० १८७ बार=कंघी। छं० नं० १८९ मोहि लगो=मुझी से लगा है—मुझमें ही रम रहा है।

†वेंकटेश्वर-प्रेसवाले 'रसराज' में यह छंद दिया है—

भूषन अंबर लावत आपु रहै पहिरावन को मुख हेरे;
आप ही पान खवावत आनि सहेली न आवन पावत नेरें।
ता पिय सों रिस कैसे करौं 'मतिराम' कहै, सिखए सखि तेरे;
पूरि रहे मनभावन के गुन मान को ठौर नहीं मन मेरे।

अभिसारिका-लक्षण

पियहि बुलावै आप, कै आपहि पिय पै जाय।
ताहि कहत अभिसारिका, जे प्रबीन कबिराय ॥१९०॥

मुग्धा-अभिसारिका-उदाहरण

बातन जाय लगाय लई रस-ही-रस के मन हाथ के[1] लीनो;
लाल! तिहारे बुलवाने को 'मतिराम' मैं बोल कह्यो परबीनो।
बेग चलो, न बिलंब करो, लखि बाल-नबेली को नेह नबीनो;
लाज भरी अँखियाँ बिहँसी, चली[2] बोल कह्यो, बिन उत्तर दीनो ॥
१९१॥

चली अली नवलाहि लै पिय पै साजि सिँगार।
ज्यौं मतंग अँड़दार को लिए जात गँड़दार ॥१९२॥

मध्या अभिसारिका उदाहरण

बैठि रहे 'मतिराम' लला घर भीतर साँझहि तैं अनुरागी;
बानिक सौं बनि चारु सिँगारनि आई सुहागिनि प्रेम सौं पागी।
प्यारे कह्यो हँसि आइहि[3] सेजहि, प्यारी की जोति बिलासनि जागी;
नैन नवाय रही मुसकाय कै, हार हिए को सँवारन लागी ॥
१९३॥

---

१ कै, २ बलि, ३ आइए।

छं० नं० १९१ मन हाथ के लीनो=अपने वश में कर लिया। लाज भरी उत्तर दीनो=जब सखी ने नायिका से लाल को बुलाने के लिये कहा तो उसने लजीली आँखों से विहँसते हुए बिना कुछ उत्तर दिए सखी से चल कह दिया। छं० नं० १९२ अँड़दार=अड़ने वाला। गँड़दार=हाथी को सोटों से मार-मारकर ले जानेवाले।

जोबन-मदगज मंद गति, चली बाल पिय[1]-गेह।
पगनि लाज-आँदू[2] परी, चढ़्यो[3] महावत-नेह ॥१९४॥

प्रौढ़ा-अभिसारिका-उदाहरण

सहज सुबास जुत देह की दुगुन दुति,
दामिनी दमक दीप केसरि कनक तैं;
'मतिराम' सुकबि सरस[4] सुकुमार अंग,
सोहत सिँगारु चारु जोबन-बनक तैं।
सोयबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास,
जगत जुन्हाई जोति हँसन तनक तैं;
चढ़त अटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी,
रसना दसन दाबै रसना-झनक तैं ॥१९५॥

सजि सिँगार सेजहि चली, बाल प्रान[5]-पति प्रान।
चढ़त अटारी की सिढ़ी, भई कोस परमान ॥१९६॥

---

१ पति, २ साँकर, ३ चढ़ी, ४ सुमुखि, सिरीष, ५ जहाँ।

छं० नं० १९४ आँदू=लंगर—साँकल। जोबन-मदगज…नेह=तरुणी नायिका ने जब अभिसार किया तो उसकी गति मंद थी—लज्जा के मारे उसके पैर आगे न पड़ते थे पर प्रेम उसे किसी प्रकार आगे लिए ही जाता था। उसकी दशा उस मंद गति हाथी के समान थी जिसके पैरों में लंगर पड़े रहने से उसका आगे बढ़ना कठिन हो पर जिसे महावत ठेलकर आगे बढ़ा रहा हो। छं० नं० १९५ रसना दसन दाबै रसना-झनक तैं=अटारी पर चढ़ते समय नायिका के कमर की करधनी बजती है इससे नायिका को गुरु-जन की लज्जा लगती है और वह अपनी जीभ दाँतों तले दबाती है। रसना=१ करधनी, २ जिह्वा। छं० नं० १९६ चढ़त अटारी की सिढ़ी, भई कोस परमान=लज्जा और संकोच से नायिका को सीढ़ी पर चढ़कर छत तक पहुँचने में इतना समय लगा मानो सीढ़ी कोस-भर लंबी रही हो।

परकीया-कृष्णाभिसारिका-उदाहरण

उमड़ि-घुमड़ि दिग-मंडलन मंडि रहे,
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसि कारी मैं;
अंगनि मैं कीनो मृगमद-अँगराग तैसो,
आनन ओढ़ाय लीनो स्याम रंग सारी मैं।
'मतिराम' सुकबि मेचक रुचि राजि रही,
आभरन राजी मरकत मनिबारी मैं।
मोहन छबीले को मिलन चली ऐसी छबि,
छाँह लौं छबीली छबि छाजत अँध्यारी मैं ॥१९७॥
स्याम बसन मैं स्याम निसि दुरी न तिय की देह।
पहुँचाई चहुँ ओर घिर[1] भौंर-भीर पिय-गेह ॥१९८॥

चंद्राभिसारिका-उदाहरण

अंगन मैं चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीर-फेन की-सी आभा उफनाति है;
राजत रुचिर रुचि[2] मोतिन के आभरन,
कुसुम-कलित केस सोभा सरसाति है।
कबि 'मतिराम' प्रानप्यारे सौं मिलन जात,
करि कै मनोरथनि मृदु मुसकाति है;
होति न लखाई निसि-चंद की उज्यारी मुख,
चंद की उज्यारी तन छाँहौ छिपि जाति है ॥१९९॥
मलिन करी छबि जोन्ह की तन छबि सौं बलि[3] जाउँ।
क्यों जैहों[4] पिय पै सखी, लखि जैहै सब गाउँ ॥२००॥

---

१ मिलि, २ सुचि, ३ चलि, ४ को जैहैं।

छं० नं० १९७ मृगमद=कस्तूरी। मेचक=काला। मरकत=नीलम। छं० नं० १९९ रुचि=दीप्ति।

परकीया-दिवाभिसारिका-उदाहरण

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी,
केसरि को अंगराग कीनो सब तन मैं;
तीखनि तरनि के किरन तैं दुगुन जोति,
जगत[1] जवाहर-जटिल आभरन मैं।
कबि 'मतिराम' आभा अंगनि अँगारनि की,
धूम की-सी धार छबि छाजति कचन[2] मैं;
गीषम-दुपहरी मैं हरि कौं मिलन जात,
जानी जात नारि न दवारि जुत[3] बन मैं ॥२०१॥

गीषम-रितु की दुपहरी चली बाल बन-कुंज।
अंग लपटि[4] तीछन लुएँ, मलय-पवन के पुंज ॥२०२॥

सामान्या-अभिसारिका-उदाहरण

साँझ ही सिँगार सजि प्रानप्यारे पास जाति,
बनिता बनक बनी बेलि-सी अनंद की।
कबि 'मतिराम' कलकिंकनी की धुनि बाजै,
मंद-मंद चलनि[5] बिराजत गयंद की।
केसरि रँग्यो दुकूल, हाँसी में झरत फूल,
केसनि मैं छाई छबि फूलन के बृंद की;

---

१ सोहत, २ कुचन, ३ जात, ४ आगि लपट, ५ चाल ज्यों।

छं० नं० २०१ तीखनि तरनि··· आभरन मैं=जवाहरात से जड़े हुए भूषणों में तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से भी दुगुनी ज्योति जगमगाउठी है। कच=बाल। दवारि=दावाग्नि। छं० नं० २०२ गीषम-ऋतु की दुपहरी···पुंज=ग्रीष्म-ऋतु में मध्याह्न के समय नायिका वन-स्थित कुंज को ओर चल पड़ी। उस समय उसके शरीर में तीक्ष्ण लूह ऐसी लगती थी मानो वह मलयाचल का शीतल समीर हो। छं०नं० २०३ 'बनक बनी'

पीछे-पीछे आवत अँधेरी-सी भँवर-भीर,
आगे-आगे फैलत उजारी मुखचंद की ।।२०३।।
नागरि सकल[1] सिँगार सजि चली प्रानपति पास ।
बाढ़ि चली बिहसनि मनो सोभा सहज[2] बिलास ।।२०४।।

प्रवत्स्यत्प्रेयसी-लक्षण

होनहार पिय के बिरह बिकल होय जो बाल ।
ताहि प्रवच्छतिप्रेयसी[3], बरनत बुद्धि-बिसाल ।।२०५।।

मुग्धा-प्रवत्स्यत्प्रेयसी-उदाहरण

जा दिन तैं चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन तैं वाके पियराई तन छाई है;
कहै 'मतिराम' छोड़े भूषन, बसन, पान,
सखिन सौं खेलनि, हँसनि बिसराई है ।
आई रितु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित्त,
ऐसे मैं चलौ तो लाल रावरी बड़ाई है;
सोवत न रैन-दिन, रोवति रहति बाल,
बूझे तैं कहत मायके की सुधि आई है ।।२०६।।
क्यों सहिहै सुकुमारि वह पहलो विरह गुपाल !
जब वाके चित हित भयो चलन लगे तब लाल ।।२०७।।

मध्या-प्रवत्स्यत्प्रेयसी-उदाहरण

गौने के द्यौस छः सातक बीते न, चौथी कहा अबहीं चलि[4] आई;
लालन बाल कें ता छिन मैं 'मतिराम' परी मुख पै पियराई ।

---

१ शकल, २ बारिधि बीचि, ३ प्रवत्स्यत्प्रेयसी, ४ इत ।
में बनी पद में बनिन—बनिए की पत्नी का भाव लेकर गणिकत्व स्थापित किया जाता है पर असल में संध्या से ही निःशंक होकर जाना, आभूषणों का झनकाना आदि ऐसी बातें हैं जो उसके गणिकत्व को स्पष्ट करती हैं । छं० नं० २०७ हित=प्रीति ।

तू न बहू को पठाय अली[1] ! यह, देख दुहून की प्रीति सुहाई;
रोए-से, रोचन मोए-से लोचन, सोए न सोचन रैन[2] बिताई।।
२०८।।

अबहीं लै मिलि मोहि सखि! चलत आज ब्रजराज।
अँसुवन राखति रोकि कैं, जियहि निकासति लाज ।।२०९।।

प्रौढ़ा-प्रवत्स्यत्प्रेयसी-उदाहरण

मलय-समीर लागौ चलन सुगंध सीरो,
पथिकन कीने परदेसन तैं आवने;
'मतिराम' सुकबि समूहनि सुमन फूले,
कोकिल-मधुप लागे बोलन सुहावने।
आयो है बसंत, भए पल्लवित जलजात,
तुम लागे चलिबे की चरचा चलावने;
रावरी तिया को तरवर, सरवरन के,
किसलै-कमल ह्वैहैं बारक बिछावने ।।२१०।।
कोंपनि तैं किसलैं जबै होय कलिन तैं कौल।
तबहीं चलियो[3] चलन की चरचा नायक नौल ।।२११।।

---

१ अरी, सखी, २ राति, ३ तब चलाइयो।

छं० नं० २०८ चौथी=विवाह-सबंधी एक रीति जिसके अनुसार दुलहिन पहले बार पति के यहाँ से पिता के घर जाती है। यह रीति पत्नी के पति के घर जाने के थोड़े ही दिनों बाद पूरी की जाती है। रोचन मोए-से लोचन=रोली में रँगे हुए से नेत्र, रक्त-वर्ण नेत्र। छं० नं० २१० पल्लवित जलजात=हरे-भरे कमल। रावरो तिया को··· बिछावने=तुम्हारी स्त्री की सेज पर जो तरुवरों के किसलय और सरोवरों के कमल बिछाए जायँगे उनसे उसके शरीर को दाह पहुँचेगा अर्थात् शीतलोपचार उलटा दाहक होगा और यह सब होगा वियोग की बदौलत।

परकीया-प्रवत्स्यत्प्रेयसी-उदाहरण

मोहन लला को सुन्यो चलनि बिदेस भयो,
बाल मोहनी को[1] चित निपट उचाट मैं;
परी तलाबेली तन मन मैं छबीली राखै,
छिति पर छिनकु, छिनकु पाँव खाट मैं।
प्रीतम नयन-कुबलयन कौ चंद घरी,
एक मैं चलेगो 'मतिराम' जिहि बाट मैं;
नागरि नवेली रूप आगरि अकेली रीति,
गागरी लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट मैं ॥२१२॥
चलत सुन्यो परदेस कौं हियरा रह्यो न ठौर।
लै मालिनि मीतहिं दयो नव रसाल को मौर ॥२१३॥

सामान्या-प्रवत्स्यत्प्रेयसी-उदाहरण

मंजन कियो न तन, अंजन दियो न नैंन,
जावक दियो न पाइ, रही मनु मारि कैं;
'मतिराम' सुकबि तमोल छोड़ि बैठी बाल[2],
पहिरे बसन डारे भूषन उतारि कैं।
ऐहैं आजु पीय बिदा माँगन बिदेस कौं यौं,
नेह के जनाइबे की चातुरी बिचारि कैं;

---

१ मोहनी को चारु, २ तमोल तेल छाँड़ि बैठी।

छं० नं० २१२ रीति=(ख़ाली) गगरी का यात्रा-समय मिलना अशुभ है इससे यात्रा रोक दी जाती है। छं० नं० २१३ हियरा रह्यो न ठौर=हृदय बेकाबू हो गया। मौर=बौर। मालिनि ने आम के बौर की भेंट करके नायक को वसंत की सुध दिला दी और उसीके साथ पंचशर के एक शर को सामने पेश करके उसे यात्रा न करने के लिये इशारा किया।

गारि राख्यो चंदन, बगारि राख्यो घनसार,
आँगन मैं सेज सरसिजनि सँवारि कैं ॥२१४॥
चलत पीव परदेस कौं बरज सकौं नहिं तोहि ।
लै ऐहौ आभरन जो[1] जियत पायहौ मोहि ॥२१५॥

आगतपतिका-लक्षण

जा तिय को परदेस तैं आयो प्यौ 'मतिराम' ।
ताहि कहत कबि लोग हैं आगतपतिका बाम ॥२१६॥

मुग्धा-आगतपतिका-उदाहरण

आए बिदेस तैं प्रानपिया, 'मतिराम' अनंद बढ़ाय अलेखै;
लोगन सों[2] मिलि आँगन बैठि[3], घरी-ही-घरी सिगरो घर पेखै ।
भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन-कंप बिसेखै;
घूँघट को पट ओट दिएँ, पट-ओट किए पिय को मुख देखै ॥
२१७॥

पिय आयो नवबाल-तन बाढ़्यो हरष-बिलास ।
प्रथम बारि-बूँदन उठै ज्यौं बसुमती-सुबास ॥२१८॥

---

१ तौ, २ को, ३ बैठे ।

छं० नं० २१४ तमोल=तांबूल, पान । गारि राख्यो चंदन, बगारि राख्यो···सँवारि कैं=गणिका ने अपने प्रेमाधिक्य को दिखलाने के लिये चंदन, कपूर और कमलशय्या का प्रबंध पहले से कर रक्खा जिससे नायक को मालूम हो कि मेरे जाने का समाचार-मात्र पाने से इसे विरहताप होने लगा जिसके प्रतिकार के लिये इसे इतनी जल्दी यह सामग्री एकत्र करनी पड़ी । छं० नं० २१७ अलेखैं= जिसका वर्णन नहीं हो सकता है । पट-ओट किए=किंवाड़ की आड़ किए । छं० नं० २१८ बसुमती= पृथ्वी । पिय सुबास=जैसे वर्षा के प्रारंभ में पृथ्वी पर प्रथम-प्रथम पानी बरसने से मिट्टी की सुगंध उठती है उसी प्रकार से प्रियतम के आगमन से नायिका के शरीर में हर्ष का संचार हुआ ।

मध्या-आगतपतिका-उदाहरण

चंदमुखी सजनीन के संग हुती पिय अंगन मैं मनु फेरत;
ताहि समै पियप्यारे को आवन प्यारी सखी कह्यो द्वार तैं टेरत।
आय गए 'मतिराम' जबै, तबै देखत नैन अनंद भए रत;
भौन के भीतर भाजि गई हँसि कै हरुवै हरि को फिर हेरत ॥ २१९॥

पिय-आगम सरदागमन बिमल बाल-मुख इंदु।
अंग अमल पानिप भयो फूले दृग-अरबिंदु ॥२२०॥

प्रौढ़ा-आगतपतिका-उदाहरण

प्रानपियारो मिल्यो सपने मैं परी जब नेंसुक नींद निहोरैं;
कंत को आगम त्यौं ही जगाय कह्यो सखी बोल पियूष निचोरैं।
यों 'मतिराम' भयो हिय मैं सुख बाल के बालम सौं दृग जोरैं;
जैसे मिहीं पट मैं[1] चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरैं ॥ २२१॥

पिय आयो परदेस तैं हिय हुलसी अति बाम।
टूट-टूक कंचुकि करी, करि कमनैंती काम ॥२२२॥

परकीया-आगतपतिका-उदाहरण

आयो बिलंब बिदेस तैं बालम बाल बियोग-बिथा बिसराई;
आई तहाँ तिनके सँग ह्वै सब गाँव की जे जुवती मिलि आई[2]।
देखत ही 'मतिराम' कहै अँखियान मैं आनँद की छबि छाई;
लाजन क्योंकर बैन कहै सु कह्यो दुख देहँहि की दुबराई ॥२२३॥

---

१ ज्यों पट मैं अति ही, २ जुरि।

छं० नं० २२० पानिप=सरोवर। छं० नं० २२१ परी जब नेंसुक नींद निहोरैं=बड़ा उद्योग करने पर जब जरा-सी नींद पड़ी। मिहीं पट=बहुत बारीक कपड़ा। छं० नं० २२३ लाजन क्योंकर···देहँहि की दुबराई=लज्जा के मारे नायिका अपने विरह-व्यथा का हाल न कह सकी, परंतु उसके शरीर की दुर्बलता से विरह-दुःख आप ही स्पष्ट हो गया।

भावते को सुनि आगम आनँद अंगन-अंगन मैं उलह्यो है[1];
सो हमहूँ सी सखी सों[2] दुराइए आली, कह्यो यह कौने कह्यो है।
खैंच लिए सुख के अँसुवा यह, क्यों दुरिहै जु हियो उमह्यो है;
गाढ़ी भई कर की मुँदरी, अँगिया की तनीन तनाव गह्यो है।।२२४।।

सुन्यो मायके तैं वहै आयो बाम्हनु कंत।
कुसल बूझिबे के लिये[3], लीनो बोलि इकंत।।२२५।।

सामान्या-आगतपतिका-उदाहरण

नागर बिदेस में बिताय बहु द्योस आयो,
नागरी के हिय मैं हुलासन की खान की;
कबि 'मतिराम' अंक भरत मयंक-मुखी,
नेह सरसाय मोही मति[4] सुखदान की।
सुबरन बोलि कैं बतावति है सुबरन,
हीरनि जनावति है छबि मुसकानि की;
आँखिन तैं आनँद के आँसू उमगाय प्यारी,
प्यारे को दिवावति सुरति मुकतान की।।२२६।।

फूली नागरि-कमलिनी, उड़िगे मित्र[5]-मलिंद।
आयो मित्र बिदेस तैं, भयो सुदिन आनंद।।२२७।।

उत्तमा-नायिका-लक्षण

पिय हित कैं अनहित करै, आप करै हित नारि।
तहि उत्तमा नायका, कबिजन कहत बिचारि।।२२८।।

---

१ अंग अनंगनि तै अमह्यो है, २ हितू सों, ३ मिसहिं, ४ भौंहैं कीनी, ५ नित्त।

छं० नं० २२४ गाढ़ी हुई···तनाव गह्यो है=हर्ष के मारे हाथ की उँगली में जो मुद्रिका थी वह खूब कस गई और कंचुकी के बंदों में भी तनाव आ गया है। छं० नं० २२६ सुबरन बोलि कैं बतावति है सुबरन=अच्छे वचन कहकर मानो सोने की बात कहती है।

रति कहूँ रमि कैं मनभावन, आवन[1] प्रात प्रिया-घर कीनौं;
देखत ही मुसकाय उठी चलि, आगे ह्वै आदर कैं पुनि[2] लीनौं।
मोहन के तन मैं 'मतिराम' दुकूल सु नील निहारि नवीनौं;
केसरि के रँग सों रँगि कै पट पीत यौं[3] प्रीतम के कर दीनौं ॥
२२९॥

पिय अपराध अनेक हू[4] आँखिन हूँ लखि जाय।
तिय इकंत हूँ कंत सौं, मानो करत लजाय ॥२३०॥

मध्यमा-नायिका-लक्षण

पिय सौं हित तैं[5] हित करे, अनहित कीने मान।
ताहि मध्यमा कहत हैं, कबि 'मतिराम' सुजान ॥२३१॥

आयो प्रानपति राति अनतैं बिताय बैठी,
भौंहन चढ़ाय रँगी सुंदरि सुहाग को;
बातन बनाय परयौ प्यारी के चरन[6] आय,
छल सौं छिपाई छैल-छबि रति-दाग[7] की।
छूटि गयो मान लगी आपु ही सँवारन कौं,
खिरकी सुकबि 'मतिराम' पिय-पाग की;
रिस ही के आँसू रस-आँसू भए[8] आँखिन मैं,
रोस[9] की ललाई सो ललाई अनुराग की ॥२३२॥

---

१ आगम, २ फिरि, ३ कै, ४ निज, ५ मैं, ६ पगन, ७ दाम, ८ भरे आनंद के, ९ रोष।

छं० नं० २२९ नील दुकूल=नीला कपड़ा प्रायः स्त्रियाँ पहनती हैं। प्रीतम कृष्ण हैं, जो पीतांम्बर धारण करते हैं इसलिए उनको केसर से रँगकर फिर पीतांबर दिया। छं० नं० २३० इकंत=एकांत, अकेले में। छं० नं० २३२ रति-दाग=रति के चिह्न। खिरकी=खिसके हुए पेंच। रिस ही के आँसू···अनुराग की=आँखों में क्रोध के कारण जो आँसू आ गए थे वे अब आनंदाश्रु हो गए और उसी प्रकार रोषवश जो आँखें लाल हो रही थीं वही अब प्रेमवश लाल हो गईं।

मेरे तन के रोम ये, मेरे नहीं[1] निदान।
उठि आदरु आगम करें, करौं कौन बिधि मान ॥२३३॥

अधमा-नायिका-लक्षण

पिय सौं हितहू के किये, करे मान जो[2] बाल।
तासौं अधमा कहत हैं, कबि 'मतिराम' रसाल ॥२३४॥

आयो है सयानपन गयो है अयान[3] मन,
नित उठि मान करबे की टेव पकरी;
घर-घर माननी हैं मानतीं मनाए तैं वै,
तेरी ऐसी रीति और काहू मैं न जकरी[4]।
कबि 'मतिराम' कामरूप घनस्याम लाल,
तेरी नैन-कोर ओर चाहैं इकटक री;
हाहा कै निहोरे हू न हेरति हरिननैनी!
काहे को करत हठ हारिल की लकरी ॥२३५॥

कहा लियो गुरुमान को अति ताती ह्वै नेम।
पारद-सो उड़ि जायगो अलि! चंचल[5] यह प्रेम ॥२३६॥

---

१ मेरोहि नहीं, २ अनहित मानै, ३ अजान, ४ हू न करी, ५ अंतर।

छं० नं० २३३ मेरे तन के रोम…बिधि मान=मान कैसे किया जाय, शरीर के रोंगटे पहले से ही खड़े होकर आगत-स्वागत करने लगते हैं। हो सकता है कि मेरे शरीर के यह बाल मेरे न हों। छं० नं० २३५ गयो है अयान मन=मन का अज्ञान मिट गया है। जकरी=जकड़ी, और कोई ऐसी बातों में नहीं जकड़ा है। हारिल की लकरी=हारिल एक पक्षी होता है। उसके संबंध में प्रसिद्ध है कि वह एक बार जिस लकड़ी को अपने पंजा में दबा लेता है उसे फिर नहीं छोड़ता है। छं० नं० २३६ कहा लियो गुरुमान… प्रेम=यह चंचल प्रेम पारद (पारा) के समान है अगर गुरुमान का आश्रय देकर गरम पड़ोगी तो यह उड़ जायगा।

नायक-लक्षण

तरुण, सुघर, सुंदर सकल काम-कलानि प्रबीन ।।
नायक सो 'मतिराम' कहि, कबित-गीत[1]-रस-लीन ।।२३७।।

गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर[2], पच्छन अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सौं 'मतिराम' सुहायो।
गुंजनि के उर मंजुल हार सुकुंजनि तैं कढ़ि बाहर आयो;
आज को रूप लखैं नँदलाल[3] को, आजहि नैननि को फल पायो[4]।
२३८।।

भरी भाँवरै साँवरै, रास रसिक रस जान ।
उनहीं मैं मति भ्रमति है, ह्वै बोंडर को पान ।।२३९।।

पति आदि त्रिविद नायक-भेद-वर्णन

पति, उपपति, बैसिक त्रिबिध, नायक-भेद बखानि ।
बिधि सौं ब्याह्यौ पति कह्यौ, कबि 'मतिराम' सुजान ।।२४०।।

पति-उदाहरण

पाँव धरे दुलही जिहिं ठौर रहे 'मतिराम' तहाँ दृग दीने;
छोड़ि सखान के साथ को खोलिबो, बैठ रहे घर ही रस भीने।

---

१ रीति, २ सिखि, ३ ब्रजराज, ४ आँखिन को फल आजुहि पायो।

छं० नं० २३८ गुच्छनि के अवतंस=फूल के गुच्छों का मुकुट। पच्छन अच्छ किरीट बनायो=परों का अच्छा किरीट बनाया। गुंजनि=घुँघची । कर-पल्लव=हाथ। नैननि को फल पायो=नेत्र सफल हो गए। छं० नं० २३९ उनहीं मैं मति भ्रमति है, ह्वै बौंडर को पान=जिस प्रकार बवंडर में पड़ा हुआ पत्ता घूम-फिरकर बवंडर में ही चक्कर लगाया करता है वही दशा मति की हुई है। वह भी उन्हींमें भ्रमा करती है।

साँझहिं तैं ललकैं मन-हीं-मन लालन यौं रस के बस लीने;
लौनी सलौनी के अंगनि नाह सु[1], गौने की चूनरी टोने-से कीने॥
२४१॥

जा दिन तैं गौनो भयो आई बाल रसाल।
ता दिन तैं बिरहिनि भई हरि-उर[2] तैं बनमाल ॥२४२॥

चतुर्विध पति

चारि भाँति सौं बरनिए, प्रथम कहत अनुकूल।
दच्छिन गन, शठ, धृष्ठ पुनि, रस सिँगार को मूल ॥२४३॥

अनुकूल-नायक-लक्षण

सदा आपनी नारि सौं राखै अति ही[3] प्रीति।
परनारी तैं बिमुख जो, सो अनुकूल सुरीति ॥२४४॥

उदाहरण

क्यों हू नहीं बिसरैं निसि-बासर मंद हँसी मुखचंद उज्यारी;
त्यों हीं दिपै अति नेह सौं देह की दीप-कला सम दीपति न्यारी।
तेरिय जोति जगै हिय-भीतर आवत और न नारि-अँध्यारी;
नैनन हूँ अरु बैनन हूँ तन हूँ-मन हूँ कौ तुही अति प्यारी[4] ॥
२४५॥

---

१ सोने-से अंगनि, २ उर की, ३ जासु हिए अति, ४ तुही अति लागति प्यारी।

छं० नं० २४१ गौने की चूनरी टोने-से कीने=जैसे टोना डालकर वश में किया जाता है वैसे ही गौने की चूनरी ने अपना रंग जमा रक्खा है। छं० नं० २४२ ता दिन तैं···बनमाल=जब से नायक नायिका को ब्याह लाया है तब से वह सदा उसे हृदय से लगाए रहता है और इसी कारण उसे बनमाला पहनने का अवसर ही नहीं मिलता। छं० नं० २४५ दिपै=प्रकाशित होती है।

सपने हूँ मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन हीं मैं रही, सखी ! मान की साध ॥२४६॥

दक्षिण-नायक-लक्षण

एक भाँति सब तियन सौं जाको होय सनेह।
सो दच्छिन 'मतिराम' कहि बरनत हैं मतिगेह ॥२४७॥

उदाहरण

साँझ समय ललना मिलि आई खरो जहाँ नंदलला अलबेलो;
खेलन कौं निसि चाँदनी माँहि बनै न मतो 'मतिराम' सुहेलो।
आपनि-आपनि पौरि बताय कैं बोल कह्यो सिगरीनि नवेलो;
त्यौं हँसि कैं ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरि मैं खेलो।
२४८॥

दच्छिन-नायक एक तुम मन मोहन ब्रजचंद।
फुलए ब्रज-बनितान के दृग-इंदीवर बृंद ॥२४९॥

शठ-नायक-लक्षण

*डरै करत अपराध नहिं[1], करै कपट की प्रीति।
बचन-क्रिया मैं अति चतुर, सठ-नायक की रीति ॥२५०॥

---

१ डरे करै अपराध ही।

छं० नं० २४६ मेरे मन हीं मैं...साध= मेरी इच्छा मान करने की थी पर वह मन में ही रही, कार्य में परिणत न हो सकी; क्योंकि नायक ने कभी अपराध ही न किया। छं० नं० २४८ पौरि=घर। छं० नं० २४९ इंदीवर=नीला-कमल। यह रात में फूलता है।

*यह दोहा बंबई वेंकटेश्वर-प्रेस की प्रति में अधिक है—

प्रिय बोलै अप्रिय करै निपट कपट-जुत होय;
सठ-नायक तासों कहत, कबि-कोबिद सब कोय।

उदाहरण

मोतैं तो कछु न अपराध परचो[1] प्रानप्यारी !
मान करि रही यौं ही काहे को अरस तैं ?
लोचन-चकोर मेरे सीतल हैं होत तेरे,
अरुन कपोल मुखचंद के दरस तैं।
कहै 'मतिराम' उठि लागु उर मेरे किन,
करत कठोर मन अँसुवा-बरस तैं;
कोप तैं कटुक[2] बोल बोलते हैं तऊ मोकौं,
मीठे होत अधर-सुधारस-परस तैं ॥२५१॥
पियत रहैं अधरान को रस अति मधुर अमोल।
तातैं मीठे कढ़त हैं बाल-बदन तैं बोल ॥२५२॥

धृष्ट-नायक-लक्षण

करै दोष निरसंक जो, डरे न तिय के मान।
लाज धरै मन मैं नहीं, नायक-धृष्ट निदान ॥२५३॥

उदाहरण

बरज्यो न मानत हौ बार-बार बरज्यो मैं,
कौन काम, मेरे इत भौन मैं न आइए;
लाज को न लेस, जग हाँसी को न डर मन,
हँसत-हँसत आन[3] बात न बनाइए।

---

१ भयो, २ कठोर, ३ बहु।

छं० नं० २५१ अरस तैं=रस छोड़कर। मीठे होत अधर···परस तैं=यद्यपि तुम कटु वचन कहती हो पर जब वे तुम्हारे मुख से निकलते हैं तो उनका स्पर्श तुम्हारे अधरों से हो जाता है। अधर मीठे हैं इसलिये वचनों में भी स्पर्शजात मधुरता आ जाती है इसलिये वे मुझे मधुर गते हैं। छं० नं० २५२ का भी यही भाव है।

कबि 'मतिराम' निति उठि कलकानि करो,
नित झूँठी सौंहैं करो, नित बिसराइए;
ताके पग लागो निस जागि जाके उर लागे[1],
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइए ॥२५४॥
निलज नैन कुलटानि के आनि बसे ब्रजराज।
हिए तिहारे तैं सकल मारि निकारी लाज ॥२५५॥

उपपति और वैशिक नायक-लक्षण

जो परनारिन को रसिक, उपपति ताहि बखानि।
प्रीति करै गनिकान सौं[2], बैसिक ताकौं जानि ॥२५६॥

उपपति-उदाहण

सुंदरि सरस सब अंगन सिँगार साजे,
सहज सुभाव निसि नेह कछु कै गई;
कीने 'मतिराम' बिहसौंहैं-से कपोल गोल,
बोलन अमोल इतनोंई दुख दै गई।
मेरे ललचोंहैं मुख फेरि के लजौहैं,
ललचोंहैं चारु चखनि चितै कै सो चली गई[3];
निपट निकट ह्वै कैं कपट छ्वाय अंग,
लाय की-सी लपटि लपेटि मनु लै गई ॥२५७॥
नैन जोरि, मुख मोरि, हँसि, नैसुक नेह जनाय।
आगि लेन आई हियैं मेरे, गई लगाय ॥२५८॥

---

१ निज जाके उर लागे लाल, २ पीतम जो गनिकान को, ३ मेरे ललचौहें चाहि चष मुख फेरि कै लजौहैं, ललचाहैं चारु चखन चितै गई।

छं० न० २५४ कलकानिदुख और हैरानी की बात। सौंहैं=क़समें। छं० नं० २५७ लाय=आग। छं० नं० २५८ आगि⋯गई लगाय=नायिका आग माँगने आई थी पर यहाँ प्रेम की आग जला गई।

मंद हँसनि दृग-कोर लखि बस कर लेत प्रबीन।
छिन बिछुरैं गति होत यौं ज्यौं जल बिछुरत मीन ॥२५९॥

वैशिक-उदाहरण

आगमन चाहि चकचौंधि रह्वौ जब तब,
जगर-मगर आभरन के नगन भौ;
जोबन के मद, रूप-मद वाके मैन-मद,
छकि मतवारो ह्वै कैं थकित पगन भौ।
कहै 'मतिराम' लोल लोचन बिसाल बंक,
तीछन कटाछन सौं छिदि कै लगन भौ;
बार-बार भ्रमि बारिबधु-बार-भौंरन मैं,
माँग की मुकतमाल-गंग मैं मगन भौ ॥२६०॥

लोचन-पानिप ढिंग सजी लट-बंसी परबीन।
मो मन बारिबिलासिनी फाँसि लियो जनु मीन ॥२६१॥

अभिमानो आदि त्रिविध नायक-भेद-लक्षण

मानी, बचनचतुर कह्यो, क्रियाचतुर पुनि जानि।
तीन भाँति औरैं[1] कहत, नायक सुकबि बखानि ॥२६२॥

---

१ ऐसे।

छं० नं० २६० आगमन···भौ=वैशिक नायक वेश्या के आभरणों के प्रकाश में चौंधिया गया, फिर यौवन-मद में मतवाला होकर बेपैर हो गया—अन्यत्र जाने योग्य न रहा। तिस पर नैन-बाणों का शिकार होकर और भी वहीं का हुआ। वह खूब भ्रमा और अंत में वेश्या की मुक्तमालमंडित माँगरूपी भागीरथी में बिलकुल निमग्न हो गया। छं० नं० २६१ लोचन···मीन=गणिका मछली का शिकार खेलनेवाली है, नेत्र सरोवर हैं और लट बंसी (फँसाने का काटा) है उसीकी मदद से उसने मेरे मन-रूपी मत्स्य को फँसा लिया है अर्थात् नेत्रों पर पड़ी वेश्या की अलकावली को देखकर मैं उसके वश में हो गया हूँ।

मानी-लक्षण

करत नायका सौं कछू, नायक मन[1] अभिमान।
तासौं मानी कहत हैं, कबि 'मतिराम' सुजान ॥२६३॥

उदाहरण

वह सुधि करो क्यों न नैन-नलिनी के दल,
सेज सारे सीरे सरसिजन बिछाइए;
अमल उसीर, इंदु, चंदन, गुलाब-नीर,
कहाँ लगि और उपचारन गिनाइए।
छल-बल छलि-बलि वाको मैं मिलाइयत,
कबि 'मतिराम' अब साहबी जनाइए;
ऐसैं मनभावन गुमान है जु मन भायो,
प्यारी के मनाइबे कौं तुमको मनाइए ॥२६४॥
यामैं कौन सयानु है मोहनलाल सुजान!
आपु करत अपराध हौ आपुहि पुनि अभिमान[2] ॥२६५॥

बचनचतुर-नायक-लक्षण

बचनन मैं जो करत है चतुराई 'मतिराम'।
बचनचतुर-नायक सरस लीजै जानि सकाम ॥२६६॥

उदाहरण

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ,
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है;
छाई रहे जहाँ द्रुम बेलिन सौं मिलि,
'मतिराम' अलि-कुलन अँध्यारी अधिकाति है।

---

१ जो, २ करत गुमान।

छं० नं० २६४ उसीर—उशीर=शीतोपचारक खस आदि।

नखत[1]-से फूल[2] रहे फूलन के पुंज घन[3],
कुंजन मैं होति जहाँ[4] दिन ही मैं राति है;
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ[5],
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ? ॥२६७॥
तोकौं देउँ बताय हौं तू कत होत उचाट।
ग्वालिनि दधि बेंचन गई बंसीबट की बाट ॥२६८॥

क्रियाचतुर-लक्षण

करै क्रिया सौं चातुरी जो नायक रसलीन।
क्रियाचतुर ताकौं कहत, कबि 'मतिराम' प्रबीन ॥२६९॥

उदाहरण

नँदलाल गयो तित ही चलि कै जित खेलति बाल अलीगन[6] मैं;
तहाँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन चोरमिहीचनि खेलन मैं।
दुरिबे को गईं सिगरी सखियाँ, 'मतिराम' कहै इतने छिन मैं;
मुसकाय कै राधिका कंठ लगाय छिप्यौ कहूँ जाय निकुंजन मैं ॥
२७०॥

साँझ समैं वा छैल की छलनि कही नहिं जाय।
बिन डर बन डरपाय कैं लई मोंहि उर लाय ॥२७१॥

प्रोषित-नायक-लक्षण

नायक होय बिदेस मैं जो बियोग अकुलाय।
तासों प्रोषित कहत हैं जे प्रबीन कबिराय ॥२७२॥

---

१ तखत, २ फूले, ३ बन, ४ मनो, ५ कहि, ६ सखी।

छं० नं० २६७ बाट=रास्ता। इस छंद की भूमिका विस्तार के साथ भूमिका में दी गई है पाठक उसे वहाँ पढ़ें। छं० नं० २७० चोरमिहीचनि=आँख-मिचौअल खेल। दुरिबे को=छिपने के लिये। छं० नं० २७१ छलनि=छल करने का ढंग। डरपाय कैं=डरवाकर।

उदाहरण

प्यार पगे बचन-पियूष पान करि-करि,
उमँगि-उमँगि तिय आनँद बिसेखिहौं;
कबि[1] 'मतिराम' तन-तपनि बुझाय जैहै,
तब निज जनम सफल करि लेखिहौं।
हीतल को सीतल करन चारु चाँदनी-सी,
मंद मृदु मुसकानि अनमिख पेखिहौं;
ह्वैहै तब निसा मेरे लोचन-चकोरनि को,
जब वाको आनन अमल इंदु देखिहौं ॥२७३॥
प्रफुलित सुमन-समाज मैं करबी[2] आनँद केलि।
सो नीके दिन लागिहैं उर सोने की बेलि ॥२७४॥

दर्शन-भेद

दरसन आलंबनहिं मैं कबि 'मतिराम' सुजान।
स्रवन, स्वप्न अरु चित्र त्यों, पुनि प्रत्यच्छ बखान[3] ॥२७५॥

श्रवण-दर्शन-उदाहरण

आनन-पूरनचंद लसै अरबिंद-बिलास-बिलोचन पेखे;
अंबर पीत लसै[4] चपला छबि अंबुद मेचक अंग उरेखे।
काम हूँ तैं अभिराम महा 'मतिराम' हिए निहचै करि लेखैं;
तैं बरनैं निज बैनन सौं सखी मैं निज नैनन सौं जनु[5] देखैं ॥
२७६॥

---

१ कहै, २ करबो, ३ हि मान, ४ हँसै, ५ मनु ।

छं० नं० २७३ हीतल=हृदय-तल। अनमिख=टकटकी लगाकर, विना पलक गिराए। छं० नं० २७४ प्रफुलित···बेलि=प्रोषित नायक कहता है कि मैं खूब आनंद-केलि करूँगा। वे दिन बड़े ही अच्छे लगेंगे जब मेरी केलि-स्थली सुमनवाली (अच्छे मन की नायिका) होगी और मेरे हृदय में सोने की बेलि पड़ी होगी अर्थात् स्वर्ण वर्ण की (चंपकवर्णी) नायिका हृदय से लिपटी होगी। छं० नं० २७६ उरेखे—अवरेखे=चित्रित किया।

जैसो बरन्यो तैं सखी, रूप कान्ह को आय।
तैसोई मेरे चखन[1] रह्यौ आइ ठहराय ॥२७७॥

स्वप्न-दर्शन-उदाहरण

आवत मैं सपने हरि को लखि नैंसुक बाट सकोचन छोड़ी;
आगे ह्वै आड़े भए 'मतिराम' चली सुचितैं चख लालच वोड़ी[2]।
ओठन को रस लेन को मोहन, मेरो गह्यो[3] कर काँपति ठोड़ी;
और भिटू! न भई कछु बात, गई इतने हीं मैं नींद निगोड़ी ॥
२७८॥

पिय-मिलाप को सुख सखी! कह्यौ न जात अनूप।
सौतुक सो सपनो भयो, सपनो सौतुक रूप ॥२७९॥

चित्र-दर्शन-उदाहरण

अचल भए हैं, गात परस न जान्यौ जात,
कही न सुनत बात, जात बात न कही;
सूँघै न सुबास, न सुमन की समुझि परै,
टकटकी बड़े-बड़े दृगन मैं उलही।
कबि[4] 'मतिराम' तोहि नेक परवाह नहीं,
ऐसी भाँति भई वह तेरे नेह सौं नही[5];
एरे चितचोर! चलि चाहि चंदमुखि तोहि,
चित्र[6] ही मैं चाहि-चाहि चित्र ही मैं ह्वै रही ॥२८०॥

---

१ उर, २ ओड़ी, ३ मेरी गही कर कंजनि ठोढ़ी, ४ कहैं, ५ सू नहीं, ६ हू।

छं० नं० २७८ वोड़ी—ओड़ी=ओट। आड़े भए=मार्ग अवरुद्ध किया। छं० नं० २७९ सौतुक=प्रत्यक्ष। छं० नं० २८० नेह सौं नही=नेह से संलग्न। चित्र ही मैं·· चित्र ही मैं ह्वै रही=चित्र ही में तुमको चाह-चाह कर वह चित्रमय हो रही है अर्थात् उसको सब कहीं चित्र-ही-चित्र दिखलाई पड़ता है।

चित्रहि मैं जाके लखे होत अनंत अनंद ।
सपने हू कबहू सखी, सो[1] मिलिहैं ब्रजचंद ।।२८१।।

साक्षात्-दर्शन-उदाहरण

मोहन लला को मन-मोहनी बिलोकि बाल,
कसकरि[2] राखति है उमग उमाह कौं;
सखिन की दीठि को बचाय कै निहारति है,
आनँद-प्रबाह बीच पावत न थाह कौं ।
कबि 'मतिराम' और सब ही के देखत हूँ[3],
ऐसी भाँति[4] देखति छिपावत उछाह कौं;
वेई नैन रूखे-से लगत और[5] लोगन को,
वेई नैन लागत सनेह[6]-भरे नाह कौं ।।२८२।।
नँदनंदन[7] के रूप पर, रीझ रही रिझवारि ।
अधमूँदी अँखियन दई मूँदी प्रीति उघारि ।।२८३।।

उद्दीपन-लक्षण

चंद, कमल, चंदन, अगर, रितु, बन, बाग-बिहार ।
उद्दीपन सिंगार के जे उज्जल संभार ।।२८४।।

उदाहरण

पूरन चंद उदोत कियौ घन फूलि रही बन जाति सुहाई;
भौंरन की अवली कल कैरव-कुंजन[8] पुंजन मैं मृदु गाई ।

---

१ मोंहि, २ नीठि गहि, ३ गुरु लोगन के देखत हू, ४ बिधिनि, ५ लागत मिठाई, ६ लोनाई, ७ नंदनंद, ८ कैरव-कुंजन ।

छं० नं० २८२ आनँद-प्रबाह बीच पावत न थाह कौं=अथाह आनंद में मग्न हो रही है। सनेह-भरे=खूब चिकने, प्रेम-परिपूर्ण । छं० नं० २८३ रिझवारि=रीझनेवाली । अधमूँदी···उघारि=अपने अर्द्धनिमीलित नेत्रों से उसने गुप्त प्रीति प्रकट कर दी ।

बाँसुरी ताननि काम के बाननि, लैं[1] 'मतिराम' सबै अकुलाई;
गोपिन गोप कछू न गने, अपने-अपने घर तैं उठि धाई ॥२८५॥

प्रथम कामिजन[2]-मनन कौं रँगत, सुरभि, रितु, राग।
मंडत है नवपल्लवनि, पुनि पीछे बन-बाग ॥२८६॥

उद्दीपन-भेद

सखी-दूतिका जानिए उद्दीपन के भेद।
नायक अरु नायका को हरै बिरह को खेद ॥२८७॥

सखी-लक्षण

जा तिय सौं नहिं नायका कछू छिपावे बात।
तासौं बरनत कह सखी, सब कबि मति अवदात ॥२८८॥

सखी के काम

मंडन अरु सिच्छा-करन, उपालंभ, परिहास।
काज सखी के जानियो, औरौ बुद्धि-बिलास ॥२८९॥

मंडन-उदाहरण

जावक रंग रँगे पगपंकज, नाह को चित्त रँगे रँगु जातैं;
अंजन दै करि नैनन मैं सुखमा बढ़ि स्याम सरोज प्रभातैं।
सोने के भूषन अंग रचे, 'मतिराम' सबै बस कीबै की घातैं;
यों हीं चलै न सिँगार सुभावहि, मैं सखि भूलि कही सब बातैं॥
२९०॥

---

१ सों, २ काम-कामि-जन मानि को।

छं० नं० २८६ राग=अनुराग। छं० नं० २९० सुखमा—सुषमा=शोभा। सिगार सुभावहि=स्वाभाविक शृंगार, ईश्वरदत्त शरीर-सौंदर्य।

सखी प्रिया[1] की देह मैं सजे सिँगार अनेक।
कजरारी अँखियान मैं भूली[2] काजरु एक ॥२९१॥

शिक्षा-उदाहरण

मलय पवन मंद-मंद कैं गमन लाग्यौ,
फूलन के बृंदनि तैं मकरंद ढारने;
कबि 'मतिराम' चितचोर चारौं ओर चाहि,
लाग्यौ चैत-चंद चारु चाँदनी पसारने।
अलिन की आली, आली मैन कैसे मंत्र पढ़ि,
लागी सब माननी के मान[3] मद झारने;
सुमन सिँगार साज सेज सुख साजि करो,
लाज करो आज ब्रजराज पर वारने ॥२९२॥
कत सजनी ह्वै अनमनी अँसुवा भरति संसक।
बड़े भाग नँदलाल सौं झूठहु लगत कलंक ॥२९३॥

उपालंभ-उदाहरण

पान की कहानी कहा, पानी को न पान करै,
आहि कहि उठति अधिक उर आधि कैं;
कबि 'मतिराम' भई बिकल बिहाल बाल,
राधिके जिवावरे अनंग अवराधि कैं।

---

१ तिया, २ भूलो, ३ माननी के री मननि मान।

छं० नं० २९१ कजरारी···काजरु एक=नायिका के नेत्र स्वभावत: ऐसे श्याम वर्ण थे कि श्रृंगार करते समय सखी उनमें काजल लगाना भूल गई। छं० नं० २९२ गमन लाग्यौ=चलने लगा। अलिन की आली···मंत्र पढ़ि=भ्रमरों की पंक्तियाँ मानो काम दूती के मंत्र पढ़ रही हों। लाज करो आज ब्रजराज पर वारने=व्रजराज से समागम करने में आज लज्जा को आश्रय मत दो।

याही को कहायो ब्रजराज दिन चारि ही मैं,
करी है उजारि ब्रज ऐसी रीति नाधि कैं;
जैसे तुम मोहन ! बिलोक्यौ वाकी ओर तैसे[१],
बैरिहू सौं बैरी न बिलोकै बैर साधि कैं ।।२९४।।
वाको मनु लीने[२] लला, बोलो बोल रसाल ।
झुकत तनक ही बात मैं ललित बेलि बर[३] बाल ।।२९५।।

परिहास-उदाहरण

गौने के द्यौस सिँगारन को 'मतिराम' सहेलिन को गनु आयौ[४];
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ[५] ।
'पीतम स्रौन समीप सदा बजै' यौं कहि कै पहिले पहिरायौं;
कामिनि कौल[६] चलावनि कौं, कर ऊँचो कियौ पै चल्यौ न चलायौ।।
२९६।।
प्रभा तरोना लाल की परी कपोलन आनि ।
कहा छपावत चतुर तिय कंत-दंत-छत जानि ।।२९७।।
भुज फुलेल लावत सखी कर चलाय मुसकाय ।
गाढ़े गहे उरोज पिय, बिहँसी भोंह चढ़ाय ।।२९८।।

---

१ जैसे तू बिलोक्यो हरि वाकी ओर फेरि, २ लीन्हो, ३ सी, ४ कहै, 'मतिराम' सहेलिन को मिलि कै गन आयो, ५ जनायो, ६ कंज ।

छं० नं० २९४ आधि कैं=पीड़ा करके । अनंग अवराधि कैं=काम की आराधना (पूजा) करके । रीति नाँधि कैं=ऐसी रीति को जबर्दस्ती चलाकर । बैरि हू सौं बैरी···साधि कैं=अत्यंत प्रचंड शत्रु भी शत्रता मानकर कर दृष्टि न डालेगा । छं० नं० २९६ परिहास बढ़ायौ=हँसी की । 'पीतम स्रौन समीप सदा बजै' इससे यह अभिप्राय है कि तुममें और नायक में सुरतिकेलि होती रहे । कुछ अश्लील वर्णन है । इस परिहास से बनावटी क्रोध दिखलाने के लिये कमल से मारने को हाथ उठाया पर मारा नहीं । छं० नं० २९७ तरोना=तरिवन, कर्ण भूषण, तरकी ।

उत्तमादि त्रिविध दूती-भेद वर्णन

निपुन दूतता मैं सदा दूती ताहि बखान।
उत्तम, मध्यम, अधम यौं, तीन भाँति सौं जान ॥२९९॥

उत्तमा दूती-लक्षण

मोहै जो मृदु बोलि कैं मधुर बचन अभिराम।
ताहि कहत कबिराज हैं उत्तम दूती नाम ॥३००॥

उदाहरण

जा दिन तें देखे 'मतिराम, तुम, ता दिन तैं
बढ़ी रहै मुसकानि वाके जियराई पर;
भावत न भोजन[1] बनावत न अभारन[2],
हेतु न करत सुधानिधि सियराई पर।
चलो[3] उठि देखौ बड़े भाग हैं तिहारे अब[4],
राखो धरि[5] राधिकै कन्हाई हियराई पर;
दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय,
राई लौनु वारिए तिया[6] की पियराई पर ॥३०१॥

तिय के हिय के हनन कौं भयो पंचसर बीर।
लाल ! तुम्हैं बस करन कौं रहे न तरकस तीर ॥३०२॥

मध्यमा दूती-लक्षण

कछू बचन हित के कहै बोलै अहित कछूक।
मध्यम दूती कहत हैं तासौं सुकबि अचूक ॥३०३॥

---

१ भवन, २ भूषनन, ३ नेक, ४ लला, ५ मेलि राखौ, ६ पिया।

छं० नं० ३०१ जियराई—हियराई=हृदय। राई लौनु···पियराई पर=नायिका के पीतवर्ण को देखकर उसकी कुशल कामना के लिये राई लोन (अनिष्ट-निवारक उपचार) उतारा जाना चाहिए।

उदाहरण-कवित्त

चरन धरैं न भूमि बिहरैं तहाँई जहाँ,
फूले-फूले फूलनि बिछायौ परजंक है;
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कबि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन मयंक है;
कैसैं वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै[1],
बिजन बयारि लागैं लचकत लंक है ॥३०४॥

रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजनाथ !
लाज सिंधु की[2] इंदिरा, क्यौंकर आवै हाथ ? ३०५॥

अधमा दूती-लक्षण

अधम दूतिका जानिए बचन कहत सतराय।
ग्रंथन को मति देखि कैं बरनत सब कबिराय ॥३०६॥

उदाहरण

जानत कछू न पै कहावत रसिकराय,
ल्याउ-ल्याउ अबहीं तिहारे यह टेक है ;
कूरन की रीति है जु डेल ऐसो डारि देत,
'मतिराम' चतुराइ चतुर लिए कहै।
बोली ना नवेली कछू बोल सतराय वह,
मनसिज ओज को सुहानौं कछु[3] सेक है ;

---

१ जाय, २ ज्यों सिंधुर की, ३ आजु।

छं० नं० ३०४ कुंकुम=केसरि। कबि मतिराम देखि बातायन··· मयंक है=मतिराम कहते हैं कि खिड़की से जो थोड़ी धूप आ जाती है उससे मुखचंद्र मलीन हो जाता है। बिजन=निर्जन स्थान। बिजन—व्यजन=पंखी। छं० नं० ३०५ इंदिरा=लक्ष्मी। छं० नं० ३०७ कूरन

बातन[1] सुनत अँगरात अलसात गात,
सोहैं करि नैन बिहसोहैं भई नेक है ॥३०७॥
जोबन मंडित आपनैं अजौं न जानत गात।
तो चित मैं अति चटपटी निपट अटपटी बात ॥३०८॥

अनुभाव-वर्णन

जिनते चित रति भाव को आछो अनुभव होय।
रस सिंगार अनुभाव तिहि बरनत कबि सब कोय ॥३०९॥
लोचन, बचन, प्रसाद, मृदु, हास, भाव, धृति, मोद।
इनते प्रगटत भाव रति, बरनहि सुकबि बिनोद ॥३१०॥
गहि हाथ सौं हाथ सहेली के साथ मैं, आवति ही बृषभानलली;
'मतिराम' सुबास तैं आवत नीरे, निवारत भौंरन की अवली।
लखि कैं मनमोहन कौं सकुची,करचौ चाहत आपनी ओट अली;
चित चोरि लियो दृग[2]जोरि तिया,मुख मोरि कछू मुसकाय चली॥
३११॥
सहज बात बूझत कछू बिहँसि नवाई ग्रीव।
तरुन हिए तरुनी दई, नए नेह की नीव[3] ॥३१२॥

---

१ बात, के २ चख, ३ सींव।

की रीति···चतुराई चतुराई लिए कहै=मूर्ख लोगों को बात करने का शऊर नहीं होता है। वे बात इस प्रकार से करते हैं मानो कोई ढेला डाल दिया हो, पर चतुर लोग बात करने में भी चतुरता का आश्रय लिए रहते हैं। मनसिज ओज···सेक है=कामदेव के प्रभाव की कुछ गर्मी मुँह पर आ गई है। छं० नं० ३११ नीरे=निकट। अली=सखी। मुख मोरि=मुँह मोड़कर। छं० नं० ३१२ ग्रीव—ग्रीवा=गरदन। तरुन हिए तरुनी दई, नए नेह की नीव=बात पूछने पर नायिका ने गरदन झुका ली तो ऐसा जान पड़ा कि नायिका ने नायक के हृदय में नवीन स्नेह स्थापित कर दिया।

सात्त्विक-भाव

ते अनुभावै जानियो जे हैं सात्त्विक भाव।
रसग्रंथनि अवलोकि कैं, बरनत सब कबिराव ।।३१३।।
स्तंभ, स्वेद, रोमांच, सुर-भंग, कंप, बैबर्ण।
आँसू औरौ प्रलय कहि, आठौं ग्रंथन वर्ण ।।३१४।।

स्तंभ-लक्षण

लज्जा, हर्षादिकन तैं अचल होत जहँ अंग।
स्तंभ कहत हैं ताहिको जे प्रबीन रस-रंग ।।३१५।।

उदाहरण

देखत ही 'मतिराम' रसाल गही मति प्यारी की प्रेमन गाढ़ी;
चाहिबे की चितचाह भई हिय तैं कुलकानि न जाति है काढ़ी[1]।
संग सखीन को जानि दुरावति, आनन आनँद की रुचि बाढ़ी;
पाइँ परे मग मैन मरूकै[2] भई मिस लाजन के फिर ठाढ़ी ।।
३१६।।

पाय इकंत निकुंज मैं भरी अंक ब्रजनाथ।
रोकन कौं तिय करति पै कह्यौ करत नहिं हाथ ।।३१७।।

स्वेद-लक्षण

हरष, लाज, भय, कोप, स्रम इत्यादिक तैं होय।
पानी परगट देह मैं, स्वेद कहावत सोय ।।३१८।।

उदाहरण

किंकिनि नेवर की झनकारनि चारु पसार महारस जालहि;
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' कलानि निहाल कियो नँदलालहि।

---

१ पै गई हिय तैं कुलकानि न काढ़ी, २ भटू सु।

स्वेद के बूँद लसैं तन मैं, रति अंतर ही, लपटाय[1] गुपालहि;
मानो फली[2] मुकता फल पुंजन, हेमलता लपटानी तमालहि ॥
३१९॥

कुच तैं स्रम जलधार चलि मिलि रोमावलि रंग।
मनो मेरु की[3] तरहटी भयो सितासित संग ॥३२०॥

रोमांच-लक्षण

हरष भयादिक तैं प्रगट रोम उमँग जो अंग।
ताहि कहत रोमांच हैं, कबिजन सुमति उतंग ॥३२१॥

उदाहरण

चंद्रमुखी हाँसी मैं चमेली की लता-सी होति,
चंपक-लता-सी अंग जोति को धरति है;
कबि 'मतिराम' तेरे अंग की सुबास लहै,
कौन बेली ऐसी हिए जानि न परति है।
नेंसुक निहारे ते नवेली नैन कोरन[4] सौं,
ऐसी अद्भुत की कलानि आचरति है;

---

१ भरि अंक, २ फूली, ३ मेरु गिरि, ४ कोर नैनन।

छं० नं० ३१९ चारु पसार महारस जालहि=रसजाल का सुंदर प्रसार। अत्यधिक रसविस्तार। निहाल=प्रसन्न। अंतर ही=बीच में ही। मानो···तमालहि=रति-समय में नायिका कृष्ण से लिपटी हुई है और उसके शरीर पर पसीने के बूँद झलक रहे हैं। यह दृश्य ऐसा जान पड़ता है मानो तमाल (श्यामवर्ण) वृक्ष में सोने की लता लिपटी हो और उसमें मोती फले हों। छं० नं० ३२० मेरु की तरहटी=सुमेरु पर्वत का नीचे का भाग। सितासित=गंगा और यमुना।

ललित ललाम[1] स्याम रसिक रसाल को,
कदंब मुकुलित के कुलनि सो करति है ॥३२२॥

जौन अंग ढिंग ह्वै कढ़ी, छुई छैल की छाँह।
अजहूँ लौ अवलोकिए, पुलक पटलता[2] ताह ॥३२३॥

स्वरभंग-लक्षण

क्रोध, हर्ष, मद, भीति तैं बचन और बिधि होय।
ताहि कहत स्वरभंग हैं कबि कोबिद सब कोय ॥३२४॥

उदाहरण

ताहि लै आई अली रतिमंदिर जाकी लगै रति हूँ परछाँहीं;
आय गयो 'मतिराम' तहीं जिन कोटिन काम कला अवगाँहीं।
देखत ही सगरी डगरी, पकरी[3] हँसि कै तिय की पिय बाँहीं;
लाजनि तैं मति मंद भई[4], सुकढ़ी मुखचंद मरू करि नाँहीं ॥
३२५॥

कहा जनावति चातुरी, कहा चढ़ावति भौंह ?
अधनिकरे अखरान सौं, सौहें कीजै सौंह ॥३२६॥

---

१ तमाल, २ पलक न पलटी, ३ लाज नई सुरगंग भई।

छं० नं० ३२२ अद्भुत की कलानि आचरति है=अद्भुत बातों का प्रयोग करती है। ललित ललाम···सो करति है=रसिक प्रवर सुंदर श्रीकृष्णचंद्र को कंटकित कदंब के समान कर देती है। तात्पर्य यह कि नायिका के कटाक्षपात से श्रीकृष्ण का शरीर रोमांचित हो जाता है। छं० नं० ३२३ पटलता=अधिकता, पुलक रोमांचाधिक्य। छं० नं० ३२५ सगरी डगरी=सब सखियाँ भाग गईं। कढ़ी मरू करि नाँहीं=कठिनता से नहीं कहा।

कंप-लक्षण

क्रोध[1], हर्ष, भय, आदि तैं थरथराति जो देह।
ताहि कंप यौं कहत हैं कबि कोबिद मतिगेह ॥३२७॥

उदाहरण

चंद्रमुखी[2] अरबिंद की बालनि गूदत रूप अनूप सुधारचौ ;
काम-सरूप तहाँ 'मतिराम' अनंद सौं नंदकुमार पधारचौ[3]।
देखत कंप छूटचो तिय के तन यौं चतुराई को बोल उचारचौ;
सीरे सरोज लगे सजनी कर काँपतु जातु न हार सँवारचौ ॥
३२८॥

लाल बदन लखि बाल के कुचन कंप रुचि होति।
चपल होत चकवा मनो चाहि चंद की जोति ॥३२९॥

बैवर्ण्य-लक्षण

मोह, कोह, भय, आदि तैं, बरण और बिधि होय।
ताहि कहत बैबर्ण हैं, सकल सयाने लोय ॥३३०॥

उदाहरण

छल सौं छबीली कौं सहेलिन लिवाय[4] करि,
ऊपर अटारी जाय रूप रच्यौ ख्याल को;
कबि 'मतिराम' भूषनन की झनक सुनि,
चाय भौ चपल चित रसिक रसाल को।
अली चली सकल अलीक मिस करि-करि,
आवत निहारि करि मदनगोपाल को ;
लालन को इंदु सौ बदन अवलोकि,
अरबिंद-सौ बदन कुम्हिलाय गयौ बाल को ॥३३१॥

---

१ कोप, २ इंदुमुखी, ३ सिधारचो, ४ बुलाय।

छं० नं० ३२८ पधारचौ=आए । सीरे=ठंढे। छं० नं० ३३१ अलीक मिस करि-करि=झूठा बहाना कर-करके।

बाल रही इकटक निरखि लाल बदन अरबिंदु।
सियराई नैनन परी, पियराई मुख इंदु[1] ॥३३२॥

अश्रु-लक्षण

हरष, दुःख, भय आदि तें जल आवे अँखियान।
ताहि बखानत आँसु[2] कहि ग्रंथन को मत जान ॥३३३॥

उदाहरण

बैठे हुते लाल मनमोहन छबीली[3] बाल,
छिनक सकोच राख्यौ गुरुजन भीर को;
कबि 'मतिराम' दीठि और की बचाय देखै,
देखत ही औरै भय राखै अब धीर को।
तन को न मोह धरै मन की खबरि भूली,
आँखिन मैं छायो पूर आनँद के नीर को;
उमँगि हिए तें आयो प्रेम को प्रबाह तातैं,
लाज गिरि गई[4] जैसे तरुबर तीर को ॥३३४॥

बिन देखे दुख के चलैं, देखें सुख के जाहिं।
कहौ लाल इन दृगन तें, अँसुवा क्यौं ठहराहिं? ॥३३५॥

प्रलय-लक्षण

जीवित तनु मैं होत है ईहा सकल निरोध।
हर्ष, दुःख, भय आदि तै प्रलय कहत मतिसोध ॥३३६॥

---

१ चंद, २ अश्रु, ३ मोहनी, ४ परी।

छं० नं० ३३४ पूर=बाढ़। छं० नं० ३३५ बिन देखे दुख के चलैं···ठहराहिं=वियोग-दशा में तो दुःख के कारण अश्रुप्रवाह जारी रहता है और संयोग-दशा में सुख के आँसू बहने लगते हैं। हर हालत में आँसू जारी रहते हैं। कहिए लालजी, इनके रोकने की तरकीब क्या है?

उदाहरण

जा दिन तें छबि सों मुसक्यात कहूँ निरखे नँदलाल विलासी;
ता दिन[1] तें मन-ही-मन मैं 'मतिराम' पियैं मुसक्यानि सुधा-सी।
नैकु निमेष न लागत नैन चकी चितवै तिय देव-तिया-सी ;
चंद्रमुखी न हलै, न चलै, निरबात निवास मैं दीप-सिखा[2]-सी ॥
३३७ ॥

तो मैं अनमिषनैनता मोहन मूरति मैन।
अनमिष नैन सुनैन ये निरषत अनमिष नैन ॥ ३३८ ॥

जृंभा-लक्षण

जृंभा कौं कबि कहत हैं नवयों सात्त्विक भाव।
उपजै आलस आदि तैं बरनत सब कबिराव ॥ ३३९ ॥

उदाहरण

केलि कै सकल राति प्रात उठि अँगिराति[3],
नींद भरे लोचन जुगल बिलसत है;
लाजनि तैं अंगनि दुरावति हैं बार-बार,
खैंचि करि बसन बिहारी बिहँसत है।
कबि 'मतिराम' आई आलस[4] जँभाई मुख,
ऐसी मनभावती की छबि सरसति है;
अरुन उदोत मनो सोभा के सरोवर मैं,
सोभा मानि सोभा को सरोज विकसत है ॥ ३४० ॥

आयो पीव बिदेश तैं बहुतैं द्यौस बिताय।
सखी[5] उठाई पास तैं साँझहि तैं जमुहाय ॥ ३४१ ॥

---

१ छन, २ देह दिया-सी, ३ अँगराति, अरसाति, ४ आरस, ५ सखिन।

छं० नं० ३३७ देव-तिया=सुरांगना; इनकी पलक नहीं लगती है ऐसा प्रसिद्ध है। निरबात निवास=वायुशून्य स्थान। छं० नं० ३३८ अनमिषनैनता=नेत्रों की पलकों के न गिरने की दशा।

श्रृंगार-वर्णन

जो बरनत तिय पुरुष को कबि कोबिद रतिभाव।
तासौं रीझत हैं सुकबि सो सिंगार रसराव ॥ ३४२ ॥
कहि सिंगार रसभाव द्वै, प्रथम कहत संयोग।
ग्रंथन को मत देखि कैं, दूजो कहत बियोग ॥ ३४३ ॥

संयोग-श्रृंगार-लक्षण

प्रमुदित नायक नायका जिहिं मिलाप मैं होत।
सो संजोग सिंगार कहि बरनत सुमति उदोत ॥ ३४४ ॥

उदाहरण

प्रान प्रिया प्रिय आनँद सौं, बिपरीति रची रति रंग रह्यौ भ्वै ;
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' रही धुनि त्यौं कलिकिंकिनि की ह्वै।
आनन की उजियारी परी स्रमबूँद समेत[1] उरोज लखै द्वै ;
चंद की चाँदनी के परसें मनौं चंद पखान पहार चले च्वै ॥
३४५ ॥

छुवत परसपर हेरि कैं राधा नंदकिसोर।
सबमैं द्वै ही होत हैं चोर मिहीचनि चोर ॥ ३४६ ॥

हाव-लक्षण

दंपति के संयोग मैं होत प्रकट जे भाव।
ते संयोग सिंगार मैं बरनत सब कबि हाव ॥ ३४७ ॥
लीला प्रथम, बिलास पुनि, त्यौं बिच्छित्ति बखान।
बिभ्रम, किलकिंचित बहुरि, मोट्टाइत मन आन ॥ ३४८ ॥
बहुरि कुट्टमित कहत हैं, पुनि बिब्बोक बखान।
ललित बरनि अरु बिहित कहि, सकल हाव-दस जान ॥३४९॥

---

१ समीप।

छं० नं० ३४५ चंदपखान—चंद्रपाषाण=वह पत्थर जिसमें चंद्र-किरणों का स्पर्श होने से जल-बुंद टपकने लगते हैं।

लीलाहाव-लक्षण

पिय भूषन बचनादि की लीला करै जो बाल।
तासौं लीलाहाव कहि बरनत सुकबि रसाल ॥ ३५० ॥

उदाहरण

प्यार पगी पगरी पिय की धर[1] भीतर आपने सीस सँवारी ;
एतें मैं आँगन तैं उठिकैं तहाँ आय गयो 'मतिराम' बिहारी।
देखि उतारन लागी पिया पिय सौंहनि सौं बहुरचौ न उतारी ;
नैन नवाय लजाय रही उर लाय लई मुसकाय पियारी ॥
३५१ ॥

मेरे सिर कैसी लगै ? यों कहि बाँधी पाग।
सुंदर रति बिपरीत मैं, प्रगट कियो अनुराग ॥ ३५२ ॥

बिलासहाव-लक्षण

गवन नयन बचनादि मैं होत जो कछुक बिसेष।
बरनत ताहि बिलास कहि, रसमय सुकबि असेष ॥ ३५३ ॥

उदाहरण

किंकिनी कलित कल, नूपुर ललित रव,
गौन तेरो देखि कैं सकतु करि गौन को ?
मृदु मुसकानि मुखचंद चारु चाँदनी सौं,
राख्यो कैं उज्यारो अभिराम द्वार भौन को।
सहज सुभावनि सौं भौंहनि[2] के भावनि सौं,
हरति है मन 'मतिराम' मनरौन को ;
रूपमद छकी आजु छबि सौं छबीली देति,
तिरछी चितोनि मैन बरछी-सी कौन को ॥ ३५४ ॥

---

१ बसि, २ मोहनी।

छं० नं० ३५१ पिय सौंहनि सौं बहुरचौ न उतारी=प्रियतम के शपथ दिलाने पर फिर पगड़ी नहीं उतारी। छं० नं० ३५४ मन रौन= मनरमण।

तेरी चलनि, चितौनि, मृदु, मधुर-मंद मुसकानि ।
छाय रही लखि लाल की सखियन मिस अँखियान ।। ३५५ ।।

बिच्छित्तिहाव-लक्षण

थोरे ही भूषन बसन जहँ सोभा सरसाय।
ताहि कहत बिच्छित्ति हैं, जे प्रबीन कबिराय ।। ३५६ ।।

उदाहरण

वारने सकल एक रोरी ही की आड़ पर,
हा हा न पहिरि आभरन और अंग मैं ;
कबि 'मतिराम' जैसे तीछन कटाछ तेरे,
ऐसे कहाँ सर हैं अनंग के निखंग मैं।
सहज सुरूप सुघराई[1] रीझो मन मेरो,
डोलत है तेरी अद्भुत[2] की तरंग मैं ;
सेत सारी ही सौं सब सौतें रँगी स्याम रँग,
सेत सारी ही सौं रँगे स्याम लाल रंग मैं ।। ३५७ ।।

नथुनी गज मुकतान की लसत चारु सिंगार।
जिन पहिरे सुकुमारि तनु और आभरन भार ।। ३५८ ।।

विभ्रमहाव-लक्षण

उलटे भूषन बसन कौ होतु जु है पहिराव।
तासौं विभ्रमहाव कहि बरनत सब कबिराव ।। ३५९ ।।

उदाहरण

साँझहि तैं[3] चलि आवत जात,जहाँ-तहाँ लोगनि हूँ न डरौंगी;
प्रीतम सौं रति ही यह रूप धौं[4], ह्वैहै कहाँ जब अंक भरौंगी ?

---

१ सुथराई, २ अचरज, ३ साँझ समै, ४ सु।

छं० नं० ३५७ वारने सकल एक रोरी ही की आड़ पर=सब कुछ एक रोली के आड़े तिलक पर न्योछावर किया जा सकता है। निखंग—निषंग=तरकस।

जानति हौं 'मतिराम' तऊ, चतुराई की बात नहीं उचरौंगी[1] ?
किंकिनि को उरु हारु किए, कहि कौन सौं जाय बिहार करौंगी?
३६० ॥

अली चली कहि कौन पै ? बड़े कौन के भाग ।
उलटी कंचुकि कुचन पै कहै देत अनुराग ॥ ३६१ ॥

किलकिंचितहाव-लक्षण

हरष, गरब, अभिलाष, स्रम, हास, रोष अरु भीति ।
होत एक ही संग हैं, किलकिंचित यह रीति ॥ ३६२ ॥

उदाहरण

लालन बाल के द्वै ही दिना तैं परी मन आनि सनेह की फाँसी ;
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' लगैं मनौ बाँटन मोद की आँसी ।
पीतम के उर बीच चुभ्यो दुलही के बिलास मनोज की गाँसी ;
स्वेद बढ़्यौ तन कंप उरोजनि, आँखिन आँसू कपोलनि हाँसी ॥
३६३ ॥

सकुचि न रहिए साँवरे ! सुनि गरबीले बोल ।
चढ़त भौंह, बिकसत नयन, बिहँसत गोल कपोल ॥ ३६४ ॥

मोट्टाइतहाव-लक्षण

बातन को बिघटन भए, पुनि मिलाप की चाह ।
सो मोट्टाइत जानियो, बरनत सब कबिनाह ॥ ३६५ ॥

---

१ न हीय धरौंगी ।

छं० नं० ३६० चउरौंगी=उच्चारण करेगी ।

छं० नं० ३६३ सनेह की फाँसी=प्रेम का बधन । लगैं मनौ बाँटन मोद की आँसी=मानो आनंद का बायन (मिठाई जो विशेष आनंदोत्सवों पर बाँटो जाती है) बँटने लगा । आँसी=बैना । मनोज की गाँसी=काम का तीखा बाण ।

उदाहरण

फूलि रहे द्रुम बेलनि सौं मिलि पूरि रहीं अँखियाँ रतनारी ;
मोहि अकेली बिलोकि यहाँ कछू और ही-सी भई दीठि तिहारी ।
जैसी हुती हमसौं तुमसौं अब होयगी ऐसिये प्रीति निहारी ;
चाहत जो चित मैं हित तौ जिन बोलिए कुंजन बीच बिहारी ।।
३६६ ।।

झूठे ही ब्रज में लग्यौ मोहि कलंक गुपाल !
सपने हू कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल ! ।। ३६७ ।।

कुट्टमितहाव-लक्षण

ईहा[1] दुख अरु सुक्ख को प्रगट करे जहँ बाम ।
परम ललित यह हाव है, होत कुट्टमित नाम ।। ३६८ ।।

उदाहरण

सोने की-सी बेली अति सुंदर नबेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ ;
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरखा-सी भई,
गई जब दीठि वाके मुखचंद पहियाँ ।
नेकु नीरे जाय करि बातनि लगाय करि,
कछु मन पाय हरि वाकी गही बहियाँ ;
चैनन चरचि लई सैनन[2] थकित भई,
नैनन में चाह करै बैनन मैं नहियाँ ।। ३६९ ।।

---

१ जहाँ, २ गौनन ।

छं० नं० ३६६ रतनारी=लाल । छं० नं० ३६९ महियाँ=में । पहियाँ=पर । बहियाँ=बाँह । नहियाँ=नहीं । चैनन चरचि लई= उसके सुख को देखकर भाँप लिया ।

प्रीतम को मनभावती मिलति बाँह दै कंठ।
बाहीं छुटै न कंठ तें, नाहीं छुटै न कंठ॥ ३७०॥

बिब्बोकहाव-लक्षण

जो पिय को, अभिमान तैं, करै अनादर बाम।
ताहि कहत बिब्बोक हैं, जे प्रबीन गुन धाम॥ ३७१॥

उदाहरण

मानहु आयो है राज कछू चढ़ि बैठे हो ऐसै पलास के खोढ़े ;
गूँज गरे सिर-मोर पखा 'मतिराम' हों गाय[1] चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोरचौ हरा, गहि हाथन सों रहे चूनरी पोढ़े ;
ऐसें ही डोलत छैल[2] भए तुम्हें लाज न आवत कामरी ओढ़॥
३७२॥

प्रान पियारो पग परचौ, तू न तकत यहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ न्यायहि[3] उरज कठोर॥ ३७३॥

ललितहाव-लक्षण

बनै बानिकन सौं सरस, सकल आभरन अंग।
ललितहाव तासौं कहैं, जे कबि बुद्धि उतंग॥ ३७४॥

उदाहरण

मंद गयंद की चाल चलै कटि[4] किंकिनि नेवर की धुनि बाजै ;
मोती के हारनि सौं हियरो हरिजू के बिलास हुलासनि साजै।

---

१ धनु, २ साह, ३ उचितहि, ४ कल।

छं० नं० ३७० बाँही छुटै··कंठ=गले में जो बाँह पड़ी है न तो वह छूटती है और न मुँह से 'नहीं' की रट ही छूटती है। छं० नं० ३७२ खोढ़े=छेद जो लकड़ी के सड़ जाने से हो जाता है। चोढ़े=उत्साह के साथ। पोढ़े=मज़बूती के साथ। छं० नं० ३७३ उर=हृदय। उरज=कुच। न्यायहि=वाजिब तौर से।

सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख संग किनारी की यौं छबि छाजै ;
पूरन चंद पियूष मयूष मनो परबेष की रेख बिराजै ॥
३७५ ॥

बिरी अधर, अंजन नयन, मिहँदी पग अरु पानि ।
तनु कंचन के आभरन, नीठि परत पहिचानि ॥ ३७६ ॥

बिहितहाव-लक्षण

जो परिपूरन होत नहिं पिय समीप अभिलाख ।
ताकौं बिहित बतावहीं, जिनकी कबिता दाख[1] ॥ ३७७ ॥

उदाहरण

सकल सहेलिन के पीछ-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौनु आजु हिय को हरत है ;
सनमुख होत 'मतिराम' सुख होत जबै,
पौन लागे घूँघट को पट उघरत है ।
कालिंदी[2] के तट बंसीबट के निकट,
नंदलाल कौं[3] सकोचन तें चाह्यौ न परत है ;
तनु तो तिया को बर भाँवरें भरत मनु,
सामरे बदन पर भाँवरै भरत है ॥ ३७८ ॥

रूप साँवरो साँचु है सुधा-सिंधु मैं[4] खेल ।
लखि न सकें अँखियाँ सखी परी लाज[5] की जेल ॥ ३७९ ॥

---

१ साख, २ जमुना, ३ पैं, ४ को, ५ लाल ।

छं० नं० ३७५ सुही=सूही हलके कासनी रंग की । पूरन चंद पियूष मयूष···रेख बिराजै=अमृत किरणों वाले पूर्ण चंद्र के आस-पास मानो मंडल की रेखा हो । परबेष=मंडल । छं० नं० ३७६ नीठि=कठिनता से । छं० नं० ३७८ तन तो तिया···भरत है=नायिका का शरीर तो बरगद के आस-पास फेरे कर रहा है, पर मन तो श्यामवर्ण कृष्ण के ऊपर मँडला रहा है । छं० नं० ३७९ लाज की जेल=लाज का बंधन ।

वियोग-शृंगार

प्यारी पीव[1] मिलाप बिनु होत नहीं[2] आनंद ।
सो वियोग-सिंगार कहि बरनत सब कबि-बृंद ।। ३८० ।।

वियोग-शृंगार-भेद

कहि पूरब अनुराग अरु[3] मान, प्रवास बिचारि ।
रस सिंगार बियोग के तीन भेद निरधारि ।। ३८१ ।।

पूर्वानुराग-लक्षण

जो प्रथमहिं देखे, सुने बढ़ै प्रेम की लाग ।
बिन मिलाप जो बिकलता सो पूरब अनुराग ।। ३८२ ।।

उदाहरण

न्योते गए कहुँ नेह बढ़्यौ 'मतिराम' दुहूँ के लगे दृग गाढ़े;
ऊँचे अटा पर काँधे सहेली के ठोढ़ी दिए चितवैं दुख बाढ़े ।
लाल चले सुनि कैं गृह कौं, तिय-अंग अनंग की आगि सौं डाढ़े;
मोहनजू मन गाढ़ो करैं, पग द्वैक चलैं फिर होत हैं ठाढ़े ।।
३८३ ।।

निरखो ! नेह दुहून की[4] दई नई यह बात ।
सूखति देंह दुहूँन की त्यौं पानिप सरसात ।। ३८४ ।।

मान-वर्णन

मान कहत हैं तीनि विधि, लघु, मध्यम, गुरु नाम ।
तिनके भेद बनाय कैं बरने कबि 'मतिराम' ।। ३८५ ।।

---

१ पिया, २ न हिय, ३ कहि, ४ नवीन मैं ।

छं० नं० ३८३ अनंग की आगि सौं डाढ़े=कामाग्नि से संतप्त । छं० नं० ३८४ सूखति देंह··पानिप सरसात=ज्यों-ज्यों दोनों का शरीर सूखता जाता है त्यों-त्यों उसकी आब बढ़ती जाती है ।

लघुमान-लक्षण

और बाल कौं लखत जहँ, लखै कंत कौं बाल ।
बरनत हैं लघुमान सो छूटत तनकहि[1] ख्याल ।। ३८६ ।।

उदाहरण

देखत और तियाहि छबीले कौं[2] मान छबीली के नैनन छायो ;
प्रीतम यों चतुराई करी 'मतिराम' कछू परिहास बढ़ायौ ।
रीति रची बिपरीति जु प्रीति सौं[3] ताको कबित्त बनाय सुनायौ;
भूलि गई रिस लाजन तैं मुसकाय पिया[4] मुख नीचे कौं नायौ ।
३८७ ।।

मानु जनावति सबनि कौं मन न मान को ठाट ।
बाल मनावन कौं लखै लाल तिहारी बाट ।। ३८८ ।।

मध्यममान-लक्षण

पिय मुख औरहि[5] नारि को सुनै नाँव जब[6] नारि ।
होत मान मध्यम तहाँ, बरनत सुकबि बिचारि ।। ३८९ ।।

उदाहरण

दोऊ अनंद सौं[7] आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई ;
प्यारी कौं बूझत और तिया को अचानक नाँउ लियो रसिकाई ।
आयौ उनै मुँहु मैं हँसी, कोपि[8] प्रिया[9] सुर-चाप[10]-सी भौंह चढ़ाई;
आँखिन तैं गिरे आँसू के बूँद, सुहासु गयो उड़ि हंस की नाँई ।।
३९० ।।

---

१ नेकहि, २ देखत औरै तिया पिय को लखि, ३ प्रीतम, ४ तिया, ५ औरै, ६ जहँ, ७ आनँद सों दोउ, ८ कोह, ९ तिया, १० सर-चाप ।

छं० नं० ३८७ रीति रची विपरीति जु प्रीति···सुनायौ=जो विपरीत काम-कलोल हुई थी, उसका छंदोबद्ध वर्णन पढ़ सुनाना । मुख नीचे कौं नायौ=मुख नीचे कर लिया । छं० नं० ३९० प्यारी··रसिकाई= प्यारी से बातचीत करते-करते रसिकता की झोंक में नायक अचानक अपनी दूसरी प्रेयसी का नाम ले बैठा । सुर-चाप=इंद्र-धनुष ।

भई देवता भाव बस[1] वह, तुमकौं बलि जाउँ।
वाही को मन ध्यान है, वाही को मन नाउँ ।। ३९१ ।।

गुरुमान-लक्षण

बोलत और तियान सौं पिय कौं देखैं बाम।
होत तहाँ गुरुमान, सो बरनत कबि 'मतिराम' ।। ३९२ ।।

उदाहरण

तेरे प्रानप्यारे कहूँ सहज सुभाय प्यारी!
कहा भौ कही जो कछू बात[2] काहू बाल सौं ;
ताको एती[3] रिस है[4] अयानिन की रीति तू तौ,
दीप की-सी जोति जगे जोबन रसाल सौं।
कबि 'मतिराम' मेरो कह्यौ उर आनि आली !
ठान जिन मान ऐसे मदनगुपाल सौं ;
भौंहैं करि सूधी बिहसोहैं कै कपोल नैंक[5],
सौंहैं करि लोचन रसौहैं[6] नंदलाल सौं ।। ३९३ ।।

बहु नायक सौं बात मैं मानु भलो न सयानु।
दुख-सागर मैं बूड़िहै, बाँधि गरे गुरु मानु ।। ३९४ ।।

प्रवास-लक्षण

पीतम बसे बिदेस मैं, बिरह जहाँ सरसाय।
बरनत तहाँ प्रवास कहि, जे प्रबीन कबिराय ।। ३९५ ।।

---

१ सब, २ भयो बात जो कही सु, ३ ऐसी, ४ कै, ५ गोल, ६ रिसौहैं।

छं० नं० ३९३ अयानिन=अज्ञानी लोग। सौंहैं करि लोचन रसौंहैं नंदलाल सौं=अरी सखी, तू रसिक नंदलाल के सामने अपनी आँखें कर अर्थात् मान छोड़कर उनको स्नेह-पूर्वक देख। छं० नं० ३९४ दुख-सागर ···गुरु मानु=इस गुरुमान को गले में बाँधने से तू दुखसागर में डूब जायगी, उससे पार न पा सकेगी।

उदाहरण

धुरवानि की धावनि मानो अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी;
नभमंडल ह्वै छितिमंडल छ्वै, छनदा की छटा छहरान लगी।
'मतिराम' समीर लगै लतिका, बिरही बनिता थहरान लगी;
परदेस मैं पीव, सँदेस न पायौ, पयोद-घटा घहरान लगी ॥
३९६ ॥

चलत लाल के मैं कियौ सजनी ! हियो पखान।
कहा करौं[1], दरकत नहीं, इतैं वियोग कृसान ॥ ३९७ ॥

नवदशा-वर्णन

होत बियोग सिंगार मैं, प्रगट दशा नव जानि।
प्रथम कहै अभिलाष पुनि, चिंता, समृति बखानि ॥
३९८ ॥

गुन बर्नन, उद्बेग पुनि, कहि प्रलाप, उन्माद।
ब्याधि, बहुरि जड़ता कहत, कबि-कोबिद अबिबाद ॥
३९९ ॥

अभिलाष-लक्षण

ताहि कहत अभिलाष हैं, जो[2] मिलाप की चाह।
प्रेम कथन तैं जानिए, बरनत सब कबिनाह ॥ ४०० ॥

---

१ कहौं, २ जहाँ।

छं० नं० ३९६ धुरवानि=लटकती हुई मेघ-मालाएँ। अनंग की तुंग धुजा=कामदेव की ऊँची पताका। छिति मंडल छ्वै=पृथ्वी को छूकर। छनदा की छटा छहरान लगी=बिजली की शोभा दिखलाई पड़ने लगी। बिरही बनिता थहरान लगी=विरहिणियाँ काँपने लगीं। पयोद-घटा घहरान लगी=बादल की घटाएँ गर्जन-तर्जन करने लगीं।

उदाहरण

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट, मनोहर मूरति सौं मनु लैगो;
कुंडल डोलनि, गोल कपोलनि, बोल सनेह के बीज-से बैगो।
लाल बिलोचनि-कौलन[1] सौं, मुसकाइ इतैं अरुझाइ चितैगो;
एक घरी घन-से तन सौं, अँखियाँन घनों घनसार सौ दैगो ॥
४०१ ॥

मो मन सुक लौं उड़ि गयौ, अब क्यौं हूँ न पत्याय।
बसि मोहन बनमाल मैं, रहो बनाउ बनाय ॥
४०२ ॥

चिंता-लक्षण

दरसन सुख की भावना करे चित्त की चाह।
चिंता तासौं कहत हैं जे प्रबीन रस[2]-नाह ॥ ४०३ ॥

उदाहरण

जैयै अकेली महाबन बीच तहाँ 'मतिराम' अकेलोई आवै;
आपने आनन चंद की चाँदनी सो पहिलैं तन-ताप बुझावै।
कूल कलिंदी के कुंजन मंजुल मीठे अमोल वै[3] बोल सुनावै;
ज्यौं हँसि हेरि लियो हियरो हरि, त्यौं हँसिकै हियरे हरि लावै ॥
४०४ ॥

---

१ कोरनि, २ कबि, ३ सु।

छं० नं० ४०१ लाल बिलोचनि-कौलनि सौं मुसकाइ इतैं अरुझाइ चितैगो=लाल यहाँ पर मुसकिराकर अपने नेत्रकमलों से चित्त को उलझा गया। एक घरी घन-से तन सौ, अँखियान घनों घनसार सौ दैगो=एक घड़ी-भर में अपने घनश्याम शरीर को दिखलाकर उसने यह स्थिति पैदा कर दी कि मानो नायिका की आँखों में खूब कर्पूर लगाया गया हो।

काजु कहा कुलकानि सौं, लोक-लाज किन जाय ?
कुंज बिहारी कुंज मैं कहूँ मिलै[1] मुसकाय ॥ ४०५ ॥

स्मृति-लक्षण

लखी-सुनी पिय बात को, जो सुमरन मन होय ।
स्मृति तासौं कबि कहत हैं, सब रसग्रंथ बिलोय ॥४०६॥

उदाहरण

आलस बलित कोरे काजर कलित,
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं;
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब,
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं ।
बरुनी सघन बंक तीच्छन तरल बड़े,
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं;
गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत मैन-
बान-से बिसारे, न बिसारे बिसरत हैं ॥४०७॥

सोभा सो रति सुंदरी, नव सनेह सौं बाम ।
तन बूड़त रँग पीत मैं, मन बूड़त रँग स्याम ॥४०८॥

गुण-वर्णन-लक्षण

बिरह बीच जो पीय की, सुंदरितादि सराह ।
गुन बर्नन तासौं कहैं, जे प्रबीन कबिनाह ॥४०९॥

---

१ मिलैं मोहिं ।

छं० नं० ४०७ आलस बलित=आलसयुक्त । बहु पानिप धरत=बहुत आबदार हैं । सारस=कमल । मृगनि निदरत हैं=मृग के नेत्रों का निरादर करते हैं । तरल=चंचल । गाढ़े ह्वै गड़े हैं=खूब गहरे गड़े हैं । मैन बान-से बिसारे, न बिसारे बिसरत हैं=नेत्र कामदेव के बाण के समान हैं, विषसंयुक्त हैं और भुलाने से भी नहीं भूलते हैं ।

उदाहरण

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सुहाई;
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई?
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान-लुनाई।। ४१०।।

सरद चंद की चाँदनी, जारि डारि किन मोहि?
वा मुख की मुसकानि सम[1], क्यौं हूँ कहौं न[2] तोहि? ४११।।

उद्वेग-लक्षण

बिरह बिथा की बिकलता, जहाँ कछू न सुहाय।
ताहि कहत उद्वेग हैं, जे प्रबीन कबिराय।।४१२।।

उदाहरण

चाहि तुम्हें 'मतिराम' रसाल, परी तिय के तन मैं पियराई;
काम के तीच्छन तीरन सों, भरि भीर तुनीर भयो हियराई।
तेरे बिलोकिबे कौं उतकंठित, कंठ लौं आय रह्यौ जियराई;
नेंक परे न मनोज के ओजनि, सेज सरोजनि मैं सियराई।। ४१३।।

---

१ सरि, २ कबहुँ कहौं नहिं।

छं० नं० ४१० वा मुख की मधुराई···लुनाई=जिन कृष्णजी की आँखों का नमकीनपन मीठा लगता है उनके मुख की मधुरता की क्या बात कही जाय। छं० नं० ४११ सरद चंद की···तोहि?=विरहिणी कहती है कि अरी शरद्-ऋतु की चाँदनी, तू मुझे जला ही क्यों न डाले, पर मैं कृष्णचंद्र के मुख की मुसकराहट के बराबर तुझे कभी न कहूँगी। छं० नं० ४१३ भरि भीर तुनीर भयो हियराई=हृदय में इतने तीर लगे कि वह तरकस समझ पड़ने लगा। कंठ लौं आय रह्यो जियराई=प्राण कंठगत हुए। नेंक परै···सियराई=काम-संताप के कारण कमलशय्या में भी ठंठक नहीं पडने पाती है।

जे अंगन पिय संग मैं बरसत हुते पियूष।
ते बीछू के डंक-से, भए मयंक मयूष ॥४१४॥

प्रलाप-लक्षण

उतकंठा ते कहत हैं जहाँ मोहमय बैन।
बरनत तहाँ प्रलाप हैं, जे प्रबीन रस-ऐन ॥४१५॥

उदाहरण

कहियो सँदेसो प्रानप्यारी को गमन कीनौ[1],
बिक्रम बिलास जे वे आपने परस के ;
चंद कर-बरछीन छेदि-छेदि हारयौ तीर,
तीछन मनोज के कछुक करि न सके।
कबि 'मतिराम' ये कुलिस-कैसे घाव क्यौं हू,
गनत न कोकिल की कूकन के कसके ;
कैसे दरकतु मेरो उर सदा सहि रह्यौ,
तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके ॥४१६॥
बिकल लाल कौं बाल तू, क्यौं न बिलोकति आनि ?
बोलि कोकिलनि सौं कहै, बोल तिहारे जानि ॥४१७॥

उन्माद-लक्षण

उतकंठा तें मोहमय, बृथा करत कछु काज।
ताहि कहत उन्माद हैं, कबि-कोबिद-सिरताज ॥४१८॥

---

१ पयान कीने।

छं० नं० ४१४ मयूष=किरण। छं० नं० ४१६ चंद कर-बरछीन ···करि न सके=चंद्र अपनी किरण रूपी बरछियों से छिद्र कर-करके हार गया तथा कामदेव के तीक्ष्ण शर भी मेरा कुछ न कर सके। कुलिस=वज्र। कैसे दरकतु···मसके=मेरा हृदय सदा से तुम्हारे कठोर कुचों के घिस्से सह रहा है इसलिये वह कैसे विदीर्ण हो सकता है।

उदाहरण

जा छिन तें 'मतिराम' कहै मुसकात
कहूँ निरख्यौ नँदलालहि ;
ता छिन तें छिन हीं-छिन छीन बिथा
बहु बाढ़ी बियोग की बालहि ।
पोंछति है कर सौं किसलै गहि बूझति
स्याम सरीर गुपालहि ;
भोरी भई है मयंकमुखी भुज भेटति
है भरि अंक तमालहि ॥४१९॥
रोय उठै, छिन हँसि उठै, छिन उठि चलै रिसाय ।
बौरी करी[1] बनाय कै, रूप ठगौरी लाय ॥४२०॥

व्याधि-लक्षण

काम पीर तें पियरई, ताप दूबरी होय ।
तासौं ब्याधि बखानहीं कबि-कोबिद सब कोय ॥४२१॥

उदाहरण

बरषा-सी लागी निसि बासर बिलोचननि ,
बाढ़ो परबाह भयो नावनि उतरिबौ ;
सहौ[2] जान कौन पै सुकबि 'मतिराम' अति ,
बिरह अनल ज्वाल जालन ते[3] जरिबौ ।
जैयतु समीप तो उड़ैयत उसासनि सौं ,
हमकौं तौ होतु उत हेरत हहरिबौ ;

---

१ भोरी बाल, २ रह्यो, ३ सों, ।

छं० नं० ४२० बौरी करी बनाय कै, रूप ठगौरी लाय=सुंदरता-रूपी मोहनी का प्रयोग करके नायिका को बिलकुल बावली बना डाला ।

कियौ कहा चाहत सु करो[1] न कुँवर कान्ह,
रह्यौ अब वाको उपचारनि को करिबौ ॥४२२॥
देखि परै नहिं दूबरी, सुनियो स्याम सुजान।
जान परै परजंक मैं, अंग आँच अनुमान ॥४२३॥

जड़ता-लक्षण

उतकंठादिक तैं जु ह्वै, अचल चित्त अरु अंग।
तासौं जड़ता कहत हैं, कबि, कोबिद रस रंग ॥४२४॥

उदाहरण

सूँघै न सुबास, रहै राग-रंग तैं उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की;
कबि 'मतिराम' इकटक अनमिष नैन,
बूझै न कहति बात समुझै न आन की।
थोड़ी-सी हँसनि मैं ठगौरी तैंने डारी स्याम[2],
बौरी कीनी गोरी[3] तैं किसोरी बृषभान की;
तब तैं बिहारी! वह भई है पखान की-सी,
जब तैं निहारी रुचि मोर के पखान की ॥४२५॥

---

१ कहो, २ तुम, ३ भोरी, ।

छं० नं० ४२२ हमकौं तो होतु उत हेरात हहरिबो=हमको तो उस ओर देखने से भी बड़ा डर लगता है। रह्यो अब वाको उपचारनि को करिबौ=अब तो उसकी दवा करना ही ठीक है। उपचार=दवा। छं० नं० ४२३ जान परै परजंक मैं, अंग आँच अनुमान=नायिका इतनी दुबली है कि चारपाई में दिखलाई नहीं पड़ती है। हाँ उसके संतप्त शरीर की गरमी का अनुभव करके उसकी स्थिति का पता लगया जाता है। छं० नं० ४२५ तब तैं बिहारी···पखान की=हे कृष्णचंद्र जब से उसने तुम्हारे मयूर-पक्षों (किरीट आदि) की शोभा देखी है, तब से वह पाषाणवत् हो गई है।

अनमिष लोचन बाल के, यातैं नंदकुमार !
मीच गई जरि बीच[1] ही, बिरहानल की झार ॥४२६॥

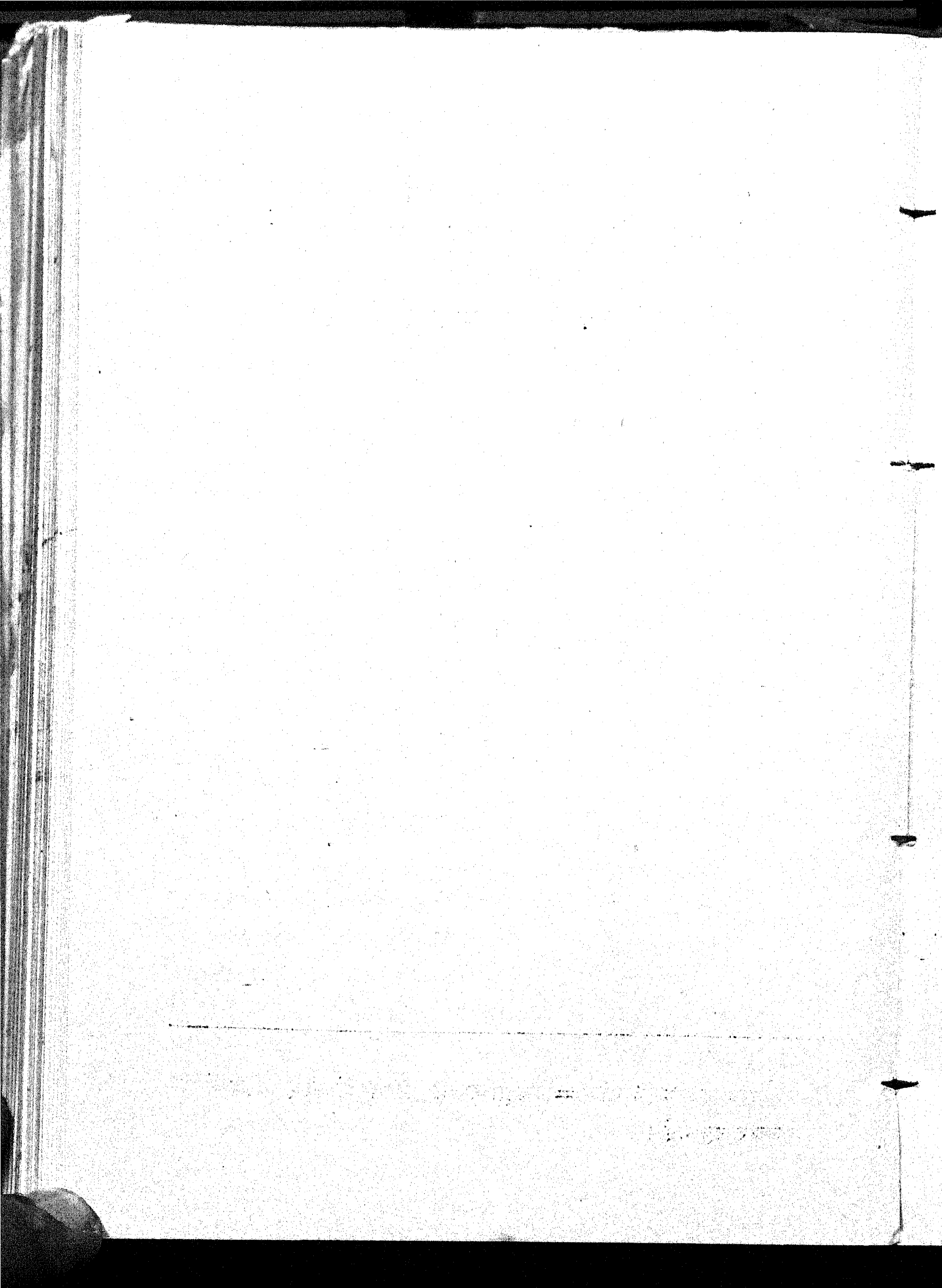
कवि-निवेदन

समुझि-समुझि सब रीझिहैं, सज्जन सुकबि समाज ।
रसिकन के रस को कियौ, नयो ग्रंथ 'रसराज' ॥४२७॥

---

१ बीज ।

छं० नं० ४२६ मीच=विरहाग्नि की तीव्रता में मत्यु बीच में ही जलकर रह गई ।



ललितललाम

मंगलाचरण

सुखद साधुगन[1] कौं सदा गज-मुख दानि उदार।
सेवनीय[2] सब जगत को जग-मा-बाप-कुमार[3] ।।१।।
कबि 'मतिराम' गनेस कौं सुमिरत सुख सरसात[4]।
स्रौन-पौन लागें बिघन[5], तूल-तूल उड़ि जात ।।२।।
मदरस मत्त मिलिंदगन, गान मुदित गननाथ।
सुमिरत कबि 'मतिराम' कौं, ऋद्धि-सिद्धि-निधि हाथ ।।३।।
पारबती के पयोधर के पय ज्योति जगै अति उज्जल जो है;
ईस के सीस ससी सरसिंधु अमीजुत पावन पाप बिमोहै।

---

१ जन, २ बर्ननीय, ३ माया सुकुमार, ४ दरसात, ५ दुरि।

छं० नं० १ सेवनीय सब जगत को, जग-मा-बाप-कुमार=संसार-पूज्य पार्वती-शिव के पुत्र गणेशजी की सेवा सारे संसार को करनी चाहिए। गज-मुख=गणेशजी, दानि=दानी; जिसमें मद की धारा बहती हो। छं० नं० २ स्रौन-पौन=श्रवण-पवन; हाथी के बृहदाकार कानों के फटकारने से जो हवा पैदा होती है। बिघन=विघ्न। तूल तूल=रुई के समान। छं० नं० ३ का भाव यह है कि जब कवि मतिराम उन गणेशजी का स्मरण करता है जो मदरस पीकर उन्मत्त होनेवाले भौंरों की गुंजार से प्रसन्न हो रहे हैं तो उसकी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। छं० नं० ४ का भाव यह है कि साधुओं को भली भाँति बस में करनेवाले (सु बसी करतार) अथवा साधुओं को सारी संपति दिलानेवाले (सब सी करतार) गजमुख गणेशजी (करी-मुख) की सूड़ (कर) में जल-कण (सीकर) शोभा पा रहे हैं। वे जल-कण ऐसे जान

सिद्धिबधू-कुच मंडन को मतिराम' मनौं मुकता ,मन मोहै;
साधुन को सु बसी[1] करतार करी-मुखकेकर सीकर सोहै ॥४॥
मुकुट मोर-पर पुंज मंजु सुरधनुष बिराजत;
पीत बसन छन-छन नवीन छन-छन छबि छाजत ।
बचन मधुर गंभीर घोष, बरषत प्रमोदबर[2];
बृंदाबन बर बाल-बेलिबृंदन बिलास कर ।
'मतिराम' सकल संतापहर भावसिंह भूपाल-मन;
गोबिंद नंदनंदन सुखद घन सुंदर आनंदघन ॥ ५ ॥

बूँदी-वर्णन

जगत-बिदित बूँदीनगर, सुख[3] संपति को धाम ।
कलिजुग हू मैं सत्यजुग, तहाँ करत बिस्राम ॥ ६ ॥
पढ़त सुनत मन दै निगम, आगम, समृति, पुरान ।
गीत-कबित्त कलानि को, तहँ सब लोग सुजान ॥ ७ ॥
सरद-बारिधर से लसत, अमल धौलहर धौल ।
चित्रनि-चित्रित सिखर जहँ, इंद्रधनुष-से नौल ॥ ८ ॥

---

१ सबसी, २ भर, ३ सब ।

पड़ते हैं मानों सिद्धि-बधू के उरोजों का शृंगार करनेवाले मोती हों अथवा अमृतसंयुक्त महादेवजी के शीश पर विराजमान चंद्रकला हो अथवा वहीं स्थित पापनाशिनी पवित्र गंगाजी हों अथवा पार्वतीजी के स्तन से जो दुग्ध-धारा प्रवाहित होती है उसकी समुज्ज्वल ज्योति जगमगा रही हो । छं० नं० ५ सुरधनुष=इंद्रधनुष । पीत बसन··· छाजत=पीतांबर के भीतर से शरीर की शोभा प्रतिक्षण बिजली के समान छन-छनकर नवीनता लिए निकलती थी । घोष=शब्द । घन सुंदर=मेघ के समान सुंदर । आनंद-घन=कृष्ण । छं० नं० ७ समृति= स्मृति, धर्मग्रंथ । छं० नं० ८ सरद-बारिधर=शरत्काल के मेघ । धौल— धवल=श्वेत । नौल—नवल=सुंदर ।

महलनि ऊपर जहँ बने कंचन-कलस अनूप।
निज प्रभानि सौं करत हैं गगन पीत अपनुरू[1] ॥ ९ ॥
जहँ बिमान-बनितान के, स्रमजल हरत अनूप।
सौध-पताकनि के बसन, होइ बिजन अनुरूप ॥१०॥
बीनाबेनु-निनाद मृग मोहि, अचल कर चंद।
सौध-सिखर ऊपर[2] जहाँ, दंपति करत अनंद ॥ ११ ॥
जहाँ छहौं ऋतु मैं मधुर सुनि मृदंग मृदु सोर।
संग ललित ललनानि के, नृत्य करत गृह मोर ॥ १२ ॥
मरकत, लाल, प्रबाल, मनि, मुकुत, हीर अवदात।
ललित राजपथ मैं जहाँ, जरकस बसन बिकात ॥ १३ ॥
मद जल बरषत भूमि के जलधर सम मातंग।
बिना परनि के खग जहाँ सुंदर[3] तरलि तरंग ॥ १४ ॥
सदा[4] प्रफुल्लित फलित जहँ द्रुम बेलिन के बाग।
अलि कोकिल कलधुनि सुनत[5], लहत स्रवन अनुराग ॥ १५ ॥
कमल, कुमुद,[6] कुबलयन के परिमल मधुर पराग।
सुरभि-सलिल पूरे जहाँ, बापी कूप तड़ाग ॥ १६ ॥
सुक, चकोर, चातक, चुहिल[7], कोक, मत्त कलहंस।
जहँ तरबर सरवरन के लसत ललित अवतंस ॥ १७ ॥
अक्षयबट बालक-उदर ज्यौं संसार समाय[8]।
सकल जगत-पानिप रह्यौ बूँदी मैं ठहराय[9] ॥ १८ ॥
तामैं प्रतिबिंबित मनौं, संपतिजुत सुरलोक।
घर-घर नर-नारी लसैं दिब्य रूप के ओक ॥ १९ ॥

---

१ पीत गंग तल रूप, २ ऐसे, ३ चंचल, ४ सरस, ५ करत, ६ कुंद, ७ चडुल, ८ अमाय, ९ त्यों बूँदी मैं आय।

छं० नं० १० सौंध…अनुरूप = महलों पर जो पताकाएँ फहरा रही हैं वे पंखे का काम करती हैं। छं० नं० १३ जरकस = बहुमूल्य। छं० नं० १९ ओक = समूह।

चंद्रमुखिन के भौंह जुग, कुटिल कठोर उरोज।
बानिन सौं मन कौं जहाँ मारत एक मनोज ॥ २० ॥
जहाँ चित्त-चोरी करै मधुर-बदन-मुसकानि।
रूप ठगत हैं दृगन कौं और न दूजो जानि ॥ २१ ॥
ता नगरी को प्रभु बड़ो हाड़ा सुरजनराव।
रच्यो एक सब गुनिन को बर बिरंचि समुदाव ॥ २२ ॥

नृपवंश-वर्णन

एक धर्म[1] गृह खंभ जंभरिपु-रूप अवनि पर;
एक बुद्धि गंभीर धीर बीराधिबीरबर।
एक ओज[2] अवतार सकल सरनागतरच्छक;
एक जासु करबाल निखिल[3] खलकुल[4] कहँ तच्छक।
'मतिराम' एक दातानिमनि जगजस अमल प्रगट्टियउ;
चहुवानबंस-अवतंस इमि एक राव सुरजन भयउ ॥ २३ ॥
दान समै गनै धन तृन सों कुबेर हू को,
तनक सुमेरु महादानि ऊँचे मन को;
पृथु सों प्रथित[5] पृथ्वी प्रबल प्रतापवंत,
प्रभु पुरहूत सों प्रगट पूरे पन को।
'मतिराम' कहै बैरी-बारन बिदारिबे कौं,
रूप धरें राजै मृगराज रनबन को;
दुरजनबधू-उरजन को सिंगारहर,
ऐसो जस गावैं सुरजन सुरजन को ॥ २४ ॥

---

१ धरमु, २ भोज, ३ सकल, ४ अरिकुल, ५ पृथीप।

छं० नं० २३ जंभरिपु=इंद्र। करबाल=तलवार। निखिल=सब। प्रगट्टियउ=प्रकट किया। अवतंस=सूर्य। छं० नं० २४ प्रथित=स्थित। पुरहूत=इंद्र। दुरजनबधू···सिंगारहर=खलों की स्त्रियों के योवन श्रृंगार को नष्ट करनेवाला है अर्थात् उनको सौभाग्यहीन बनानेवाला है।

भयो भोज सुरजन-तनै अतुल ओज[1] की खानि।
हिंदुन की राखी सरम निज मूँछन मैं आनि ॥ २५ ॥
जेते ऐंड़दार दरबार[2]-सिरदार सब,
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो ;
'मतिराम' कहै करवार के कसैया केते[3],
गाड़र-से मूड़े जग हाँसी कौ प्रसंग भौ।
सुरजन-सुत रज-लाज-रखवारो एक,
भोज ही तैं साहि को हुकुम-पग पंग भौ ;
मूँछनि सौं राव मुख लाल रंग देखि मुख,
औरनि को मूँछनि बिना ही स्याम रंग भौ ॥ २६ ॥
बंस-बारिनिधि-रतन भौ रतन भोज को नंद।
साहनि सौं रन-रंग मैं जीत्यौ बखतबिलंद ॥ २७ ॥
बिगर हथ्यारन हजूर आइबे को न,
हुकुम मान्यौं दिल्लीपति आलम पनाह को ;
'मतिराम' कहै दल दक्खिनी समेत,
साहिजहाँ सो हटायो बीर बारिधि उछाह को।
भोज को सपूत भयो फौज को सिंगार अति[4],
ओज को दिनेश दुरजन दिलदाह को ;
रावरतनेश कर ओट राख्यो कर वार[5],
करि वार ओट राख्यौ कोट पातसाह को ॥ २८ ॥

---

१ योग, २ जेते ये उदार दरबार, ३ गहि, ४ अरु, ५ बार।

छं० नं० २६ करवार के कसैया=तलवार बाँधनेवाले। गाड़र=भेड़। रज-लाज=रजपूती की हया, क्षत्रियोचित शौर्य। हुकुम-पंग पंग भौ=आज्ञा की अवज्ञा की गई, हुक्म नहीं माना गया। छं०नं० २७ बंस···नंद=वंश रूपी समुद्रमें भोजराजा का पुत्र रत्नसिंह एक रत्न के समान हुआ। बखतबिलंद=ऊँचा इक़बाल। छं०नं०२८ आलम पनाह=संसार का आश्रयदाता। करि वार=वार करके, हमला करके। करवार=तलवार।

भयो राव रतनेस को गोपीनाथ कुमार।
सुजस अपार बखानियै, दान-कृपान-उदार ॥ २९॥
संगर में सिंह-सम कीने करिबर सूर,
पुर के निवासी सूर सत्रुन के साथ के;
कहै 'मतिराम' गज-गाँव दै निवाजि कीनें,
सकल निहाल जे गवैया गुन-गाथ के।
राव रतनेस के कुमार के सुजस फैलि,
रहे पुहुमी मैं ज्यों प्रबाह गंग-पाथ के ;
रीझ-खीझ-मौज-फौज-दान औ कृपान ऊँचे,
जगत बखानैं दोऊ हाथ गोपीनाथ के॥ ३० ॥
गोपीनाथ-तनै भयो, पानिप-पारावार।
सत्रुसाल[1] छितिपालमनि[2] छत्र धर्म-अवतार ॥ ३१ ॥
पंडित-सुकबि-भाट-चारन को गुन
समुझैया सावधान सदा सुजस बिधान मैं ;
कबि[3] 'मतिराम' जाको तेजपुंज-दिनकर,
दुज्जन को दाहकर दस हूँ दिसान मैं।
गोपीनाथ-नंद चित चाही बकसीसनि सौं,
जाचक धनेस[4] कीनें सकल जहान मैं ;
ज्ञान मैं दिवान सत्रुसाल सुरुगुरु,
साहिबी मैं सुरपति, सुर-तरबर दान मैं ॥ ३२ ॥
औरंग दारा जुरे दोउ जुद्ध[5], भए भट क्रुद्ध[6] बिनोद बिलासी;
मारू बजै 'मतिराम' बखानैं भई, अति अस्त्रनि की बरखा-सी।

---

१ छत्र, २ छिति, ३ कहै, ४ जनेस, ५ जंग, ६ युद्ध।

छं० नं० २९ दान-कृपान-उदार=तलवार का दान देने में उदार अर्थात् जबर्दस्त योद्धा। छं० नं० ३२ दुज्जन=दुर्जन। ज्ञान मैं···दान मैं=दीवान क्षत्रसाल ज्ञान में बृहस्पति, ऐश्वर्य में इंद्र और दान देने में कल्प वृक्ष के समान थे।

नाथ-तनै तिहिं ठौर भिरचौ, जिय जानि कै छत्रिन कौं रन कासी;
सीस भयो हर हार सुमेरु, छता[1] भयो आपु सुमेरु को बासी।।३३।।

सत्रुसाल सुत सत्य मैं, भावसिंह भूपाल ।
एक जगत मैं जगत है, सब हिंदुन की ढाल ।।३४।।

तिमिर तुलति तुरकान प्रबल दिसि बिदिस प्रगट्टत ;
चलत पंथ पंथीन धरम स्त्रुति[2] करम निघट्टत ।
लखत न लोचन[3] लोक अवनिपति मोह नींद रस ;
धरनि बलय सब करत जानि[4] कलिकाल आप बस ।
'मतिराम' तेज अति जगमत
भावसिंह भूपाल महँ;
दिनकर दिवान दिन-दिन उदित—
करत सुदिन सब जगत[5] कहँ ।।३५।।

परम प्रबीन धीर धरमधुरीन दीन
बंधु सदा जाकी परमेसुर मैं मति है ;
दुज्जन बिहाल करि, जाचक निहाल करि,
जगत मैं कीरति जागई जोति अति है ।
राव सत्रुसाल को सपूत पूत भावसिंह,
'मतिराम' कहै जाहि साहिब्री फबति है ;
जानपति, दानपति, हाड़ा हिंदुवानपति,
दिल्लीपति-दलपति बलाबंधपति है ।।३६।।

---

१ सता, २ सत, ३ लोचननि, ४ रजनि, ५ संसार ।

छं० नं० ३३ नाथ-तनै=गोपीनाथ के पुत्र छत्रसाल । सीस··· बासी=छत्रसालजी का मुंड महादेवजी की धारण की हुई मुंडमाला में सुमेरु गिना गया और स्वयं छत्रसालजी को स्वर्ग प्राप्त हुआ । छं० नं० ३५ निघट्टत=मिटाता है । छं० नं० ३६ जानपति=ज्ञानपति अथवा सुजानपति । बलाबंधपति=अड़ाबेला-नामक पर्वत-माला का स्वामी ।

मौजन सों 'मतिराम' कहै कबि लोगन
कौं जिमि भोज बढ़ावै ;
रोस किए रनमंडल मैं खल-देह की
खालनि भूमि बढ़ावै ।
रीझ हू खीज मैं राव सता-सुत
कीरति मैं अति जोत चढ़ावै ;
भाऊ दिवान गुरू सब भूपर
भूपन दान कृपान पढ़ावै ॥३७॥

भावसिंह की रीझ कौं, कविता भूषन-धाम ।
ग्रंथ सुकबि 'मतिराम' यह कीनौं ललितललाम ॥३८॥

उपमा-लक्षण

जाको बर्नन कीजिए, सो उपमेय प्रमान ।
जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान ॥३९॥
जहाँ बरनिए दुहनि की सम छबि को उल्लास ।
पंडित कबि 'मतिराम' तहँ उपमा कहत प्रकास ॥४०॥

उदाहरण

एक रजपूत है दिवान भावसिंह जाको,
जंग जुरैं चौगुनो चढ़त चित चाव मैं ;
सत्रुसाल-नंद को सुजस 'मतिराम' यातैं,
फैलत महीपति-समाज समुदाव मैं ।
दिल्ली के दिनेस के प्रचंड तेज आँच लागे,
पानिप रह्यो न काहू भूपति तलाव मैं ;

छं० नं० ३७ दान कृपान पढ़ावै=युद्ध करना सिखलाता है ।
छं० नं० ४० उल्लास=व्यंग्य-मर्यादा के विना जो प्रकट हो ।

ऐसे सब खलक तैं सकल सकिलि रही,
राव मैं सरम जैसैं सलिल दरयाव मैं ॥४१॥

प्रानपियारो मिल्यो सपने मैं परी
जब नै सुक नींद निहोरें ;
कंत को आइबो त्यौं ही जगाय सखी
कहे बैन पियूषनिचोरें।
यों 'मतिराम' भयो हिय मैं सुख
बाल के बालम सौं दृग जोरें ;
ज्यौं पट मैं अति ही चटकीलो चढ़ि
रँग तीसरी बार के बोरें ॥४२॥*

पूर्णोपमा-लक्षण

बाचक अरु उपमेय जहँ, साधारन उपमान।
पूरन उपमा कहत हैं, तहँ 'मतिराम' सुजान ॥४३॥

उदाहरण

आलस बलित कोरैं काजल-कलित 'मति-
राम' वै ललित अति पानिप धरत हैं ;
सारस सरस सोहैं सलज सहास,
सगरब सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाछ बड़े,
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं;

छं० नं० ४१ समुदाव=समुदाय, समूह। दिल्ली···तलाव=दिल्लीश्वररूप प्रचंड सूर्य के ताप से संतप्त राजारूप सरोवरों में आब (पानिप) निःशेष है। खलक=संसार। दरयाव=समुद्र।

* देखो रसराज उदाहरण प्रौढ़ा आगतपतिका।

गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत,
मैन-बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ॥४४॥†
भौंह कमान, कटाच्छ सर, समर-भूमि बिचलैं न ।
लाज तजे हू दुहुनि के, सलज सूर-से नैन ॥४५॥

लुप्तोपमा-लक्षण

होत एक द्वै तीन कौं, इन चारिहु मैं लोप ।
तहाँ होत लुप्तोपमा, बरनत कबि मति-ओप ॥४६॥

उदाहरण

सत्ता को सपूत भावसिंह भूमिपाल जाकी,
कित्ति जौन्ह करत जगत चित चाव है ;
कबिन को 'मतिराम' कामतरु ऐसो कर,
अंगद को ऐसो रन मैं अडोल पाँव हैं ।
चंद कैसी जोत, चंडकर-जैसो तेज पुर-
हूत-कैसो पुहुमी मैं प्रगट प्रभाव है ;
अरजुन पन, मुनि मन, धनपति धन,
जगपति तन, मृगपति रन राव है ॥४७॥

मालोपमा-लक्षण

जहाँ एक उपमेय कौं होत बहुत उपमान ।
तहाँ कहत मालोपमा, कबि 'मतिराम' सुजान ॥४८॥

छं० नं० ४५ समर भूमि=रणभूमि, प्रेम (समर=स्मर) स्थल । सूर=वीर । छं० नं० ४७ सत्ता=छत्रसाल । कित्ति=कीर्ति, यश । चंडकर=सूर्य । पुहुमी=पृथ्वी । पन=प्रण । मृगपति=सिंह ।

† देखो रसराज उदाहरण स्मृति ।

उदाहरण

तेज-निधाननि मैं रबि ज्यौं, छबिवंतन मैं
बिधु ज्यौं छवि छाजै ;
सैलनि मैं ज्यौं सुमेर लसै, बर बृक्षनि
मैं कलपद्रुम साजै ।
देवनि मैं 'मतिराम' कहै मघवा जिमि[1]
सोहत सिद्ध समाजै ;
राव सता-सुत भाव दिवान जहान के
राजनि मैं इमि राजै ।।४९।।

रूपजाल नँदलाल के, परि करि बहुरि छुटैं न ।
खंजरीट-मृग-मीन-से, ब्रजबनितन के नैन ।।५०।।

रसनोपमा-लक्षण

जहाँ प्रथम उपमेय सो, होत जात उपमान ।
तहाँ कहत रसनोपमा, कबि 'मतिराम' सुजान ।।५१।।

उदाहरण

काहु को न बड़ो कुल, काहू को न बड़ो भाग,
देखे बर[3] भूमिपाल सकल जहान के ;
काहू को न बड़ो हियो, काहू को न बड़ो हाथ,
काहू के न बड़े हाथी सुकबि बखान के ।
कहै 'मतिराम' सब राजत अनूप गुन,
राव भावसिंह बलाबंध सुलतान[4] के ;
बंस सम बखत बखत, सम ऊँचो मन,
मन सम कर, कर सम करी दान के ।।५२।।

---

१ सम, २ सदा जै, ३ बड़े, ४ सुरतान ।

राव=राव भावसिंह । छं० नं० ४९ बिधु=चंद्रमा । मघवा=इंद्र ।
सता-सुत=छत्रसाल के पुत्र । छं० नं० ५० खंजरीट=खंजन ।

अनन्वय-लक्षण

जहाँ एक ही बात कौं, उपमेयो उपमान।
तहाँ अनन्वय कहत हैं, कवि 'मतिराम' सुजान ॥५३॥

उदाहरण

सुरजन कैसी सुरजन हीं में साहिबी है,
भोज कैसी भोज में अकड़[1] बड़ भाल मैं ;
रतनेस कैसी रतनेस मैं कहत 'मति-
राम' करतूति जीति जाके करबाल मैं।
गोपीनाथ कैसी गोपीनाथ मैं सपूती भई,
सत्रुसाल कैसी रजपूती सत्रुसाल मैं ;
भूमि सब[2] देखी और काहू मैं[3] न पेखी छबि,
भावसिंह कैसी भावसिंह भूमिपाल मैं ॥५४॥

उपमेयोपमान-लक्षण

जहाँ होत है परसपर, उपमेयो उपमान।
तहँ उपमेयोपमा कहि, बरनत सुकबि सुजान ॥५५॥

उदाहरण

बारन ते बकसै जिनकी समता न लहै बड़ि बिंध्य समूचो ;
कित्ति सुधा दिगभित्ति पखारत चंद-मरीचिन को करि कूचो।
राव सता-सुत कौं 'मतिराम' महीपति क्यौं करि और पहूँचो;
भूपर भाऊ भुवप्पति को मन सो कर औ कर सो मन ऊँचो ॥
५६॥

---

१ अगड़, २ बर, ३ ऐसी और मैं।

छं नं० ५६ बिंध्य समूचो=पूरा बिंध्याचल पर्वत। कित्ति सुधा··· कूचो=कीर्त्तिरूपी सुधा चंद्र-किरणों की कूची बनाकर उससे दिशारूपी

प्रतीप-लक्षण

जहँ प्रसिद्ध उपबर्न[1] कौ पलट कहत उपमेय ।
बरनत तहाँ प्रतीप हैं कवि जन जगत अजेय ।।५७।।

उदाहरण

जाकी[2] खीज[3] भूपति भिखारी से निहारे होत,
भूप से भिखारी जाकी रीझि पै सराह की;
नृपति को थप्पन उथप्पन समर्थ सत्रु,
साल-सुत करै करतूति चित चाह की।
कहै 'मतिराम' फली चहूँ चक्क आन,
चहुवान-कुल-भानु भावसिंह नरनाह की ;
राव सरिवर उमराव कैसे पावैं पात-
साह सरि पावै बलाबंध पातसाह की ।।५८।।

द्वितीय प्रतीप-लक्षण

जहाँ और उपमान[4] लहि, बर्न्य अनादर होय ।
तहाँ प्रतीपहि कहत हैं, कबि-कोबिद सब[5] कोय ।।५९।।

उदाहरण

सागर मैं गहराई, मेरु मैं उचाई रति-
नायक मैं रूप की निकाई निरधारिए ;
दान देवतरु मैं, सयान सुरगुरु मैं,
प्रसाद गंगनीर मैं, सु कैसे कै बिसारिए।

---

१ उपमान, २ के, ३ खीझे, ४ उपमेय, ५ जन ।

दीवालों को पोतती है अर्थात् कीर्ति-धवलता दिग्दिगंत व्याप रही है। सुधा=अमृत, चूना । भुवप्पति=भूपति, राजा । छं० नं० ५८ थप्पन-उथप्पन=बनाने और बिगाड़ने का काम । रति-नायक=काम ।

तरनि मैं तेज बरनत 'मतिराम' जोति,
　　जगमगै जामिनीरमन मैं बिचारिए ;
राव भावसिंह कहा तुम ही बड़े हौ जग,
　　रावरे के गुन और ठौर हू निहारिए ॥६०॥

तृतीय प्रतीप-लक्षण

जहाँ अनादर आन को, उपाबर्न्य[1] उपमेय ।
बरनत तहाँ प्रतीप हैं, कोऊ सुकबि अजेय ॥६१॥

उदाहरण

जलधर छोड़ि गुमान कौं, हौं ही जीवन-दानि ।
तोसो ही[2] पानिप भर्यौ, भावसिंह को पानि ॥६२॥

चतुर्थ प्रतीप-लक्षण

जहाँ बर्न्य सों और को उपमा बचन न होय ।
ताहू[3] कहत प्रतीप हैं, कबि-कोबिद सब कोय ॥६३॥

उदाहरण

बिक्रम मैं बिक्रम, धरम-सुत धरम मैं,
　　धुंधमार धीर मैं, धनेस वारौं धन मैं ;
'मतिराम' कहत प्रियब्रत प्रताप मैं,
　　प्रबल बल पृथु, पारथहि वारौं पन मैं ;
सत्रुसालनंद रैंयाराव भावसिंह आजु,
　　मही के महीप सब वारौं तेरे तन मैं ;
नल वारौं नैननि मैं, बलि वारों बैननि मैं,
　　भीम वारौं भुजनि मैं, करन करन मैं ॥६४॥

---

१ पापबर्न्य, २ है, ३ को ।

छं० नं० ६० रतिनायक=काम । तरनि=सूर्य । जामिनीरमन=चंद्रमा । छं० नं० ६२ जलधर=मेघ । जीवन-दानि=जल देने वाला । छं० नं० ६४ धरम-सुत=युधिष्ठिर । पारथ=अर्जुन । करन=कर्ण ।

पंचम प्रतीप-लक्षण

कहा कछु न उपमान को, यौं जहँ करत बखान ।
तहाँ प्रतीपहि कहत हैं, कोऊ कबि सज्ञान ॥६५॥

उदाहरण

दिन-दिन दीने दूनी संपति बढ़त जाति,
ऐसो याको कछू कमला को बर बर है ;
हेम, हय, हाथी, हीर बकसि अनूप जिमि,
भूपनि को करत, भिखारिन को घर है ।
कहै 'मतिराम' और जाचक जहान सब,
एक दानि सत्रुसालनंदन को कर है ;
राव भावसिंहजू के दान की बड़ाई देखि,
कहा कामधेनु है, कछू न सुरतरु है ॥६६॥
कहा दवागनि के पियें, कहा धरें गिरि धीर ।
बिरहानल मैं जरत ब्रज, बूड़त लोचन नीर ॥६७॥

रूपक-लक्षण

बरनत बिषयी विषय कों[1], करि अभिन्न, तद्रूप ।
अधिक, हीन, सम उक्ति[2] सों, रूपक त्रिबिध अनूप ॥६८॥

---

१ जहँ बरनत है वस्तु को, २ उकुति ।

छं० नं० ६६ कमला को बर बर है—लक्ष्मी का आशीर्वाद है । छं० नं० ६७ भावार्थ—हे व्रजराज आप एक बार दावानल पान कर चुके हैं और इंद्र के कोप की परवा न करके आपने गोवर्द्धन गिरि को भी धारण कियाथा । पर वह सब तो हो चुका । उससे अब क्या होता जाता है । इस समय तो व्रजमंडल गोपियों के विरहताप में जला जाता है और उनके असीम अश्रु-प्रवाह में डूबा जाता है। इससे रक्षा कीजिए तो आपके पूर्व वीरत्व की बात समझें ।

समोक्ति अभिन्न-रूपक

उदाहरण

मौज-दरियाव राव सत्रुसाल तनै जाको,
जगत मैं सुजस सहज सतिभान है ;
बिबुध-समाज सदा सेवत रहत जाहि,
जाचकनि देत जो मनोरथ को दान है।
जाके गुन-सुमन-सुबास ते मुदित मन,
साँच 'मतिराम' कबि करत बखान हैं ;
जाकी छाँह बसत बिराजै ब्रजराज यह,
भावसिंह सोई कलपद्रुम दिवान है।। ६९ ।।

हीनोक्ति अभिन्न-रूपक

उदाहरण

महादानि जाचकन कौं, भाऊ देत तुरंग।
पच्छनि बिगिर बिहंग हैं[1], सुंडन बिगिर मतंग ।। ७० ।।

अधिकोक्ति अभिन्न-रूपक

उदाहरण

जंग मैं अंग कठोर महा मदनीर झरै झरना सरसे हैं ;
झूलनि रंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे[2] हैं।
सुंदर सिंदुरमंडित कुंभनि गैरिक शृंग उतंग लसे हैं ;
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं ।।
७१ ।।

---

१ जे, २ प्रभानि फँसे।

छं० नं० ७० पच्छनि···मतंग=भावसिंह के दिए घोड़े विना परों के पक्षी और विना सूँड़ के हाथी के समान हैं। छं० नं० ७१ महीरुह=वृक्ष। सिंदुरमंडित कुंभ=सिंदूर लगे हुए मस्तक। गैरिक शृंग=गेरू की लाल चोटियाँ।

समोक्ति तद्रूप-रूपक

उदाहरण

छाँह करैं छितिमंडल कौं सब ऊपर यौ 'मतिराम' भए हैं ;
पानिप कौं सरसावत, हैं सगरे[1] जग के मिटि ताप गए हैं ।
भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ पयोद नहीं बर काज ठए हैं ;
पंथिन के पथ रोकिबि कौं घने[2] बारिद बृंद बृथा उनए हैं ।।
७२ ।।

हीनोक्ति तद्रूप-रूपक

उदाहरण

बिप्रनि के मंदिरन तजि करत ताप सब ठौर ।
भावसिंह भूपाल को तेज-तरनि यह और ।। ७३ ।।

अधिकोक्ति तद्रूप-रूपक

उदाहरण

दूरि भयो अधरम अंधकार अति[3] सब,
मुदित निहारि[4] द्विज चक्कनि को गोत है ;
बैरिबधू-बदन कलानिधि मलीन भयो,
सकल सुखानौ पर पानिप को सोत है ।
कहै 'मतिराम' राव सत्रुसालनंदन को,
प्रबल प्रताप पुंज आतप उदोत है ;
भावसिंह भानु बलाबंधु को दिवान तपै,
आठऊँ[5] फहर दुपहर दिन होत है ।। ७४ ।।

---

१ सिगरे, २ घन, ३ दूरि भई अधरमिनी अब अँधियारी, ४ रौं, ५ हूँ ।

छं० नं० ७२ भूमि-पुरंदर=पृथ्वी के इंद्र । उनए=उठे । छं० नं० ७३ 'ब्रिप्रनि के मंदिरन तजि' से अभिप्राय है कि भावसिंह ब्राह्मणों पर कोप नहीं करते थे । छं० नं० ७४ द्विज-चक्क=ब्राह्मणरूप चक्रवाक या पक्षी चक्रवाक ।

परिणाम-लक्षण

बिषयी-बिषय अभेद सौं, जहाँ करत कछु काज ।
बरनत तहँ परिनाम हैं, कबि-कोबिद-सिरताज ॥ ७५ ॥

उदाहरण

बाजत नगारे जहाँ, गाजत गयंद तहाँ,
सिंह-सम कीनो बीर संगर बिहार हैं ;
कहै 'मतिराम' कबि लोगनि कौं रीझि करि,
दीने ते दुरद जे चुवत मदधार हैं ।
सत्रुसालनंद राव भावसिंह तेग त्याग,
तोसे और औनितल आज न उदार हैं ;
हाथिन बिदारिबे कों हाथ हैं हथ्यार तेरे,
दारिद बिदारिबे कों हाथिए हथ्यार हैं ॥ ७६ ॥

द्विविध उल्लेख-लक्षण

कै बहुतै कै एक जहँ, एकहि को उल्लेख ।
बहुत करत उल्लेख तहँ, कहत सुकबि सबिसेख ॥ ७७ ॥

प्रथमोदाहरण

कबिजन कलपद्रुम कहैं, ज्ञानी ज्ञान-समुद्र ।
दुरजन के गन कहत हैं, भावसिंह रन-रुद्र ॥ ७८ ॥

द्वितीयोदाहरण

सत्ता को सपूत राव संगर को सिंह सो है,
जैतवार जगत करेरी किरवान को ;

छं० नं० ७६ औनितल=अवनीतल, पृथ्वी पर । हाथिन···हथ्यार= भावसिंह ऐसा शक्तिमान् है कि अपनी भुजाओं के बल से हाथी मार डालता है; और लोगों की दरिद्रता को हाथियों का दान देकर नष्ट कर डालता है ।

कहै 'मतिराम' अवलंब राजै धरम को,
महोदधि मरजाद मेरु परिमान को।
कीरति की कौमुदी सु छाई छिति छोरनि लौं,
बिमल कलानिधि है कुल चहुवान को;
दानि-कलपद्रुम सुजानमनि भावसिंह,
भानु भूमितल को दिवान हिंदुवान को ॥ ७९ ॥

स्मृति-भ्रम-संदेह-लक्षण

एक बस्तु लखि आन को, सुमरन-भ्रम-संदेह।
बरनत भूषन तीन बिधि, जे कबिजन मति-गेह ॥ ८० ॥

स्मृति-उदाहरण

सोय संग सुख, जागि दुख लहि समुझ्यो निरधार।
छीन पुन्य सुरलोक ते, लेत अवनि अवतार ॥ ८१ ॥

भ्रम-उदाहरण

उँजियारी मुख-इंदु की परी उरोजनि आनि।
कहा अँगोछति मुगुध तिय, पुनि-पुनि चंदन जानि ॥ ८२ ॥

छं० नं० ७९ जैतवार=जीतनेवाला। महोदधि मरजाद=मर्यादा-रक्षा में समुद्रवत्। मेरु परिमान=प्रमाण या परिमाण में सुमेरु पर्वतवत्। छं० नं० ८१ भावार्थ—स्वप्न में संयोग-सुख हुआ, जगने पर वह सुख जाता रहा और दुःख हुआ। यह स्थिति ऐसी समझ पड़ने लगी मानो पहले स्वर्ग में निवास (स्वप्न-संयोग-अवस्था) था, और फिर पुण्य क्षीण हो जाने पर इस पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ा। स्वप्न-संयोग स्वर्ग-निवास के सुख के समान था और जगने पर वियोग पाप-पूर्ण मृत्युलोक के निवास के तुल्य है। छं० नं० ८२ मुगुध तिय=मुग्धा नायिका, भोली स्त्री।

आभा तरिवन लाल की परी कपोलनि आनि।
कहा छपावति चतुर तिय कंत-दंत-छत जानि ॥ ८३ ॥*

मान कियो सपने मैं सुहागिन भौंहैं चढ़ीं 'मतिराम' रिसौंहैं ;
बातैं बनाय मनाय लई मनभावन कंठ लगाय हसौंहैं।
एते अचानक जागि परी सुख ते अँगिरात उठी अलसौंहैं ;
लालन के लखि लोचन लाज ते होत न बाल के लोचन सौंहैं ॥ ८४ ॥

संदेह-उदाहरण

परचि[1] परै नहिं अरुन रँग, अमल अधरदल माँझ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं फूली साँझ ॥ ८५ ॥

बानी को बसन, कैधौं बात के बिलास डोलै,
कैधौं मुखचंद चारु-चंद्रिका प्रकास है ;
कबि 'मतिराम' कैधौं काम को सुजस कै ?
पराग-पुंज प्रफुलित-सुमन सुबास है।
नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधौं ?
देहवंत प्रगटित हिए को हुलास है ;
सीरे करिबे कों पियनैन घनसार कैधौं ?
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है ॥ ८६ ॥

शुद्धापह्नुति-लक्षण

औरै को आरोप करि, साँच छपावत धर्म।
शुद्धापह्नुति कहत हैं, जे प्रबीन कबिकर्म ॥ ८७ ॥

---

१ बरनि।

छं० नं० ८५ दुपहरी=गुल दुपहरी। फूली साँझ=संध्या की लालिमा फैली है।

*देखो रसराज उदाहरण परिहास।

उदाहरण

पारावार पीतम कों प्यारी ह्वै मिली है गंग ,
बरनत कोऊ कबि कोबिद निहारि कै ;
सो तो मतो 'मतिराम' के न मनमानै निज ,
मति सौं कहत यह बचन बिचारि कै ।
जरत बरत बड़वानल सों बारिनिधि ,
बीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै ;
ज्यावति बिरंचि ताहि प्यावत पियूष निज,
कलानिधि मंडल कमंडल तैं ढारि कै ।। ८८ ।।

हेत्वपह्नुति-लक्षण

युक्ति-सहित 'मतिराम' जहँ शुद्धापह्नुति होय ।
हेतु अपह्नुति कहत हैं, तहाँ सुकबि सब कोय ।। ८९ ।।

उदाहरण

बालबदन-प्रतिबिंब बिधु, उयो रह्यो तिहि[1] संग ।
उयो रहत अब रजनि दिन, तपन तपावत अंग ।। ९० ।।

पर्यस्तापह्नुति-लक्षण

धर्म और मैं राखिए, धर्मी साँचु छपाय ।
परजस्तापह्नुति कहत, ताहि बुद्धि सरसाय ।। ९१ ।।

---

१ उदित बिंब रह्यो ।

छं० नं० ८८ पारावार=समुद्र । जरत बरत⋯ढारि कै=समुद्र बड़वानल के विषम संताप से झुलसा जाता है और अपने इस कष्ट को प्रकट करने के लिये तरंगमालाओं का शोर करता है अर्थात् तरंगों के उठने में जो शब्द होता है वह मानो संतप्त समुद्र अपना दुःख जताने को शोर कर रहा हो । इस शब्द को सुनकर ब्रह्माजी अपने चंद्रमा-कमंडलु को उठा लेते हैं और उससे अमृत ढालकर समुद्र को पिलाते हैंऔर उसके जीवन की रक्षा करते हैं । इस प्रकार ब्रह्मा ने अपने चंद्र-रूपी कमंडलु से जो सुधा-धारा बहाई है वही गंगाजी हैं ।

उदाहरण

कोमल कमलन से कहैं, तिन्हैं न नैक सयान।
होत पार लागत[1] हियै, नैन मैन के बान ॥ ९२ ॥

भ्रांत्यपह्नुति-लक्षण

जहाँ और संका भए,[2] करत झूठ भ्रम दूरि।
भ्रांताह्नुति कहत हैं, तहाँ सुकबि मति भूरि ॥ ९३ ॥

उदाहरण

सेवत हैं बिबुधै, 'मतिराम' सदा गुरु-बैन प्रमान कै मान्यौ ;
कोप किए सब भूतल के अरि भूभृत पक्षनि को गन भान्यौ।
पानिप पूरन बारिद हाथनि ताप रह्यो जग मैं जस ठान्यौ ;
तैं समुझे पुरहूत के रूपहि मैं प्रभु भाऊ दिवान बखान्यो ॥ ९४ ॥

छेकापह्नुति-लक्षण

जहाँ और की संक ते साँच छपावत बात।
छेकापह्नुति कहत हैं, तहाँ बुद्धि अवदात ॥ ९५ ॥

उदाहरण

ओठ खंडिबे कौं अरचौ मुख-सुबास-रस-रत्त।
स्यामरूपनँदलाल अलि, नहिं अलि,अलि उनमत्त ॥ ९६ ॥
पावस भीति बियोगिनि बालनि, यौं समुझाय सखी सुख साजैं;
जोति जवाहिर की 'मतिराम,' नहीं सुर-चाप छिनौछबि छाजैं।

---

१ लागे, २ की शंक ते।

छं० नं० ९४ गुरु=विद्यादान करनेवाला, बृहस्पति । बिबुधै =पंडित, देवता। भूभृत=राजा, पर्वत । पक्षनि=पक्षपाती, पर। छं० नं० ९६ अलि का प्रयोग तीन बार हुआ है, प्रथम दो बार, उसका अर्थ सखी है और अंतिम बार भ्रमर।

दंत लसैं बक पाँति नहीं, धुनि दुंदुभी की, न घने घन गाजैं;
रीझि कै भाऊ नरिंद दिए कबिराजनि के गजराज बिराजैं ॥
९७ ॥

छलापह्नुति-लक्षण

जहँ छल आदिक पदनि सौं, साँच छपावत बात ।
तहँ छलपह्नुति कहत हैं, कबिजन मति अवदात ॥ ९८ ॥

उदाहरण

सुंदरिबदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारिबदन बनाय कै;
ताकी रुचि लैन कौं उदित भयो रैनपति,
मूढ़मति राख्यो निजकर बगराय कै।
'मतिराम' कहै निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाइ कमलासन रिसाय कै;
रातौं दिन फेरै अमरायल के आस पास,
मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगाय कै ॥ ९९ ॥

उत्प्रेक्षा-लक्षण

जहँ कीजे संभावना सो उत्प्रेक्षा जानि ।
बस्तु-हेतु-फल-रूप ते ताको त्रिबिधि बखानि ॥ १०० ॥
एक उक्तबिषया कही, अनुक्तबिषया और ।
बहुरि भेद द्वै बस्तु मैं, जानहु कबि-सिर-मौर ॥ १०१ ॥
एक सिद्धविषया कही, असिद्धबिषया और ।
भेद-हेतु-फल दुहुनि मैं द्वै कहियत मतिदौर ॥ १०२॥

छं० नं० ९९ चारिबदन=चतुर्मुख, ब्रह्मा। बनाय कै=अच्छी प्रकार से । रुचि=शोभा । कर बगराय कै=किरणें फैलाकर । कमलासन=ब्रह्मा । छं० नं० १०२ मति-दौर=बुद्धि-विस्तार ।

उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

उदाहरण

बासव की राजै रुचि ललित बसंत खेल,
खेलत दिवान बलाबंध सुलतान मैं ;
कहै 'मतिराम' कबि मृगमद पंक छबि,
छावत फुलेल औ गुलाल आपगान मैं।
कुंकुम गुलाल घनसार औ अबीर उड़ि,
छाय रहे सघन अवनि आसमान मैं ;
मेरे जानि राव भावसिंह को प्रताप जस,
रूप धरे फैलि रह्यो दसहू दिसान मैं ॥ १०३ ॥

अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

उदाहरण

जगमग जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी रंभा-सी रमा-सी बिसराइए ;
देखिबे कौं प्रानप्यारी पास प्रानप्यारो खरो,
घूंघट उघारि नैंकु बदन दिखाइए।
तेरे अंग-अंग मैं मिठाई औ लुनाई भरी,
'मतिराम' कहत प्रगट यह पाइए ;
नायक के नैननि मैं नाइए सुधा सों सब,
सौतिन के लोचननि लौन सो लगाइए ॥ १०४ ॥*

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा

उदाहरण

प्रबल बिलंद बर-बारनि के दंतनि सौं,
बैरिन के बाँके-बाँके दुरग बिदारे हैं ;

छं० नं० १०३ बासव=इन्द। आपगा=नदी।

*देखो रसराज ३० स्वाधीनपतिका।

कहै 'मतिराम' दीने दीरघ दुरदबृंद,
मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे हैं।
तेग त्याग राजत जगतराव भावसिंह,
मेरे जान तेरे गज याही तैं पियारे हैं;
दुज्जनि के दल कबि लोगनि के दारिदनि,
नीकै करि गजन की फौजनि सौं मारे हैं[1] ॥ १०५ ॥

सिद्धविषया

उदाहरण

मोचन लागी भुराई की बातनि सौतिनि सोच भुरावन लागी;
मंजन कै नित न्हाय कै अंग अँगोछि कै बार झुरावन लागी।
मोरि मुखै मुसकाय कै चारु चितै 'मतिराम' चुरावन लागी;
ताही सकोच मनो मृगलोचनि लोचन लोल दुरावन लागी ॥
१०६ ॥

सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा

उदाहरण

बारन[2] धूपि अगारनि धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है;
आननचंद समान उग्यौ मृदु मंजु हँसी जनु जौन्ह-छटा है।

---

१ दुज्जन के दल कबि लोगन के दारिद गयंदनि की फौजनि सों मौजनि सों मारे हैं। २ द्वारनि।

छं० नं० १०५ बिलंद=ऊँचा। दुरग=दुर्ग, क़िला। मुदिर=मेघ। मेदुर=स्निग्ध, चिक्कड़, चरबीसंयुक्त। छं० नं० १०६ मोचन लागी भुराई की बातनि=भोलेपन की बातें छोड़ने लगी। दुरावन लागी=छिपाने लगी। छं० नं० १०७ बारन धूपि=बालों को सुखलाकर। अगारनि धूपि=मकानों को धूप की सुगंधि से युक्त करके।

फैलि रही 'मतिराम' जहाँ तहाँ दीपति दीपनि की परभा है ;
लाल तिहारे मिलाप कौं बाल सु आज करी दिन ही मैं निसा
है ॥ १०७ ॥

असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा

उदाहरण

मनौ भजी अरि तियनि कौं पकरन जो दृढ़ दाप ।
भावसिंह को दिसनि मैं फैलत प्रबल प्रताप ॥ १०८ ॥

गुप्तोत्प्रेक्षा-लक्षण

उत्प्रेक्षा बाचक जहाँ, शब्द कह्यो नहिं होय ।
गुप्तोत्प्रेक्षा कहत हैं, तहाँ सुकबि सब कोय ॥ १०९ ॥

उदाहरण

बाल रही इकटक निरखि ललित लालमुखइंदु ।
रीझ भार अखियाँ थकीं, झलके श्रमजलबिंदु ॥ ११० ॥

रूपकातिशयोक्ति-लक्षण

जहँ केवल उपमान ते प्रगट होत उपमेय ।
रूपकातिशयउक्ति तहँ बरनत सुकबि अजेय ॥ १११ ॥

उदाहरण

इंद्रजाल कंदर्प को गहै कहा 'मतिराम' ।
आगि लपट वर्षा करै, ताप धरै घनस्याम ॥ ११२ ॥
चलौ लाल या बाग मैं, लखौ अपूरब केलि ।
आलबाल घन समय को, ग्रीषम ऋतु की बेलि ॥ ११३ ॥

छं० नं० ११२ काम-देव के खेल इंद्रजाल-कैसे हैं । अग्नि की लपट (विरहानल) से वर्षा होती है (अश्रुप्रवाह) और घनश्याम (बादल, कृष्ण) से संताप (विरहताप) होता है । छं० नं० ११३ आलबाल=थाल्हा ।

सापह्नवातिशयोक्ति-लक्षण

जहाँ अपन्हुति सहित सो, बरनत मति अभिराम।
सापह्नव अतिशय उकति, तहाँ कहत 'मतिराम' ॥ ११४ ॥

उदाहरण

झूठ[1] इंदु अरविंद मैं, कहत सुधा मधुबास[2]।
तो मुख मंजुल अधर मैं, तिनको प्रगट प्रकास ॥ ११५ ॥

भेदकातिशयोक्ति-लक्षण

औरै यों करि कै जहाँ बरनत सोई बात।
भेदकातिशय उक्ति तहँ कहत बुद्धि-अवदात ॥ ११६ ॥

उदाहरण

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देति है, सकै न बैन बखानि ॥ ११७ ॥

द्विविध संबंधातिशयोक्ति-लक्षण

जहँ अजोग है जोग मैं, जहँ अजोग मैं जोग।
संबंधातिशयोक्ति यह, भाषत सब कबि लोग ॥ ११८ ॥

उदाहरण

सुरजनबंश राव भावसिंह सूरज तू,
तोते आज जगै जग जप-तप-जाग हैं;
झलकै ललाई मुख अमल कमल तेरे,
हिए हरिचरन-कमल अनुराग हैं।
सत्ता के सपूत तैं जगाई 'मतिराम' कहै,
लहलही कीरति कलपबेलि बाग हैं;

---

१ मूढ़, २ मृदुबास।

छं० नं० ११९ जाग=यज्ञ। करी=हाथी।

ऊँचे मन, ऊँचे कर, ऊँचै - ऊँचै करी दै कै,
ऊँचे करे भूमि के भिखारिन के भाग हैं ॥ ११९ ॥
सजल जलद जिमि झलकत मदजल,
छिति-तल हलत चलत मंद गति मैं ;
कहै 'मतिराम' बल बिक्रम बिहद्द सुनि,
गरजनि परै दिगवारन[1] बिपति मैं ।
सत्ता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कबिराजन की मति मैं ;
मधुकरकुल करटीनि[2] के कपोलनि तैं,
उड़ि उड़ि पियत अमृत[3] उड़पति मैं ॥ १२० ॥

द्वितीय संबंधातिशयोक्ति-लक्षण

उदाहरण

चरन धरै न भूमि बिहरै तहाँई जहाँ,
फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है ;
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं,
करत न अंगराग कुंकुम को पंक है ।
कहै 'मतिराम' देखि वातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन - मयंक है;
कैसैं वह बाल लाल बाहर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है ॥ १२१ ॥*
अंगनि उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हैं,
चिक्करत दिक्करि हलत कलकत हैं;

---

१ दिगदंतिन, २ करनीक, ३ अमिय, पियूष ।

छं० नं० १२० बिहद्द=बेहद, अत्यधिक । हलकनि=समूह । करटीनि=हथिनियाँ । उड़पति=चंद्रमा ।

*देखो रसराज उदाहरण मध्यम दूती ।

कहै 'मतिराम' सैन सोभा के ललाम अभि-
राम जरकस झूल झाँपे झलकत हैं।
सत्ता के सपूत राव भावसिंह रीझि देत,
छहूँ ऋतु छके मदजल छलकत हैं;
मंगन की कहा है, मतंगनि के माँगिबे को,
मनसबदारन के मन ललकत हैं॥ १२२॥

अक्रमातिशयोक्ति-लक्षण

जहाँ हेतु अरु काज मिलि, होत एक ही अंग।
अक्रमातिशय उक्ति तहँ, बरनत कबि रसरंग॥ १२३॥

उदाहरण

जूथपति पैठ्यो पानी[1] पोषत प्रबलमद,
कलभ करेनु-कनि लीनैं संग सुख ते;
ग्राह गह्यौ गाढ़े बैर पीछले के बाढ़े भयो,
बलहीन बिकल[2] करन दीह दुख ते।
कहै 'मतिराम' सुमरत ही समीप लखे,
ऐसी[3] करतूति भई साहिब सुरुख ते;
दोऊ बातैं छूटी गजराज की बराबर ही,
पाँव ग्राह-मुख ते पुकार निज मुख ते॥ १२४॥

---

१ मानी, २ भयो बदन बिकल है, ३ कैसी।

छं० नं० १२२ दिक्करि=दिग्गजें। मंगन की कहा…ललकत हैं=भिखारियों की कौन कहे, बड़े-बड़े मनसबदारों के मन में भावसिंहजी से हाथी माँगने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। छं० नं० १२४ कलभ=हाथी का बच्चा। करेनु-कनि—करेणु=हथिनी। दीह—दीर्घ=बड़ा। सुरुख=अच्छे रुखवाला, सत्सहानुभूति-पूर्ण।

चंचलातिशयोक्ति-लक्षण

बरनत हेतु प्रसक्ति ते उपजत है जहँ काज ।
चंचलातिशय उक्ति तहँ, बरनत हैं कविराज ॥ १२५ ॥

उदाहरण

बारि के बिहार बरबारन के बोरिबे कौं,
बारिचर बिरची इलाज जय काज की;
कहै 'मतिराम' बलवंत जल-जंतु जानि,
दूर भई हिम्मति दुरद सिरताज की ।
असरन-सरन के चरन-सरन तके,
त्यौं ही दीनबंधु निज नाम की सुलाज की;
धाए रति[1] मान अति आतुर गुपाल मिली,
बीच ब्रजराज कौं गरज गजराज की ॥ १२६ ॥
सतरौहीं भौंहनि नहीं दुरत दुराए नेह ।
होत नाम नँदलाल के नीपमाल-सी देह ॥१२७॥*

अत्यतातिशयोक्ति-लक्षण

होत हेतु पीछै जहाँ, होत प्रथम ही काज ।
अत्यंतातिशयोक्ति तहँ, बरनत सब कबिराज ॥ १२८ ॥

उदाहरण

जीते जोर जंग[2] अति अतुल उतंग तन,
दूनी स्यामरंग छबि छपदनि छाए तैं;

---

१ एते, २ अंग ।

छं० नं० १२६ बारिचर=ग्राह । दुरद—द्विरद=हाथी । असरन-सरन के चरन-सरन तके=अशरणों को शरण देनेवाले भगवान् के चरणों का आश्रय लिया । रति मान=प्रीति-पूर्वक । गरज=गर्जन, गरज । छं० नं० १२९ छपद—षट्पद=भौंरा । अनिल=वायु । धाराधर=मेघ ।

* देखो रसराज उदाहरण लक्षिता ।

कहै 'मतिराम' नभ-नदी के कुसुम[1] सम,
उड़ै उड़गन सुंड अनिल उड़ाए तैं ।
मदजल-धार बरषत जिमि धाराधर,
धक्कनि सौं धुक्करैं[2] धरनिधर धाए तैं;
आवैं कबिराज ऐसे पावैं गजराज राव,
भाव सतासुत सौं अगार गुन गाए तैं ॥१२९॥

प्रथम तुल्ययोगिता-लक्षण

जहाँ अबर्ण्यन को धरम, कै बर्ण्यन को एक ।
तुल्ययोगिता कहत हैं, तहाँ सुबुद्धि बिबेक ॥१३०॥

अवर्ण्य का उदाहरण

सूबनि कौं मेटि[3] दिल्ली देस दलिबे कौं चमू,
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे कौं संगर मैं,
काहूके न हिम्मति हिए में उलहति है ।
सत्रुसाल-नंद के प्रताप की लपट सब,
गरबी गनीम बरगीन कौं दहति है;
पति पातसाह[4] की इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है ॥१३१॥

वर्ण्य का उदाहरण

अभिनव जोबन-जोति सौं, जगमग होत बिलास ।
तिय के तन पानिप बढ़ैं, पिय के नैननि प्यास ॥१३२॥*

---

१ कुमुद, २ धुक्कत, ३उमेड़ि, ४ पातसाही ।

धक्कनि सौं धुक्करैं धरनिधर=शेषजी धक्का लगने से कसमसा उठते हैं । अगार—अगाड़ी=पहले ही । छं० नं० १३१ सूबनि=सूबों को (प्रांतों को) या सूबेदारों को । गरबी गनीम बरगीन=अभिमानी शत्रु-मंडल ।

*देखो रसराज उदाहरण मुग्धा ।

द्वितीय तुल्ययोगिता-लक्षण

जहँ हित मैं अरु अहित मैं, बरनत बर्न्यहि तूल ।
तुल्ययोगिता और तहँ, कहत सुकबि मतिमूल ।।१३३।।

उदाहरण

जे निसि-दिन सेवन करैं, अरु जे करैं बिरोध ।
तिन्हैं परम पद देत हरि, कहौ कौन यह बोध ।।१३४।।

दीपक-लक्षण

बर्न्य-अबर्न्यनि को जहाँ, धरम होत है एक ।
बरनत हैं दीपक तहाँ, कबि करि बिमल बिबेक ।।१३५।।

उदाहरण

चंचल निसि उदबस रहैं, करत प्रात बसि राज ।
अरबिंदनि मैं इंदिरा, सुंदरि नैननि लाज ।।१३६।।

दीपकावृत्ति-लक्षण

जहँ दीपक मैं होत है आबर्तन को जोग ।
त्रिबिधि कहत आबृत्तिजुत दीपक सब कबि लोग ।।१३७।।

शब्दावृत्ति-उदाहरण

जागत हौ तुम जगत मैं भावसिंह की बान[1] ।
जागत गिरिबर कंदरनि अरिबर तजि अभिमान ।।१३८।।

अर्थावृत्ति-उदाहरण

लखौ लाल तुमकौं लखत, यौं बिलास अधिकात ।
बिहँसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसकात ।।१३९।।

---

१ दीवान ।

छं० नं० १३४ बोध=ज्ञान । छं० नं० १३६ चंचल निसि उदबस रहैं···लाज=सुंदरी के नेत्रों में लज्जा की श्री और कमलों की श्री यह दोनों रात में उजड़ी रहती हैं और प्रातःकाल होते ही उनका चमत्कार आ जाता है ।

शब्दार्थावृत्ति-उदाहरण

मंदर-बिलंद मंद गति के चलैया एक,
पल मैं दलैया पर-दल बलखानि के;
मदजल झरत झुकत जरकस[1] झूल,
झालरिनि झलकत झुँड मुकुतानि के।
ऐसे गज बकसे दिवान दुहूँ दीननि कौं,
'मतिराम' गुन बरनैं उदारि पानि के;
फौज के सिंगार हाथी और महिपालन के,
मौज के सिंगार भावसिंह महादानि के ॥१४०॥

सकल सहेलिनि के पीछे-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु आपु ही करत है;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जब,
पौन लागे घूँघट के पट उघरत है।
जमुना के तट बंसीबट के निकट,
नंदलाल पै सँकोचन से चाह्यो ना परत है;
तन तौ तिया को बर भाँवरे भरत, मन
साँवरे बदन पर भाँवरे भरत है ॥१४१॥*

प्रतिवस्तूपमा-लक्षण

पद समूह जुग धर्म जहँ, भिन्न पदनि सौं एक।
परगट प्रतिबस्तूपमा तहँ, कवि कहत अनेक ॥१४२॥

---

१ जरबाफ।

छं० नं० १४० मंदर-बिलंद=मंदराचल पर्वत के समान ऊँचे। पर-दल=शत्रुदल। जरकस झूल=जरी के बहुमूल्य वस्त्र की झूल। दुहूँ दीननि कौं=हिंदू और मुसलमानों को।

*देखो रसराज उदाहरण विहृत-हाव।

उदाहरण

संकर कौं ध्याय सरस्वती कौं रिझाय सीष,
सेष हू की पाय मति अति सरसाय कै;
कहै 'मतिराम' सत्रुसाल नंद भावसिंह,
तब कोऊ सकै तेरे गुननि गनाय कै।
औरनि के औगुननि तपि कबिजन राव,
होत हैं सुखित तेरी कित्ति बर न्हाय कै;
खाय कै अँगार आँच औटि कै चकोर गन[1],
होत हैं मुदित चंद चाँदनी कौं पाय कै ॥१४३॥
पिसुन बचन सज्जन चिते सके न फोरि न फारि।
कहा करे लगि तोय मैं तुपक तीर तरवारि ॥१४४॥

दृष्टांत-लक्षण

पद समूह जुग धर्म जहँ, जिमि बिंबहि प्रतिबिंब।
सुकबि कहत दृष्टांत है, जे मन दर्पन बिंब ॥१४५॥

उदाहरण

पगी प्रेम नँदलाल के हमैं न भावत जोग।
मधुप, राजपद पाय के, भीख न माँगत लोग ॥१४६॥
भोज बली रतनेस भए 'मतिराम' सदा जस चाड़न ही मैं;
नाथ सता समरत्थ दुहूनि दले अरि तेज सौं ताड़न ही मैं।
भाऊ नरिंद के धाक धुके अरि जाय गिरे गिरि-गाड़न ही मैं;
जीत महीपति हाड़नहीं महँ जोति दधीच के हाड़न ही मैं ॥१४७॥

---

१ जैसे

छं० नं० १४३ सीष=सिखापन अथवा आशीर्वाद। औरनि के औगुननि···न्हाय कै=कविगण और राजाओं के अवगुणों का बखान करते-करते संतप्त हो जाते हैं वही राव भावसिंह की कीर्ति को अवगाहन करके सुखी होते हैं। छं० नं० १४४ पिसुन=नीच। तोय=जल। छं० नं० १४६ मधुप=उद्धवजी। छं० नं० १४७ गाड़=गढ़ा।

प्रथम निदर्शना-लक्षण

सदृश वाक्य जुग अर्थ को जहाँ एक आरोप ।
बरनत तहाँ निदर्शना कबिजन मति अति ओप ॥१४८॥

उदाहरण

जो गुन बृंद सतासुत मैं कलपद्रुम मैं सो प्रसून समाजै ;
कीरति जो 'मतिराम' दिवान चंद मैं चाँदनी सौ छबि छाजै ।
राव मैं तेज को पुंज प्रचंड सो आतप सूरज मैं रुचि[1] साजै;
जो नृप[2] भाऊ के हाथ कृपान सो पारथ के कर बान बिराजै॥
१४९॥

द्वितीय निदर्शना-लक्षण

जहँ बरनन[3] पद अर्थ को बरनत हैं कबिराज ।
निदरसना यह दूसरी बरनत[4] बिबुध समाज ॥१५०॥

उदाहरण

जब कर गहत कमान सर देत परनि कौ भीति ।
भावसिंह मैं पाइए तब अर्जुन की रीति ॥१५१॥

तृतीय निदर्शना-लक्षण

करत असत सत अर्थ को, एक क्रिया सौं बोध ।
निदरसना यह और हू, कहत सुकबि मति सोध ॥१५२॥

असत-उदाहरण

मधुप, त्रिभंगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति ।
प्रगट करत सब जगत मैं कटु कुटिलन की रीति ॥१५३॥

सत-उदाहरण

हरिमुख लखि लोचन सखी, सुख मैं करत बिनोद ।
प्रगट करत कुबलयन कौं, चंद्रोदय तैं मोद ॥१५४॥

---

१ शुभ, २ प्रभु, ३ बर्तन, ४ समुझत ।

छं० नं० १५१ परनि=शत्रुओं को ।

व्यतिरेक-लक्षण

जहाँ होत उपमान ते उपमेय मैं बिसेख ।
तहाँ कहत व्यतिरेक हैं कबिजन मति उल्लेख ॥१५५॥

उदाहरण

बड़े-बंस-अवतंस राव भावहिं तेरे,
बड़े तेज नए गये देसपती दबि हैं;
कहै 'मतिराम' बड़ी कित्ति उमड़ाई यातैं,
सकल बड़ाई आज तो मैं रही फबि हैं ।
सुनिए पुराननि मैं जंबूदीप बड़ो एक,
जंबू-तरु जामैं फल हाथिन की छबि हैं;
ताहू ते बड़ो है तेरो कर कामतरु,
जासौं बड़े करिबर फल पावत सुकबि हैं ॥१५६॥

सहोक्ति-लक्षण

काज हेतु कौं छोड़ि जहँ ओरनि के सहभाव ।
बरनत तहाँ सहोक्ति हैं कबिजन बुद्धि प्रभाव ॥१५७॥

उदाहरण

महाबीर राव भावसिंह को प्रताप साथ,
जस के पहूँच्यौ छोर दसहूँ दिसानि के;
दल के चढ़त फनमंडल फनीपति को,
फूटि फाट जात साथ सैल की सिलानि के ।
दुज्जन के गन कलपद्रुम के बागनि मैं,
करन बिहार साथ सुर-प्रमदानि के;
संपति के साथ कबि सौधनि बसत बन,
दारिद बसत साथ बैरी-बनितान के ॥१५८॥

छं० नं० १५६ जंबू=जामुन का वृक्ष । छं० नं० १५८ प्रमदा=स्त्री । सौध=चूने से धवलित महल ।

विनोक्ति-लक्षण

जहँ प्रस्तुत कछु बात बिन, कै नीको, कै हीन ।
बरनत तहाँ बिनोक्ति हैं, कवि 'मतिराम' प्रवीन ।।१५९।।

उदाहरण

विषयनि ते निर्बेदवर, ज्ञान, योग, ब्रत, नेम ।
विफल जानिए ये बिना, प्रभु-पद-पंकज प्रेम ।।१६०।।
देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह ।
राजत एक पतंग मैं, बिना कपट को नेह ।।१६१।।

समासोक्ति-लक्षण

जहँ प्रस्तुत मैं होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान ।
समासोक्ति तहँ कहत हैं, कबिजन परम सयान ।।१६२।।

उदाहरण

चिंता मैं चितै कै सब सुधि बिसरावत है,
मंडल बिमल तेरे मुख द्विराज को;
सोयबे कौं साजत सरस परजंक तेरौ,
स्याम अंग छबि इंदीबर की समाज को ।
कबि 'मतिराम' काम-बाननि सौं बेध्यो यौं,
जु दुःख भयो सकल समूह सुख साज को;
कहा कहौं लाल तलबेली तलफत पर्‌यो,
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को ।।१६३।।

परिकर तथा परिकरांकुर-लक्षण

साभिप्राय विशेषननि, सो परिकर 'मतिराम' ।
साभिप्राय बिशेष्य तें, परिकर-अंकुर नाम ।।१६४।।

परिकर-उदाहरण

समर के सिंह सत्रुसाल के सपूत,
सहजहि बकसैया सदा[1] सिंधुर मदंध के;

---

१ बर ।
छं० नं० १६३ द्विजराज=चंद्रमा । तलबेली=हड़बड़ी ।

'मतिराम' चारिहूँ समुद्रनि के कूलनि लों,
फैलत समूह तेरे सुजस सुगंध के।
जगत बखानी चहुवानी सुलतानी और,
नहीं अवनी में अवनीप समकंध के;
तो मैं दोऊ देखिए दिवान भावसिंह,
चहुवान कुलभानु सुलतान बलाबंध के ॥१६५॥
क्यों न फिरै सब जगत मैं करत दिगविजै मार।
जाके दृग-सामंत हैं कुबलय जीतनहार[1] ॥१६६॥

परिकरांकुर-उदाहरण

देखें बानिक आजु को वारौं कोटि अनंग।
भलो चलौ मिलि साँवरो अंग-रंग पट-रंग ॥१६७॥

श्लेष-लक्षण

श्लेष कहावत है जहाँ, उपजत अर्थ अनेक।
प्रकृत अप्रकृत मिलि बिबिधि, प्रकृताप्रकृत बिबेक ॥१६८॥

प्रकृत-उदाहरण

ललित राग राजत हिए नायक जोति बिसाल।
बाल तिहारे कुचन बिच लसत अमोलिक लाल ॥१६९॥

---

१ वार।

छं० नं० १६५ सिंधुर=हाथी। समकंध=बराबरी के। छं० नं० १६६ भावार्थ—कामदेव का सारी पृथ्वी पर दौरा क्यों न हो जब उसके नेत्र-सेनापति कुवलय (कमल, पृथ्वीमंडल) को जीतने वाले हैं। काम की ऐसी मोहनी आँखें हैं कि वह सभी कुछ वश मैं कर लेता है। १ कुवलय=चंद्रविकासी कमल। २ कु (पृथ्वी), वलय (मंडल)=पृथ्वी-मंडल। छं० नं० १६९ लाल=१ कृष्ण, २ रत्न। कृष्ण और रत्न दोनों ललित हैं, कृष्ण हृदयानुरागी हैं, रत्न का रंग हृदयस्थल पर शोभित है, कृष्ण नायक और ख़ूब दीप्तिमान है, रत्न भी दीप्तिमान रत्नों में श्रेष्ठ है।

अप्रकृत-उदाहरण

कहा भयो जग मैं बिदित भए उदित छबि लाल।
तो ओठनि की रुचिर रुचि पावत नहीं प्रबाल ॥१७०।

प्रकृताप्रकृत-उदाहरण

छबिजुत छीरधि तरंगनि बढ़ावत है,
जगत पसारत चमेली की सुबास कौं;
कहै 'मतिराम' कुमुदिनि के परागनि[1] सौं,
सरस करत चारु चाँदनी प्रकास कौं।
सब ही के प्रान रूप हिय मैं बसत अति,
ब्यापक ह्वै फैलि रह्यौ अवनि अकास कौं;
राव भावसिंह जस रावरो करत दिसि,
बिदिसि बिहार गहे बात के बिलास कौं ॥१७१॥

बसत जासु हिय बासुदेव पानिप अति छाजत;
तजत न बर मरजाद परम गंभीर बिराजत।
रतन सुतन[2] अवलोकि लोक-पतिमान सलुंभहि[3];
मुकुत रूप धरि सुजस नृपति स्रवननि सुभसुंभहि।
महिमा अपार 'मतिराम' कहि जगत जगत सब घेरि तिमि;
भुव भावसिंह भूपाल मनि रोज मौज दरियाव इमि ॥१७२॥

अप्रस्तुतप्रशंसा-लक्षण

अप्रस्तुतै प्रसंसिए, प्रस्तुत लीने नाम[4]।
तहँ अप्रस्तुत परसंस को, बरनत है 'मतिराम'[5] ॥१७३॥

उदाहरण

आनन-चंद निहारि-निहारि नहीं तनु औ धन-जीवन वारैं;
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए मति कौं गहि ताहि निकारैं।

---

१ प्रकासनि, २ सतन, ३ सालुंभहि, ४ बात, ५ मति-अवदात।
छं० नं० १७२ सलुंभहि=ललचाते हैं। दरियाव=समुद्र।

क्यौं करि धौं मुरली मनि कुंडल मोर-पखा बनमाल बिसारैं ;
ते धनि जे ब्रजराज लखैं गृह-काज करैं अरु लाज सँभारैं ॥१७४॥

प्रस्तुतांकुर-लक्षण

प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहाँ प्रकट होत 'मतिराम'।
प्रस्तुत अंकुर कहत हैं तहाँ बुद्धि के धाम ॥१७५॥

उदाहरण

सुबरन-बरन सुबासजुत, सरस दलनि सुकुमार।
चंपकली कौं तजत अलि, तैंहीं होत गँवार ॥१७६॥

प्रथम पर्यायोक्ति-लक्षण

गम्य अर्थ प्रगटै तहाँ, और बचन रचनानि।
बरनत पर्यायोक्ति तहँ, कबिजन ग्रंथन जानि ॥१७७॥

उदाहरण

जाके लोचन करत हैं कुबलय कंज[1] प्रकास।
सो भाऊ भूपाल के करत हिए नित[2] बास ॥१७८॥
प्रगट दरप कंदरप को तेरो अंग अनूप।
सु तौ लियो कंदर्प[3] जिति सुंदर स्याम सरूप ॥१७९॥

द्वितीय पर्यायोक्ति-लक्षण

जहाँ कपट सौं करत है रुचिर मनोरथ काज।
बरनत पर्यायोक्ति तहँ दूजी सुकबि समाज ॥१८०॥

उदाहरण

मनमोहन आय गए तित ही, जित[4] खेलति बाल सखीमन[5] मैं;
तहँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन[6], चोर-मिहीचनी[7] खेलनि मैं।
दुरिबे कौं गईं सगरी सखियाँ[8], 'मतिराम' कहै इतने छन मैं;
मुसकाय के राधिके कंठ लगाय, छिप्यौ कहूँ जाय निकुंजन मैं ॥
१८१॥

---

१ कमल, २ करो हिए निज, ३ नँदलाल, ४ जहँ, ५ जन, ६ नैन, ७ लला, लरिकाई, ८ सहेली गईं सिगरी।

व्याजस्तुति-लक्षण

निंदा मैं स्तुत पाइए, स्तुति मैं निंदा होय।
ब्याजस्तुति सो कहत हैं, कबि-कोबिद सब कोय ॥१८२॥

उदाहरण

देखत ही सबके चुरावती[1] है चित्तनि कौं,
फेरि कै न देती यौं अनीति उमड़ाई है;
कबि 'मतिराम' काम तीर हू तें तीछन,
कटाछनि की कोरें छेदि छाती मैं गड़ाई है।
खंजरीट-कंज-मीन, मृगनि के नैननि की,
छीनि-छीनि लेती छबि ऐसी तैं लड़ाई है;
तेरी अखियानि मैं बिलोकी यह बड़ी बात,
इते[2] पर बड़ी-बड़ी पावती बड़ाई है ॥१८३॥
याही कौं पठाई बड़ो[3] काम करि आई बड़ी,
तेरी ये बड़ाई लखै लोचन लजीले सों;
साँची क्यों[4] न कहै कछू[5] मोकौं किधौं आपु ही कौं,
पाय बकसीस लाई बसन छबीले सों।
'मतिराम' सुकबि सँदेसो अनुमानियत,
तेरे नख सिख अंग हरख कटीले सों;
तू तो है रसीली रस-बातनि बनाय जानैं,
मेरे जानि आई रस राखि कै रसीले सों ॥१८४॥*

व्याज-निंदा-लक्षण

निंदा सों जहँ और की निंदा प्रगटित होय।
तहाँ ब्याज-निंदा कहत कबि कोबिद सब कोय ॥१८५॥

---

१ चुरावत, २ एते, ३ ऐसो, ४ सो, ५ यह।
*देखो रसराज उदाहरण अन्यसुरतिदुःखिता।

उदाहरण

प्रगट कुटिलता जो करी हम पर स्याम सरोस ।
मधुप जोग बिष उगलिए कछू न तिहारो दोस ॥१८६॥

प्रथमाक्षेप-लक्षण

जहाँ कही निज बात कौं समुझि करत प्रतिषेध ।
तहाँ कहत आछेप हैं कबिजन मति उत्सेध ॥१८७॥

उदाहरण

दै[1] मृदुपायन जावक को रँग, नाह को चित्त रँगै रँग जातैं ;
अंजन दै करौ नैननि मैं सुखमा, बढ़ि[2] स्याम सरोज प्रभातैं ।
सोने के भूषण अंग रचौ 'मतिराम' सबै बस कीवे की घातैं;
यौं ही चलै न सिँगार सुभावहि मैं सखि भूलि कही सब बातैं ॥
१८८॥*

द्वितीयाक्षेप-लक्षण

जहाँ न साँच निषेध है, है निषेध आभास ।
तहँ औरो आछेप को, कबिजन करत प्रकास ॥१८९॥

उदाहरण

हौं न कहत[3] तुम जानिहौ लाल बाल की बात ।
अँसुवा उड़गन परत[4] हैं हौंन चहत उतपात ॥१९०॥

तृतीताक्षेप-लक्षण

जहँ बिधि प्रगट बखानिए छप्यौ निषेध प्रकास ।
तहँ औरौ आछेप कहि बरनत बुद्धि बिलास ॥१९१॥

---

१ है, २ अंजनि सो करि सुंदरि नैननि यों कुबलै दल, ३ कहीं, ४ गिरत ।

छं० नं० १९० उड़गन=तारागण । उल्कापात अशुभ है । आँसू-रूप उल्कापात भी भविष्य अनिष्ट की सूचना देता है ।

*देखो रसराज उदाहरण मंडन ।

उदाहरण

जा दिन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन ते वाकै पियराई तन छाई है;
कबि 'मतिराम' छोड़े भूषन-बसन-पान,
सखिन सौं खेलनि-हँसनि बिसराई है।
आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित्त,
ऐसे मैं चलौ तौ लाल रावरी बड़ाई है;
सोवति न रैन-दिन रोवति रहति बाल,
बूझे तैं कहत सुधि मायके की आई है ॥१९२॥*

कोपनि तैं किसलय जबै होहिं कलिन तैं कौल।
तब चलाइए चलन की चरचा नायक नौल ॥१९३॥†

विरोधाभास

जहँ बिरोध सो लगत है, होत न साँच बिरोध।
कहत बिरोधाभास तहँ, बुधजन बुद्धि बिबोध ॥१९४॥

उदाहरण

दोऊ जुरे सहजादिन के दल, जानत है सगरो जग साखी;
मारू बजै[1] रस बीर छके बर, बीरनि कित्ति बड़ी अभिलाखी।
नाथ-तनै करतूति करी जस-जोति जगी 'मतिराम' सुभाखी;
स्रोनित बैरिन को बरसाय कै, राव सता रन मैं रज राखी ॥
१९५॥

---

१ मचै।

छं० नं० १९५ साखी—साक्षी=गवाह। नाथ-तनै=गोपीनाथ के पुत्र छत्रसाल। रज राखी=रजपूती रक्खी। मुख्य अर्थ यह है पर प्रकट में यह जान पड़ता है कि धूल रक्खी।

*देखो रसराज उदाहरण मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी।

†देखो रसराज उदाहरण प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी।

प्रथम विभावना-लक्षण

बिना हेतु जहँ बरनिए प्रगट होत है काज।
प्रगटित तहाँ बिभावना कहत सकल कबिराज ॥१९६॥

बातनि जाय लगाय लई रस ही, रस मैं मन हाथ कै लीनौं;
लाल तिहारे बुलावन को 'मतिराम' मैं बोल कह्यौ परबीनौं।
बेग चलौ न बिलंब करौ लख्यौ, बाल नबेली को नेह नबीनौं;
लाज भरी अँखियाँ बिहँसी बलि, बोल कहें बिन उत्तर[1] दीनौं॥
१९७॥

द्वितीय विभावना-लक्षण

थोरे हेतुनि सौं जहाँ प्रगट होत है काज।
तहँ बिभावना औरऊ बरनत बुद्धि जहाज ॥१९८॥

उदाहरण

तेरो कह्यो सिगरो मैं कियो निसि-द्योस तप्यो[2] तिहुँ तापनि पाई[3];
मेरो कह्यो अब तू करि जो सब, दाह मिटे परिहै सियराई।
संकर-पायनि मैं लगि रे मन, थोरे ही बातनि सिद्धि सुहाई;
आक-धतूरे के फूल चढ़ाए तें, रीझत हैं तिहुँलोक के[4] साँई॥१९९॥

तृतीय विभावना-लक्षण

जहाँ हेतु प्रतिबंध हू बरनत प्रगटै काज।
बरनत और बिभावना तहँ कबिराज समाज ॥२००॥

उदाहरण

मानत लाज लगाम नहिं नैक न गहत मरोर।
होत तोहि[5] लखि बाल के दृग-तुरंग मुँहजोर ॥२०१॥

---

१ ऊतरु, २ ते यों, ३ तताई, ४ को, ५ लाल।

छं० नं० १९७ बोल कह्यो परबीनौं=प्रवीणता से बात कही। बलि=बलि जाऊँ, बलिहारी जाऊँ, बलइया लूँ। छं० नं० १९९ आक—अर्क=मदार। साँई=स्वामी, मालिक। छं० नं० २०१ मरोर=रोक। मुँहजोर=सबल, चंचल।

चतुर्थ विभावना-लक्षण

हेतु काज को जो नहीं ताते काज उदोत।
या सौं और बिभावना कहत सकल कबिगोत ॥ २०२ ॥

उदाहरण

हँसत बाल के बदन मैं यौं छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तैं झरत चमेली-फूल ॥ २०३ ॥

चंदमुखी हाँसी मैं चमेली की लता-सी होति,
चंपकलता-सी अंग जोति कौं[1] धरति है;
कबि 'मतिराम' तेरे अंग की सुबास लहै,
कौन बेलि रूप यह जानी ना परति है।
नैसुक निहारि कै छबीली नैन-कोरनि ते,
ऐसी अचिरज की कलानि आचरति है;
ललित तमाल स्याम रसिक रसाल कौंते,
कदम मुकुल के कुलनि[2] सौ करति है ॥ २०४ ॥*

पंचम विभावना लक्षण

बरनत हेतु बिरोध ते उपजत हैं जहँ काज।
तहँ बिभावना औरऊ बरनत कबि[3] सिरताज ॥ २०५ ॥

उदाहरण

मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सुहाई;
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल-डोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयी बस माई;
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥
२०६ ॥†

---

१ सी, २ कदंब हू पुलक मुलकनि, कदंब मुकलित के, ३ कहत सुकबि।

*देखो रसराज उदाहरण रोमांच।

†देखो रसराज उदाहरण गुण-कथन।

षष्ठ विभावना-लक्षण

जहाँ काज ते हेतु कौं बरनत प्रगट प्रकास।
तहँ बिभावना औरऊ बरनत बुद्धि बिलास ॥ २०७ ॥

उदाहरण

भयो सिंधु ते बिधु सुकबि बरनत बिना बिचार।
उपज्यौ तौ मुख इंदु तें प्रेम पयोधि अपार ॥ २०८ ॥

विशेषोक्ति-लक्षण

जहँ परिपूरन हेतु ते प्रगट होत नहिं काज।
बिशेषोक्ति तहँ कहत हैं सकल सुकबि सिरताज ॥ २०९ ॥

उदाहरण

पियत रहत पिय नैन यह[1] तेरी मृदु मुसकानि।
तऊ न होति मयंकमुखि तनिक प्यास की हानि ॥ २१० ॥
प्यौ राख्यौ परदेस तें अति अद्‌भुत दरसाय[2]।
कनक-कलस पानिप-भरे सगुन उरोज दिखाय ॥ २११ ॥

असंभव-लक्षण

जहाँ अर्थ के सिद्धि को संभव बचन न होय।
तहाँ असंभव होत है बरनत हैं सब कोय ॥ २१२ ॥

उदाहरण

यौं दुख दै ब्रजबासिन कौं, ब्रज कौं तजि कै मथुरा सुख पैहैं;
वै रसकेलि[3] बिलासिनि कौं, बन-कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं।
जोग सिखावन कौं हमकौ, बहुरचौं तुम-से उठि धावन ऐहैं[4];
ऊधो नहीं हम जानत ही मनमोहन कूबरीहाथबिकैहैं ॥ २१३ ॥

---

१ वह, २ सरसाय, ३ निसि केलि, ४ धैहैं।

छं० नं० २११ भावार्थ—यात्रा के समय जलपूर्ण कुंभ मिलना शकुन है। नायिका ने यही शकुन-पूरा किया पर यहाँ कुंभ उरोज थे। नायक प्रसन्न होकर रुक गया और परदेश नहीं गया। छं० नं० २१३ धावन=दूत।

प्रथम असंगति-लक्षण

होत हेतु जहँ और थल, काज और थल होय ।
तहाँ असंगति कहत हैं, कबि रस बुद्धि समोय ।। २१४ ।।

उदाहरण

दारुन तेज दिलीस के बीरनि, काहू न बंस के बाने बजाए[1];
छोड़ि हथ्यारनि हाथनि जोरि, तहाँ सबही मिलि मूड़ मुड़ाए ।
हाड़ा हठी रह्यौ ऐंड़ किए 'मतिराम' दिगंतन मैं जस छाए[2];
भोज के मूछनि लाज रही मुख औरनि लाज के भार नवाए ।।
२१५ ।।

राधा के दृग खेल में मूँदे नंद-कुमार ।
करन लगी दृगकोर सो भई छदि उर पार ।। २१६ ।।

द्वितीय असंगति-लक्षण

और ठौर करनीय जो, करत और ही ठौर ।
बरनत सब कबिराज हैं, यहौ असंगति और ।। २१७ ।।

उदाहरण

पिय नैननि के राग कौं भूषन सजे बनाय ।
लखें तिहारी छबि सुतौ सौति-दृगनि अधिकाय ।। २१८ ।।

तृतीय असंगति-लक्षण

करन लगै जो काज कछु ताते करै बिरुद्ध ।
यहौ असंगति कहत हैं कबि 'मतिराम' बिबुद्ध ।। २१९ ।।

---

१ जमाए, २ गाए ।

छं० नं० २१५ बंस के बाने बजाए=वंश के अनुरूप वीरता नहीं दिखलाई । छं० नं० २१८ भूषण धारण करने का अभिप्राय था प्रियतम के नेत्रों का अनुरंजन, पर उससे सौतों की आँखों में क्रोध की ललाई (राग) छा गई ।

उदाहरण

उदित भयो है जलद तू जग को जीवन-दानि ।
मेरो जीवन लेत है, कौन बैर मन आनि[1] ॥ २२० ॥

प्रथम विषम-लक्षण

जहाँ न हैं अनुरूप द्वै, तिनकी घटना होय ।
बिषम तहाँ बरनन करत[2], कबि-कोबिद सब कोय ॥ २२१ ॥

उदाहरण

ऊधोजू सूधो बिचार है धौं जु कछू समुझैं हमहूँ ब्रजबासी;
मानिहैं जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी ।
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग, कहाँ अबला मति है चपला-सी;
स्याम कहाँ अभिराम सरूप, कुरूप कहाँवहकूबरीदासी ॥२२२॥
मानहु आयो है राज कहूँ चढ़ि बैठ्यो है ऐसे पलास के खोढ़ैं;
गुंज गरै सिर मोरपखा 'मतिराम' हो गाय चरावत चोढ़ैं ।
मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा गहि हाथनि सौं रही चूनरी पोढ़ैं;
ऐसे ही डोलत छैल भए तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़ैं ॥
२२३॥*

द्वितीय विषम-लक्षण

जहाँ बरनिए हेतु ते उपजत काज बिरूप ।
और बिषम तहँ कहत हैं कबि 'मतिराम' अनूप ॥ २२४ ॥

उदाहरण

वारने सकल एक रोरी ही की आड़ पर,
हाहा[3] न पहरि आभरन और अंग मैं ;

---

१ मानि, २ कहैं, ३ यों ही ।

छं० नं० २२२ मानिहैं जो अनुरूप कहौ=अगर वाजिब बात कहोगे तो मानेंगी । जोग दो बार आया है एक बार उसका अर्थ है योग-साधन और दूसरी बार योग्य । अभिराम=सुंदर ।

* देखो रसराज उदाहरण बिब्बोक-हाव ।

कबि 'मतिराम' जैसे तीछन कटाच्छ तेरे,
ऐसे कहा सर हैं अनंग के निखंग मैं।
सहज सरूप सुथराई रीझ्यो मेरो मन,
डोलत है तेरी अदभुत[1] की तरंग मैं।
सेत सारी ही सौं सब सौतैं रँगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सौं स्याम रँगे लाल रंग मैं॥ २२५॥

तृतीय विषम-लक्षण

इष्ट अर्थ उद्यमहि ते जहँ अनिष्ट ह्वै जाय।
और बिषम बरनत तहाँ जे कबि कोबिद राय॥ २२६॥

उदाहरण

बिरह[2]आँच डरि मन सखी, घन सुंदर तन जाय।
दुगुन दाह बाढ़ै तहाँ, आपुहि जाय सिराय[3]॥ २२७॥

प्रथम सम-लक्षण

जहाँ दुहूँ अनुरूप को, कबिजन करत बखान।
तहाँ समुझि सम कहत हैं, जे सुरंग रस[4]-ज्ञान॥ २२८॥

उदाहरण

मोहन को मुखचंद अली निज नैन चकोरन को दरसावै;
लोचन भौंर गुपाल के आपने आनन बारिज बीच बसावै।

---

१ अचरज, २ ताप, ३ बिलाय, ४ सम सुरगुरु।

छं० नं० २२७ विरह-संताप से डरकर सखी शरीर में कपूर लगाती है पर उससे संताप दूना हो जाता है और फिर आप-ही-आप ठंडा हो जाता है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—नायिका विरहिणी है, इसलिये उसका शरीर संतप्त है। ऐसे शरीर में निवास करनेवाला मन डरकर घनश्याम (सरस कृष्ण) का स्मरण करता है, पर इससे दुःख और भी दूना हो जाता है। घन—घनसार=कपूर। छं० नं० २२९ मोहन का मुख चंद्र और मोहिनी के नैन चकोर, गोपाल के लोचन भौंर और नायिका का मुख कमल, सुवर्णांगी नायिका और लाल यह सब सम हैं।

तोतैं लहै 'मतिराम' महा छबि प्रानपियारे तैं तू छबि पावै ;
तो सजनी सबके मन भावै जु सोन[1]-से अंगनि लाल मिलावै ॥
२२९॥

द्वितीय सम-लक्षण

जहाँ हेतु ते काज को, बरनत उचित सरूप ।
बरनत तहँ सम औरऊ, जे कबि कोबिद भूप ॥ २३० ॥

उदाहरण

करत लाल मनुहारि[2] पै तू[3] न लखति इहि ओर ।
ऐसो उर जो कठोर तो उचितहि[4] उरज कठोर ॥ २३१ ॥*

तृतीय सम-लक्षण

ताकी सिद्धि अनिष्ट बिन, उद्यम जाके अर्थ ।
तासौं सम औरौ कहत, जे कबिराज समर्थ ॥ २३२ ॥

उदाहरण

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम' रहौ तित ही जित ही मन भायो;
काहे को सौहैं हजार करौ तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो[5] ।
सोवन दीजै न दीजै महा दुख यौं ही कहा रसबाद बढ़ायो;
मान रह्यौई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायो ॥
२३३ ॥†

विचित्र-लक्षण

जहाँ करत उद्यम कछू, फल चाहत बिपरीति ।
बरनत तहाँ बिचित्र कहि, जे कबित्त-रस-प्रीति ॥ २३४ ॥

उदाहरण

औरनि के तेज सीरे करिबे के हेत आँच,
करै तेज तेरो दिसि बिदिसि अपार मैं ;

---

१ सोने, २ प्रानपियारो पग परचो, ३ है, ४ न्यायहि, ५ ठायो ।

* देखो रसराज उदाहरण बिब्बोक-हाव ।

† दे० रसराज उदाहरण मध्या अधीरा ।

परमुख[1] अधिक अँधेरी करिबे कौं फैली,
जस की उजेरी तेरी जग के पसार मैं।
राव भावसिंह सत्रुसाल के सपूत यह,
अदभुत बात 'मतिराम' के बिचार मैं;
आय कै मरत अरि चाहत अमर भयो,
महाबीर तेरी खग्ग-धार गंगधार मैं ॥ २३५ ॥

प्रथम अधिक-लक्षण

जहाँ बड़े आधार तैं बरनत बढ़ि आधेय।
कहत सुकबिजन अधिक तहँ जिनकी बुद्धि अजेय[2] ॥ २३६ ॥

उदाहरण

जिनके अतुल बिलोकिए, पानिप पारावार।
उमड़ि चलत नित दृगनि भरि, तो मुखरूप अपार ॥ ३३७ ॥

द्वितीय अधिक-लक्षण

जहाँ बड़े आधेय तैं बरनत बढ़ि आधार।
तहाँ अधिक औरौ कहत कबिजन बुद्धि अपार ॥ २३८ ॥

उदाहरण

जाके कोस भीतर भुवन करतार ऐसो,
जाके नभिकुंड मैं कमल बिकसत है;
कहै 'मतिराम' सब थावर जंगम जग,
जाकी दिग्घ उदर-दरी मैं दरसत है।

---

१ परसुख, २ अमेय।

छं० नं० २३५ परमुख=शत्रुमुख। परमुख अधिक अँधेरी=शत्रुओं के मुख पर स्याही दौड़ जाती है अर्थात् वे निस्तेज हो जाते हैं। खग्ग-धार—खड्गधार=तलवार की धार। छं० नं० २३९ दिग्घ उदर-दरी—दीर्घ उदर=भारी पेट।

जाके एक-एक रोम कूपनि मैं कोटिन,
अनंत ब्रह्मांडनि को वृंद बिलसत है ;
राव भावसिंह तेरी कहाँ लौं बड़ाई करौं,
ऐसो बड़ो प्रभु तेरे मन मैं बसत है ॥ २३९ ॥

अल्प-लक्षण

जहँ सूछम आधेय तैं अति सूछम आधार।
अल्प अलंकृत कहत हैं कबिजन बुद्धि उदार ॥ २४० ॥

उदाहरण

मन जद्यपि अनुरूप है तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जनि भार ते निपट पातरी लंक ॥ २४१ ॥

परस्पर-लक्षण

जहाँ परस्पर उपकरत, तहाँ परस्पर नाम।
बरनत सब ग्रंथनि मते, कबि-कोबिद 'मतिराम' ॥ २४२ ॥

उदाहरण

तुहि राखी सखि लाल करि निज उर की बनमाल।
तैं राख्यो करि लाल निज कंठमाल को लाल ॥ २४३ ॥
कब की हौं देखति चरित्र निज आँखिन सौं,
राधिका रसीली स्याम रसिक रसाल के ;
'मतिराम' बरनै दुहूँनि के मुदित अति,
मन भए मीन-से अमृतमय ताल के।
इकटक देखैं लिए ब्रत-से निमेखनि के,
नेम किए मानौं पूरे प्रेम प्रतिपाल के ;

छं० न० २४१ भार—यद्यपि मन भी कटि के समान सूक्ष्म है फिर भी यह शंका लगी ही रहती है कि मन के भार से बिलकुल पतली कमर कहीं टूट न जाय; क्योंकि मन ४० सेर के भारवाले मन नाम के समान ही है।

लाल मुख-इंदु नैन बाल के चकोर,
बालमुख-अरबिंद, चंचरीक नैन लाल के ॥ २४४ ॥

प्रथम विशेष-लक्षण

जहाँ अधेय बखानिए बिन प्रसिद्ध आधार।
कबिजन तहाँ बिशेष कहि बरनत बुद्धि उदार ॥ २४५ ॥

उदाहरण

चलौ लाल वाकी दशा, लखौ कही नहिं जाय।
हियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराय ॥ २४६ ॥

द्वितीय विशेष-लक्षण

जहँ अनेक थल मैं कछू बात बखानत एक।
तहँ विसेष औरो कहत कबिजन बुद्धि बिबेक ॥ २४७ ॥

उदाहरण

मंदर बिंध्य सुमेर कलिंद[1] गिरिंदन कौं हिम-सैलहि साजै;
देवनदी सम तीनहु लोक पबित्र[2] करै सब जीव समाजै।
छाय रही 'मतिराम' कहै छिति-छोरनि छीरधि की छबि छाजै;
पूरब पछिम उत्तर दक्खिन भाऊ दिवान की कीरति राजै ॥
२४८ ॥

तृतीय विशेष-लक्षण

करत कछू आरंभ ते जहँ असक्य कछु और।
तहँ बिसेष औरो कहत कबि-कोबिद सिरमौर ॥ २४९ ॥

---

१ किंकिध, २ पुनीत।

छं० नं० २४४ लिए ब्रत-से निमेखनि के=मानो पलक न लगने देने का व्रत ले लिया हो। चंचरीक=भौंरा। छं० नं० २४६ हियरे… हिराय=नायिका के हृदय में आपकी स्मृति का निवास अब भी है पर स्वयं उसका हृदय न-जाने कहाँ खो गया है अर्थात् उसको आपकी याद तो बनी है पर हृदय ठिकाने नहीं है।

उदाहरण

छीरधि की छबि छिति-छोर चारचौं ओरनि मैं,
फैलि रह्यौ जस कुल ललित ललाम को ;
बखतबिलंद मुख सुंदर सरदचंद,
देखि करि गरदं गुमान होत काम को ।
बाढ़ै पुन्य ओघ अघमरषण आखरनि,
'मतिराम' करत जगत जप नाम को ;
सत्ता के सपूत राजऋषि भावसिंह कीन्हौं,
आपुने चरित्रनि प्रगट रूप राम को ॥ २५० ॥

प्रथम व्याघात-लक्षण

जो जैसो करतार, सो बिरुद्ध कारी जहाँ ।
बरनत सुमति उदार, तहाँ कहत व्याघात हैं ॥ २५१ ॥

उदाहरण

मोहन-लला कौं मनमोहनी बिलोकि बाल,
कसि करि[1] राखति है उमगे उमाह कौं ;
सखिनि की दीठि कौं बचाय कै निहारत है,
आनँद प्रबाह बीच पावति न थाह कौं ।
कबि 'मतिराम' और सबही के देखत ही,
ऐसी भाँति देखति छिपावति उछाह कौं ;
वे ही नैन रूखे-से लगत और[2] लोगनि कौं,
वेई नैन लागत सनेह-भरे नाह कौं ॥ २५२ ॥*

---

१ बिलोकिबे को दीठि गहि, २ लागत रुखाई भरे ।

छं० नं० २५० अघमरषण आखरनि—अघमर्षणाक्षर=पापनाशक मंत्र ।

* देखो रसराज उदाहरण प्रत्यक्ष-दर्शन ।

द्वितीय व्याघात-लक्षण

जहाँ क्रिया की सुकरता बरनत काज बिरोध।
तहाँ कहत व्याघात हैं औरौ बुद्धि-बिबोध ॥ २५३॥

उदाहरण

जु पै सखी ब्रज गाँव मैं घर-घर चलत[1] चवाव।
तौ हरिमुख लखि देति किन नैन चकोरनि चाव ॥२५४॥

प्रथम हेतुमाला-लक्षण

पूरब-पूरब हेतु जहँ, उत्तर-उत्तर काज।
तहाँ हेतुमाला कहत, कबि-कोबिद सिरताज ॥२५५॥

उदाहरण

मन प्रगटित हरि[2] प्रीति, प्रीति तिहिं तेज प्रकासिय ;
प्रबल तेज तिहिं जगत जीव रच्छा उल्लासिय।
तिहिं रच्छा बढ़ि धर्म, धर्म तिहिं संचित संपति ;
तिहिं संपति किय दान, दान तिहिं सुजस बिमल अति।
'मतिराम' सुजस दिन-प्रति[3] बढ़त, सुनत दुवन-उर फट्टियउ;
भुव भावसिंह सत्रुसालसुत[4] इहि बिधि चरित प्रगट्टियउ ॥२५६॥

द्वितीय हेतुमाला-लक्षण

उत्तर-उत्तर हेतु जहँ, पूरब-पूरब काज।
इहौ हेतुमाला कहत, कबिजन बुद्धि-जहाज ॥२५७॥

उदाहरण

दु:ख मूल गनि पाप पाप, कहँ कुमति प्रकासै;
कुमति मोह बिस्तरै, क्रोध मोहै उल्लासै।

---

१ सहज, २ अति, ३ दिन-दिन, ४ सुव।

छं० नं० २५३ सुकरता=सहज में हो जाने का काम। छं० नं० २५६ दुवन-उर=शत्रु-हृदय। फट्टियउ=फटता है। प्रगट्टियउ=प्रकट किया।

क्रोध लोभ कहँ रचै, काम कहँ लोभ करत पुनि;
संग जनित जग काम कहत 'मतिराम' बेदधुनि।
इहिं विधि बिबेक कर संग तजि सुमिरत मन संकर चरन।
संसार सकल संताप तजि लहत परम आनंद-घन ॥२५८॥

एकावली-लक्षण

एक अर्थ लै छोड़िए, और अर्थ लै ताहि।
अर्थ पाँति इमि कहत हैं, एकावली सराहि ॥२५९॥

उदाहरण

सुरजनसुत नृप भोज भूमि सुर-जन रच्छाकर;
भोज-तनय नृप रतन भोज सम दानि बिदितबर।
रतनपुत्र नृप नाथ रतन जिमि ललित जोतिमय;
नाथ नंद तिमि सत्रुसाल नरनाथ महोदय।
जग सत्रुसालनंदन नवल सत्रुन उर सालत रहिय;
नृपभावसिंह'मतिराम' कहि सुजस अमलप्रतिदिनलहिय॥२६०॥

मालादीपक-लक्षण

जहँ दीपक एकावली होत दुहुनि को जोग।
मालादीपक नाम तहँ वरनत सब[1] कबि लोग ॥२६१॥

उदाहरण

महाबीर सत्रुसाल नंद राव भावसिंह,
हाथ[2] मैं तिहारे खग्ग जीति को जमान है;
परम पुरुष परमेस्वर कृपा ते आज,
तिहारो सरूप रज लाज को निधान है।
अरनि के मुंडन सौं रावरो रिझायो हर,
कीन्हौ 'मतिराम' बकसीस को बखान है;

---

१ कहत है तहाँ सकल, २ कर।

छं० नं० २६२ ज़मान=ज़माना, जामन।

तुम पायो सुजस, सुजह गायो[1] कबि लोग,
पायो कवि लोगनि गयंदनि को दान है ॥२६२॥
कनक-बेलि मैं कोकननद, तामैं स्याम सरोज।
तिनमैं मृदु मुसकानि है, तामैं मुदित मनोज ॥२६३॥

सार तथा यथासंख्य-लक्षण

उत्तर-उत्तर उतकरष, सार कहत सग्यान।
यथासंख्य क्रम सौं कहैं, क्रम ही बहुरि बखान[2] ॥२६४॥

सार-उदाहरण

सैलनि कौ जग ऊँचे कहैं तिनमैं कनकाचल कौं स्तुति गावै ;
तापर ऊँचो पुरंदर मंदिर जो छबि बृंदनि सौं नभ छावै।
तापर यों 'मतिराम' बखानत ऊँचो मनोरथ दानि कहावै ;
दान मैं भाऊ के हाथ उचाई कौं सोऊ नहीं कलपद्रुम पावै ॥
२६५॥

यथासंख्य-उदाहरण

महाबीर सत्रुसाल-नंद राव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय-से ;
कहैं 'मतिराम' तेरे तेज पुंज लिए गुन,
मारुत औ मारतंड मंडल बिलोय-से
उड़त नवत टूटि फूटि मिटि फाटि जात,
बिकल सुखात बैरी दुखिन समोय-से ;
तूल-से तिनूका-से तरोबर-से तोयद-से,
तारा-से तिमिरि-से तमीपति-से तोय-से ॥२६६॥

---

१ पाए, २ निदान।

छं० नं० २६३ कोकनद=लाल कमल। छं० नं० २६६ मारतंड=सूर्य। बिलोय=मथकर। समोय=संयुक्त। तूल=रुई। तरोबर=वृक्ष। तोयद=बादल। तमीपति=चंद्र।

द्विविध पर्याय-लक्षण

कै अनेक है एक मैं, कै अनेक मैं एक।
रहत जहाँ पर्याय सो, है पर्याय बिबेक ॥२६७॥

एक में अनेक-उदाहरण

मृदु बोलत कुंडल डोलत कानन, कानन-कुंजनि ते निकस्यौ ;
बनमाल बनी 'मतिराम' हिए, पियरो पट त्यौं कटि मैं बिलस्यौ।
जब ते सिर-मोर-पषानि धरैं, चितचोरि चितै इत ओर हँस्यौ ;
जब तैं दुरि भाजि कै लाज गई अब लालचु नैननि आनि बस्यौ ॥
२६८॥

अनेक में एक-उदाहरण

सखी तिहारे दृगनि की सुधा मधुर मुसकानि।
बसी रहत निसिद्यौस हू अब उनकी अँखियानि ॥२६९॥

परिवृत्ति-लक्षण

घाटि बाढ़ि द्वै बात को जहाँ पलटिबो होय।
तहाँ कहत परिबृत्ति हैं कबि-कोबिद सब कोय ॥२७०॥

उदाहरण

मो मन मेरी बुद्धि लै, करि हर कौं अनुकूल।
लै त्रिलोक की साहिबी, दै अधूर के फूल ॥२७१॥
जोर दल जोरि साहिजादो, साहिजहाँ जंग,
जुरि मुरि गयो रही राव में सरम-सी[1] ;
कहै 'मतिराम' देवमंदिर बचाए जाके,
बर बसुधा मैं बेद, स्रुति-बिधि यौं बसी।
जैसो राजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा,
ऐसो और तूसरो भयो न जग मैं जसी ;

१ राव भावसिंह मैं बिजय-सी।
छं० नं० २७२ स्रुति-बिधि=वेद की रीति, कर्मकांड।

गायनि कौं बकसी कसाइनि की आयु[1] सब,
गायनि की आयु सो कसाइनि कौं बकसी ।।२७२।।

परिसंख्या-लक्षण

और ठौर ते मेटि कछु, बात एक ही ठौर ।
बरनत परिसंख्या कहत,कबि-कोबिद सिरमौर ।।२७३।।

उदाहरण

सोवत ही मोह-गुन, सुजस को लोभ,
तरुबरनि कौं छोभ जहाँ करत बयारिए ;
कहै 'मतिराम' एक मान बिना मानिनी,
सयान बिना चित्रनि के रूप निरधारिए ।
तुरंग चपल चंद्रमंडल बिकल बेला,
कुंद हैं बिफल जहाँ नीच गति बारिए ;
दानहीन कलभ कदलिदल कंपजुत,
राव भावसिंहजू के राज मैं निहारिए ।।२७४।।

---

१ मीचु ।

छं० नं० २७४ भावार्थ—राव भावसिंहजी के राज्य में अगर कोई काँपता है तो वह केले क पत्ता है (और सब निर्भय हैं), अगर कोई दान-हीन (जिसको पारितोषिक न मिला हो) है तो वह हाथी का बच्चा है (कलभ इस दृष्टि से दान-हीन है कि बच्चा होने से उसके दान—मदजल—नहीं बहता है), अगर कोई नीच-गामी है तो जल है, अगर कोई फलवान् नहीं है तो बेला और कुंद हैं, अगर किसी की कला क्षीण है तो वह चंद्रमा है, अगर किसी में चपलता है तो वह घोड़ा है, अगर कोई सज्ञान (सयान बिना) नहीं है तो वह चित्रों में बने स्वरूप हैं, अगर किसी का मान-मोचन (मान बिना) होता है तो वह मानिनी नायिका हैं, अगर कोई क्षुब्ध (छोभ) होता है तो वह वायु-विधूमित वृक्ष है, अगर किसी बात का लोभ है तो सुयश का और यदि कोई सुषुप्त है तो वह मोह है ।

विकल्प-लक्षण

सम बलजुत द्वै बात को बरनत जहाँ बिरोध।
कबि-कोबिद सब कहत हैं तहँ बिकल्प स्रुति[1] सोध ॥
२७५॥

उदाहरण

बिपिन-सरन कै चरन तकौ राव ही के,
चढ़ौ गिरि पर कै तुरंग परवर मैं ;
राखौ परिवार कौं कि आपनीये हठ राज-
संपति दै मिलौ कै नगारे दै समर मैं।
कहै 'मतिराम' रिपुरानी निज नाहनि सौं,
बौलैं यों डरानी, भावसिंहजू के डर मैं ;
बैर तौ बढ़ायो[2] कह्यौ काहू कौ न मान्यौ, अब
दाँतनि तिनूका कै कृपान गहौ कर मैं ॥२७६॥

प्रथम समुच्चय-लक्षण

बहुत भए इकबारगी, तिनको गुंफ जु होय।
ताहि समुच्चय कहत हैं, कबि-कोबिद सबकोय ॥२७७॥

उदाहरण

पाइ इकंत कै बाल सो बालम जो रति रूप कला दरसावै ;
नाहीं कढ़ै मुख नारि के नाह जहीं हिय सौं हियरो परसावै।
काम बढ़ौ 'मतिराम' तहीं[3] अति लाल[4] बिलासनि कौं सरसावै ;
जोवै-त्रसै, मन मोवै अनँद मैं, रोवै-हँसै रस कौं[5] बरसावै ॥
२७८॥

---

१ मति २ बैर तब ठान्यो, ३ तहाँ ४ लाज, ५ यों।

छं० नं० २७६ राजसंपति···समर मैं=या तो धन की भेंट लेकर मिलो या डंका बजाकर सम्मुख समर करो। दाँतनि तिनूक···गहौ= अत्यधिक दैन्य-भाव दिखलाओ। छं० नं० २७८ जोवै=देख। त्रसै= डरै। मन मोवै अनंद मैं=मन को आनंदयुक्त करती है।

द्वितीय समुच्चय-लक्षण

बहसि करत बहु हेतु जहँ एक काज की सिद्धि ।
इहौ समुच्चय कहत हैं जिनकी है मति सिद्धि[1] ।।२७९।।

उदाहरण

कुंदन के आँग माँग मोतिन सवारी सारी,
सोहत किनारीवारी केसरि के रंग की ;
कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना छोटी,
नथुनी बिराजै गजमुकतन संग की ;
कुसुम के हार हियो हरति कुसंभी आँगी,
सकै को बरनि आभा उरज उतंग की ;
जोबन जरब महा रूप के गरब गति,
मदन के मद मद मोकल मतंग की ।।२८०।।

कारक-दीपक-लक्षण

एकहि मैं क्रम सौं भए, तिनको गुंफ जु होय ।
सो कारक-दीपक कह्यौ, कबिन ग्रंथ मत जोय ।।२८१।।

उदाहरण

फिरि-फिरि आवति जाति भजि राति[2] मधुर मुसकाति ।
बाल लाल को ललित मुख लखि ललचाति लजाति ।।
२८२।।

समाधि-लक्षण

और हेतु के मिलन ते सुकरु होत जहँ काज ।
बरनत तहाँ समाधि है सकल सुकबि सिरताज ।।२८३।।

---

१ रिद्धि, २ अँगराति ।

छं० नं० २८० आँग=अंग । जरब—ज़रब=चोट ।

उदाहरण

आयो बसंत रसाल प्रफुल्लित कोकिल-बोलनि स्रौन सुहाई ;
भौंरनि को 'मतिराम' कियें गुन काम,प्रसून-कमान चढ़ाई ।
रावरो रूप लग्यौ मन मैं, तन मैं तिय के झलकी तरुनाई ;
धीर धरौ अकुलात कहा, अब तौ बलि बात सबै बनि आई ॥
२८४॥

प्रत्यनीक-लक्षण

प्रबल सत्रु के पक्ष पर, जहँ बिक्रम उल्लास ।
प्रत्यनीक तासौं कहत, कबिजन बुद्धि-बिलास ॥२८५॥

उदाहरण

तो मुख छबि-सौं हारि जग भयो कलंक समेत ।
सरद-इंदु अरबिंदमुखि अरबिंदनि दुख देत ॥२८६॥

काव्यार्थापत्ति-लक्षण

जो पै जीतौ यह कहा[1],इहिंबिधि जहाँ बखान ।
कहत काब्य पद[2] सहित तहँ[3], अर्थापत्ति सुजान ॥२८७॥

उदाहरण

बिंब-से अरुन अति अमल अधर पर,
मंद बिलसत चारु चाँदनी सुबास[4] है ;
कासौं जाय बरनि बनक नाक बेसरि की,
ललित बिलोकनि पै बिबिध बिलास है ;
कबि 'मतिराम' पाय सहज सुबास आस,
भौंरनि की भीर न तजत आस-पास है ;
कहा दरपन कैसैं पावत बदनजोति,
चंद जाको चेरो अरबिंद जाको दास है ॥२८८॥

---

१ पावै यो तो यह कहा, २ हित, ३ पद, ४ सुहासु ।

छं० नं० २८४ गुन=रस्सी । बलि=बलिहारी जाऊँ । इस छंद में कालिदास-कृत ऋतुसंहार के एक श्लोक का भाव है ।

अर्थांतरन्यास-लक्षण

कहि बिसेष सामान्य पुनि, कै सामान्य बिशेष ।
सो अर्थांतरन्यास हैं, बरनत मति उल्लेष ॥२८९॥

उदाहरण

रावरे नेह कौं लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए ;
डारि दियो गुरु लोगनि को डर गाँव चवाय मैं नाँव धराए ।
हेत कियो हम जो तो कहाँ तुम तो 'मतिराम' सबै बहराए[1] ;
कोऊ वकतेक उपाय करौ कहूँ होत हैं आपने, पीव पराए ।
२९०॥*

गुन औगुन कौं तनकऊ प्रभु नहिं करत बिचार ।
केतकि कुसुम न आदरत हर सिर धरत कपार ॥२९१॥

बिकस्वर-लक्षण

कहि बिसेष सामान्य पुनि, कहिए बहुरि बिसेष ।
कहत बिकस्वर नाम तहँ[2], जे कबि अति मति लेष ॥२९२॥

उदाहरण

मधुप मोह मोहन तज्यौ, यह स्यामन की रीति ।
करौ आपने काज लौं, तुम्हैं भाँति सौं[3] प्रीति ॥२९३॥

प्रौढ़ोक्ति-लक्षण

जो अहेतु उत्कर्ष को, ताहि बखानत हेत ।
प्रौढ़ो कति[4] तासौं कहत, जे कबि सुमति सचेत ॥२९४॥

उदाहरण

गंग-नीर बिधु-रुचि झलक, मृदु मुसकानि उदोति ।
कनक-भौन के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति ॥२९५॥

---

१ बिसारिए, २ सौ, ३ तुमौं जाति सौं, ४ प्रोढ़ उकति ।
*देखो रसराज उदाहरण परकीया खंडिता ।

संभावन-लक्षण

जो यौं होय तु होय यौं, जहँ संभावन होय।
संभावन तासौं कहत, बिमल ज्ञान मतिधोय[१] ॥२९६॥

उदाहरण

चलत सुभाय पाय पैजननि की झनक,
उर उपजन लागे केलि के कलोल हैं;
फूलनि के हार हियरे सौं हिरकनि लागे,
छलकन रस नैन तामरस लोल हैं;
स्रौन के सरोज के परस 'मतिराम' लाल,
कटकित होन लागे कोमल कपोल हैं;
तौ बनै बनाव मिलै जोबन मैं कहूँ नीके[२],
लोचन के, जोबन के बासर अमोल हैं ॥२९७॥

मिथ्याध्यवसति-लक्षण

एक झुठाई सिद्ध कौं झूँठो बरनत और।
तहँ मिथ्याध्यवसाय कौं[३] कहत सुमति मति-दौर ॥२९८॥

उदाहरण

खल-बचननि की मधुरता चाखि साँप निज स्रौन।
रोम-रोम पुलकित भए कहत मोद गहि मौन ॥२९९॥

ललित-लक्षण

बर्न्य बाक्य के अर्थ को, जहँ केवल प्रतिबिंब।
प्रस्तुत मैं बरनत ललित, निर्मल मति बिधु बिंब ॥३००॥

उदाहरण

मेरी सीख सिखै न सखि मोसौं उठै रिसाय।
सोयो चाहत नीद भरि सेज[४] अँगार बिछाय ॥३०१॥

---

१ सोय, २ वाके, ३ यौं, ४ अंग।

प्रथम प्रहर्षण-लक्षण

जहँ उत्कंठित अर्थ की बिन उपाय ही सिद्धि ।
तहाँ प्रहर्षन कहत हैं जे कबिजन मतिसिद्धि ॥३०२॥

उदाहरण

स्याम बसन मैं स्याम निसि दुरी न तिय की देह ।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि भौंर-भीर पिय-गेह ॥३०३॥
मनभावन के ब्याह की[1] सुनी सलौनी बात ।
आँगी मैन[2] उरोज अरु आनँद उर न समात ॥३०४॥

द्वितीय प्रहर्षण-लक्षण

जहँ मनइच्छित अर्थ ते अधिक सिद्धि 'मतिराम' ।
तहाँ प्रहर्षन औरऊ बरनत मति अभिराम ॥३०५॥

उदाहरण

चाहत सत पावत सहस, पावत हय चाहि ।
भावसिंह यौं दानि है, जगत सराहत जाहि ॥३०६॥
चित्र मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जिहिँ कोटि चंद सरद पुनीन के ;
मुसकानि अमल कपोलनि के रुचिबृंद,
चमकै तरचोननि के रुचिर चुनीन के ।
पीतम निहारचो बाँह गहत अचानक ही ,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के ,
गाढ़ै गही लाज मैं न कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन बारि-बरुनीन के ॥३०७॥*

---

१ सों, २ अँगिया में न ।

*देखो रसराज उदाहरण मध्या ।

तृतीय प्रहर्षण-लक्षण

जहाँ अर्थ की सिद्धि को जनतहि ते फल होय ।
इहौ प्रहर्षन कहत हैं कबि-कोबिद सब कोय ॥३०८॥

उदाहरण

हरि की सुधि कौं राधिका चली अली के भौन ।
हँसत बीच ही मिलि गए बरनि सकै कबि कौन ॥३०९॥

विषाद-लक्षण

मन इच्छित के अर्थ की प्रापति जहाँ बिरुद्ध ।
तहाँ बिषादहि कहत हैं जे कबिजन मति सुद्ध ॥३१०॥

उदाहरण

आवत मैं हरि कौं सपने लखि, नैसुक बाट सकोचन छोड़ी ;
आगे ह्वै आड़े भए 'मतिराम' चली सुचितै चष लालच ओड़ी ।
ओठनि को रस लैन कौं मोहन, मेरी गही कर कंपत ठोड़ी ;
और भटू न भई कछू बात, गई इतने ही मैं नींद निगोड़ी ॥
३११॥†

उल्लास-लक्षण

औरैं के गुन-दोष ते, औरै को गुन-दोष ।
बरनत यौं उल्लास हैं, जे पंडित मतिकोष ॥३१२॥

गुण से गुण-उदाहरण

गुच्छन के अवतंस लसैं सिषि-पच्छनि अच्छ किरीट बनायो ;
पल्लव लाल समेत छरी कर पल्लव-से 'मतिराम' सुहायो ।
गुंजन के उर मंजुल हार निकुंजनि ते कढ़ि बाहिर आयो ;
आजु को रूप लखे ब्रजराज को आजु ही आँखिन को फल पायो ॥
३१३॥‡

---

†देखो रसराज उदाहरण स्वप्न-दर्शन ।

‡देखो रसराज उदाहरण नायक ।

दोष से दोष-उदाहरण

मंत्रिन के बस जो नृपति, सो न लहत सुखसाज़ ।
मनहि बाँधि दृग देत हैं, मन कुमार कौं राज ॥३१४॥

गुण से दोष-उदाहरण

दुख न मानि जो तजि चल्यो, जानि अँगार गँवार ।
छितिपालन की माल मैं, तैं ही लाल सिँगार ॥३१५॥

दोष से गुण-उदाहरण

दधि छुड़ाय मोहन लियो सखी, सघन बन ठौर ।
बड़ो लाभ मन मैं गुन्यौं जो न कियो कछु और ॥३१६॥

अवज्ञा-लक्षण

औरै के गुन दोष ते औरै के गुन दोष ।
जहँ न अवज्ञा तहँ कहत कबिजन बुद्धि अदोष ॥३१७॥

उदाहरण

रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए ;
डारि दिए गुरु लोगनि को डर गाँव चवाय मैं नाव धराए ।
हेत कियो हम जो तो कहाँ तुम तौ 'मतिराम' सबै बहराए;
कोऊ कितेक उपाय करौ कहूँ होत है आपने, पीव पराए ॥
३१८॥†

मेरे दृग बारिद बृथा, बरषत बारि प्रबाह ।
उठत न अंकुर नेह को, तो उर ऊसर माह ॥३१९॥‡

छं० नं० ३१४ भावार्थ—जो राजा मंत्रियों के वश में रहते हैं उन्हें सुख नहीं मिलता । देखो मन नेत्रों के वश में था सो उन्होंने उसको बाँधकर उसके कुमार मनोज को राज्य दे दिया है ।

†देखो रसराज-परकीया खंडिता उदाहरण तथा ललितललाम, अर्थांतरन्यास ।

‡देखो रसराज उदाहरण शिक्षा ।

कहा भयो जो तजत है मलिन मधुप दुख मानि ।
सुबरन बरन सुबासजुत चँपक लहै न हानि ॥३२०॥

अनुज्ञा-लक्षण

करत दोष की चाह जहँ ताही मैं गुन देखि ।
तहाँ अनुज्ञा कहत हैं कबिजन ग्रंथनि लेखि ॥३२१॥

उदाहरण

मोर पखानि किरीट बन्यो मुकुतानि के कुंडल स्रौन बिलासी;
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' सु क्यौं बिसरै मुसकानि सुधा-सी ।
काज कहा सजनी कुलकानि सौं लोग हँसैं सिगरे ब्रजबासी;
मैं तौ भई मनमोहन को मुख चंद लखैं बिन मोल की दासी ॥
३२२॥

क्यौं इन आँखिन सौं निरसङ्क ह्वै मोहन को तन पापिन पीजे ।
नैक निहारें कलंक लगै इह गाँव बसें कहो कैसे कै जीजे ।
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजे;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजे ॥
३२३॥†

लेस-लक्षण

जहाँ दोष गुन होत है, जहाँ होत गुन दोष ।
तहाँ लेस यह नाम कहि, बरनत कबि मति कोष ॥३२४॥

दोष से गुण-उदाहरण

कत सजनी ह्वै अनमानो, अँसुवा भरति ससंक ।
बड़े भाग नँदलाल सौं, झूठहु लगत कलंक ॥३२५॥

छं० नं० ३२२ मैं तौ भई···दासी=मैं तो मनमोहन का मुखचंद्र देखकर उनकी विना दामों की चेरी हो गई हूँ ।

†देखो रसराज परकीया उदाहरण ।

गुण से दोष-उदाहरण

प्रतिबिंबित तो बिब मैं भूतल भयो कलंक।
निज निर्मलता दोष यह मन में मानि भयंक ॥३२६॥

मुद्रा-लक्षण

प्रकृत अर्थ पर पदनि सौं सुद्ध प्रकासत अर्थ।
मुद्रा तासौं कहत हैं कबि 'मतिराम' समर्थ ॥३२७॥

उदाहरण

देह दीप दीपति दिपै बदन-चंद की जोति।
दामिनि दुति मुसकानि मृदु सुख की खानि उदोति ॥३२८॥

रत्नावली-लक्षण

प्रस्तुत अर्थनि को जहाँ क्रम तैं थापन होय।
तहाँ कहत रत्नावली कबि रस बुद्धि समोय ॥३२९॥

उदाहरण

जीतय जे रावत ऐरावत सौं जंग अंग,
पुंडरीक के गनत पुंडरीक छद हैं;
बामन बामन, मृदु कुमुद कुमुद गनै,
अंजन के जैतवार अंजन से कद हैं।
पुष्पदंत हू के दंत तोरचो ज्यौं पुहुप सार,
छीन लेत सार्बभौम हू के सदा मद हैं;
प्रबल प्रतीक सुप्रतीक के जितैया रैया,
राव भावसिंह तेरे दान के दुरद हैं ॥३३०॥

छं० नं० ३२८ दिपै=प्रकाशित होती है। छं० नं० ३३० ऐरावत, पूंडरीक, बामन, कुमुद, अंजन, पुष्पदंत, सार्वभौम तथा सुप्रतीक अष्ट दिग्गज के नाम हैं।

तद्गुण-लक्षण

जहाँ आपनौ रंग तजि लेत और को रंग ।
तदगुन तहँ बर्नन करत जे कबि बुद्धि उतंग ।।३३१।।

उदाहरण

हीरनि मोतिन के अवतंसनि सोने के भूषन की छबि छावै ।
हार चमेली के फूलन के तिन में रुचि चंपक की सरसावै ।
अंग के संग तैं केसरि रंग की अंबर सेत मैं जोति जगावै;
बाल छबीली छपायें छपै नहिं लाल कहौ अब क्यों करि आवै ।।
३३२।।

प्रथम पूर्वरूप-लक्षण

जहाँ और को रंग तजि बहुरि आपनौ लेत ।
बरनत पूरबरूप तहँ कबि 'मतिराम' सचेत ।।३३३

उदाहरण

मुकुत-हार हरि के हिए, मरकत मनिमय होत ।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत ।।३३४।।

द्वितीय पूर्वरूप

प्रगटित पूरब दसहि को जहँ अनुबर्तन होत ।
दूजो पूरब रूप तहँ बरनत पंडित गोत ।।३३५।।

उदाहरण

बदन चंद की चांदनी, देह दीप की जोति ।
राति बिते हू लाल, वहि भौन राति-सी होति ।।३३६।।

अतद्गुण-लक्षण

जहाँ संग मैं और को रंग कछू नहिं लेत ।
तहाँ अतदगुन कहत हैं कबिजन बुद्धिनिकेत ।।३३७।।

छं० नं० ३३२ अवतंस=कर्णफूल ।

उदाहरण

लाल बाल[1] अनुराग सौं रँगत रोज सब अंग ।
तऊ न छोड़त रावरो, रूप साँवरो रंग ॥३३८॥

अनुगुण-लक्षण

सम रुचि संगति और के, बढ़त आपनौं रंग ।
अनुगुन तासों कहत हैं, जे कबि बुद्धि उतंग ॥३३९॥

उदाहरण

बिरी अधर, अंजन नयन, मँहदी पग अरु पानि ।
तन कंचन के आभरन, लसत सरस छबि खानि[2] ॥३४०॥

मीलित-लक्षण

एक रूप ह्वै जाति मिलि, जहाँ होत नहिं भेद ।
बरनत मीलित हैं तहाँ, जिनकी बानी बेद ॥३४१॥

उदाहरण

अंगनि मैं चंदन चढ़ाय अंगराग सेत[3],
सारी छीर-फेन की-सी आभा उफनाति है;
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरनि,
कुसुम-कलित केस सोभा सरसाति है ।
कबि 'मतिराम' प्रान प्यारे कौं मिलन जाति[4],
करि कै मनोरथनि मृदु मुसकाति है;
होति ना लखाई निसि चंद की उज्यारी मुख,
चंद की उज्यारी तन छाहौं छपि जाति है ॥३४२॥*

---

१ चित्त, २ नीठि परति पहिचानि, ३ चंदन कपूर अंगराज जुत अंग सेत, ४ चली ।

छं० नं० ३३८ भावार्थ—नायिका अपने अनुराग (लाल वर्ण) से नित्य रँगती है फिर भी आपका स्वरूप अपना काला रंग नहीं छोड़ता है ।

* देखो रसराज उदाहरण शुक्लाभिसारिका ।

सामान्य-लक्षण

भिन्न रूप हू मैं जहाँ पैए कछू न बिसेष।
तहाँ कहत सामान्य हैं पंडित लोग असेष ॥३४३॥

उदाहरण

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी
केसरि[1] को अंगराग कीन्हौं सब तन मैं;
तीछन तरनि की किरिनि तैं दुगुन जोति
जागति जवाहिर जटित आभरन मैं।
कबि 'मतिराम' आभा अंगनि अंगारनि की
धूम कैसी धारा छबि छाजति कचन मैं;
ग्रीषम दुपहरी मैं हरि कौं मिलन चली
जानी जाति नारि ना दवारिजुत बन मैं ॥३४४॥*

उन्मीलित-विशेष-लक्षण

जहँ मीलित सामान्य मैं, पैयत भेद बिसेष।
उन्मीलित सबिसेष कबि, बरनत मति उल्लेष ॥३४५॥

उन्मीलित-उदाहरण

सरद चाँदनी मैं प्रगट होत न तिय के अंग।
सुनत मंजु मंजीर धुनि सखी न छोड़ति संग ॥३४६॥

विशेष-उदाहरण

आई फूलनि लैन कौं, चलो बाग मैं लाल।
मृदु बोलनि सौं जानिए, मृदु बेलिनि मैं बाल ॥३४७॥

---

१ कुंकुम।

* देखो रसराज उदाहरण दिवाभिसारिका।

गूढ़ोत्तर-लक्षण

अभिप्राय सौं सहित जो उत्तर कोऊ देय।
तिहिँ गूढ़ोत्तर कहत हैं सुकबि सरस्वति सेय ॥३४८॥

उदाहरण

ग्वालिन देहु बताइ हौं, मोहिं कछू तुम देहु।
बंसीबट की छाँह मैं, लाल जाय लखि लेहु ॥३४९॥

प्रथम चित्र-लक्षण

जहँ बूझत कछु बात कौं, उत्तर सोई बात।
चित्रकहत 'मतिराम कबि', सकल सुमति अवदात ॥३५०॥

उदाहरण

सरद-चंद की चाँदनी, को कहिए प्रतिकूल ?
सरद-चंद की चाँदनी, कोक हिए प्रतिकूल ॥३५१॥

द्वितीय चित्र-लक्षण

बहुती बातनि को जहाँ उत्तर दीजे एक।
चित्र बखानत हैं तहाँ कबि जन बुद्धिबिबेक ॥३५२॥

उदाहरण

को हरि-बाहन जलधि-सुत, को है ज्ञान-जहाज।
तहाँ चतुर उत्तर दियो, एक बचन द्विजराज ॥३५३॥

सूक्ष्म-लक्षण

जानि पराए चित्त की ईहा जो आकूत।
होय जहाँ, सूच्छम तहाँ कहत सुकबि पुरहूत ॥३५४॥

छं० नं० ३५१ कोक=चकवा। छं० नं० ३५३ हरि-बाहन=गरुड़=द्विजराज। जलधि-सुत=चंद्रमा=द्विजराज। ज्ञान-जहाज=ब्राह्मण=द्विजराज। छं० नं० ३५४ ईहा=इच्छा। आकूत=चेष्टा समेत आशय समझाने का उद्योग।

उदाहरण

लाल सखीनि मैं बाल लखी 'मतिराम' भयो उर आनँद भीनौं;
हाथ दुहूनि सौं चंपक गुच्छिनि को जुग छाती लगाय कै लीनौं।
चंद-मुखी मुसकाय मनोहर हाथ उरोजनि अंतर दीनौं;
आँखनि मूँदि रही मिसि कै ढाँपि निचोल को अंचल कीनौ॥३५५॥

पिहित-लक्षण

जानि पराई बृत्ति जहँ, क्रिया सहित आकूत।
तहाँ पिहित बर्नन करत, जे कबि सुमति सपूत॥३५६॥

उदाहरण

और तिया सँग कुंजबिहारी रह्यौ निसि मैं बसि कै रसभीनौ;
प्रात समै 'मतिराम' बखानत राधिका-मंदिर आवन कीनौ।
बोली न बोल कछू लखि कै घनसुंदर को पट नील नबीनौ;
अंबर केसरि रंग रँग्यौ मुसकाय के मोहन के कर दीनौ॥३५७॥*

व्याजोक्ति-लक्षण

और हेतु बचननि[1] जहाँ, आकृति गोपन होय।
ब्याज उक्ति तहँ कहत कबि, ग्रंथ-समुद्र बिलोय॥३५८॥

---

१ रचननि।

छं० नं० ३५५ निचोल=ऊपर से ढकने का वस्त्र। भावार्थ—नायक ने दो चंपक पुष्पों के गुच्छों को छाती से लगाकर प्रकट किया कि मैं तेरा आलिंगन करना चाहता हूँ। नायका ने उरोजों के नीचे हाथ ले जाकर बताया कि तुम हृदय में बसते हो, आँख मूँदकर जाहिर किया कि रात को मिलना (कमल बंद होने पर) और रात में किस समय मिलना होगा यह बात मुख पर परदा डालकर प्रकट की गई अर्थात् जब चंद्रमा अस्त हो जाय (मुखचंद्र छिप जाय)।

*देखो रसराज उदाहरण उत्तमा नायिका।

उदाहरण

लैन गई हुती बागहिं फूल अँध्यारी लखे डर बाढ़्यौ तहाँई ;
रोम उठे तन कंप छुट्यो 'मतिराम' भई स्रम की सरसाई ।
बेलिनि सौं उरझी अँगिया छतियाँ अति कंटनि की छतछाई;
देह मैं नेकु सम्हार रह्यौ नहीं ह्याँ लगि भागि मरूकरि आई ॥
३५९॥*

गूढ़ोक्ति--लक्षण

कहिबे जो कछु और सों कहै और सों बोल ।
गूढ़ उक्ति[1] तासों कहत जिनकी बुद्धि अमोल ॥३६०॥

उदाहरण

यौं न प्यार बिसराइए, लई[2] मोहि तैं मोल ।
मुख निरखत नँदलाल को, कहै सखी सौं बोल ॥३६१॥

विवृतोक्ति-लक्षण

जहाँ श्लेष सों[3], गुप्त सों,[4], सुकबि प्रकासत अर्थ ।
विवृतोक्ति तहँ कहत हैं, जे कबि[5] सुमति समर्थ ॥२६२॥

उदाहरण

आई है निपट साँझ, गैया गई घर माँझ,
हातें दौरि आई कहै, मेरो काम कीजिए;
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
बन की अँध्यारी सौं अधिक भय भीजिए ।
कबि 'मतिराम' मनमोहन सों पुनि-पुनि,
राधिका कहति बात साँची कै पतीजिए;
कब की हौं हेरति न हेरें हरि पावति हौं,
बछरा हिरान्यो सो हिराय नैक दीजिए ॥३६३॥†

---

१ उकति, २ लियो, ३ को, ४ जो, ५ जग ।

* देखो रसराज उदाहरण सुरतगुप्ता ।

† देखो रसराज उदाहरण वचनविदग्धा ।

युक्ति-लक्षण

मरम[1] छपावन कौं जहाँ, क्रिया आन संधान।
तहाँ जुक्ति बरनन करत, कबि कोबिद सग्यान ॥३६४॥

उदाहरण

लेन कौं फूल निकुंजन माँझ गयो मिलि गोपिन को गन भायो;
नंदलला तिय के हिय मैं 'मतिराम' तहाँ दृगबान खुभायो।
गेह चलीं सखियाँ सगरी चित सुंदर साँबरे-रूप लुभायो;
आँखिन पूरि कटीले कपोलनि कँटक कोमल पाय चुभायो॥३६५॥

लोकोक्ति तथा छेकोक्ति-लक्षण

जहँ कहनावति अनुकरन, लोक उक्ति 'मतिराम'।
और अर्थ लीन्हें सु जो, छेक उक्ति अभिराम ॥३६६॥

लोकोक्ति-उदाहरण

मोहन कों मुखचन्द[2] लखें बढ़ि आनँद आँखिन ऊपर आवै;
रोम उठै 'मतिराम' कहै तनु चारु कदंब-लता छबि छावै।
बूझति हौं हित कै सखि तोहिं कहा रिस कै यह भौंह चढ़ावै;
मैं तृन[3] सो गन्यो तीनहु लोकनि तू तृन ओट पहार छपावै॥३६७॥

छेकोक्ति-उदाहरण

छिति, नीर, कृसानु, समीर, अकास, ससी, रबि होत निरूप धरै;
अरु जागत सोवत हू 'मतिराम' सु आपनी जोति प्रकास करै;
जग ईस अनादि अनंत अपार वहै सब ठौरनि मैं बिहरै;
सिगरे तनु[4] मोह मैं मोहि रहे तृन[5] ओट पहार न देखि परै॥३६८॥

---

१ सरम, २ रूप, ३ तिन, ४ नर, ५ तिन।

छं० नं० ३६५ खुभायो=गड़ा दिया। आँखिनि पूरि...चुभायो= आँखों में अश्रु सात्त्विक और कपोलों पर रोमांच सात्त्विक हुआ था इसे छिपाने के लिए नायिका ने पैर में काँटा चुभा लिया। छं० नं० ३६७ भावार्थ—मैं तीनों लोकों को तिनके के समान समझती हूँ और तू पहाड़ को तिनके की ओट छिपाना चाहती है अर्थात् मुझसे संसार का कोई भेद छिपा नहीं है और उसीसे तू अपना प्रेम छिपाती है।

वक्रोक्ति-लक्षण

श्लेष, काकु सों अर्थ की, रचना और जु होय ।
बक्र उक्ति सों जानिए, ग्यान सलिल मति धोय ।।३६९।।

श्लेष-उदाहरण

मेरे मन तुम बसत हौ, मैं न कियौ अपराध ।
तुम्हैं दोष को देत हरि, है यह काम असाध ।।३७०।।

काकु-उदाहरण

आज कहाँ तजि बैठी हौ भूषन ऐसे ही अंग कछू अरसीले ;
बोलत बोल रुखाई लियें 'मतिराम' सनेह सने हौ सुसीले ।
क्यौं न कहै दुख प्रानपिया अँसुवानि रहे भरि नैन लजीले ;
कौन तिन्हैं दुख है जिनकै तुम-मे मनभावन छैल छबीले ।।
३७१।।*

जाति-लक्षण

जाको जैसो होय सो बरनत जहा सुभाव ।
तहाँ जाति यह नाम कहि बरनत सब कबिराव ।।३७२।।

उदाहरण

जानत जहान ऐंड़ करि सुलताननि सौं,
कीनौ कछवाह कामधुज को बचाव है ;
देत 'मतिराम' भाट चारन कबिन जौन,
कौन पै गनायो जात गज समुदाव है ।
तेग त्याग सालिम सपूत सत्रुसालजू की,
खीझें रन रुद्र रीझें माज दरियाव हैं ;
साहनि सौं अकसिबो हाथिन को बिकसिबो,
राव भावसिंहजू को सहज सुभाव है ।।३७३।।

छं० नं० ३७३ अकसिबो=झगड़ा करना ।

*देखो रसराज उदाहरण मध्याधीराधीरा

भाविक-लक्षण

जहाँ भयो भावी अरथ, बरनत हैं परतच्छ ।
तहँ भाविक सब कहत हैं, जिनकी मति है अच्छ ॥३७४॥

उदाहरण

निसि दिन स्रौननि पियूष सो पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को ;
तरनि-तनूजा-तीर बन कुंज बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखति हैं रूप छबिधाम को ;
कबि 'मतिराम' होत हाँतो न हिए ते नैंक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को ;
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो बियोग होय स्याम को ॥३७५॥
जनि चलाइए चलन की चरचा स्याम सुजान ।
मैं देखति हौं वाहि यह बात सुनत बिन प्रान ॥३७६॥

द्विविध उदात्त-लक्षण

संपति को अधिकार जो, अरु उपलक्षण और ।
सो उदात्त द्वै भाँति को, बरनत कबि सिरमौर ॥३७७॥

उदाहरण

पुहुमि को पुरहूत सत्रुसाल को सपूत,
संगर फतूहैं सदा जासौं अनुरागती[१] ;
दान देत रीझ मैं दिवान भावसिंहजू कौं,
धनद के धाम की तनक निधि लागती ।

---

१ संसार की सिरी सदा जासों अनुरागती ।

छं० ३७४ परतच्छ=प्रत्यक्ष । छं० नं० ३७५ नाद=शब्द । तरनि-तनूजा=यमुना ।

कहै 'मतिराम' मजलिस मैं महीपनि की,
कबिन की बानी हाड़ा सुजस मैं पगाती ;
जेती[1] और राजनि के राजनि मैं संपति है,
तेती रोज राव कै चिराकैं जोति जागती ।।३७८।।
पियुष-पयोधि मद्ध मननि सौं बद्ध भूमि,
रोध सौं रुचिर रुचि रोचक रवन मैं ;
कामतरु बिपिनि कदंब उपबन सीरो,
सुरभि पवन डोलै मृदु-सी गवन मैं ।
चिंतामनि मंडप बिराजै जगदंब सदा,
सावधान 'मतिराम' सेवक सेवन मैं ;
लंपट - लुबुध मन भव मैं भँवत कहा,
करि भूरि भावना भवानी के भवन मैं ।।३७९।।

उपलक्षण-उदाहरण

निकसत जीवहिं बाँधि कै तासौं राखति बाल ।
जमुनातट वा कुंज में तुम जु दई बनमाल ।।३८०।।

अत्युक्ति-उदाहरण

जो सुंदरतादिकनि की अधिक झुठाई होय ।
ताहि कहत अत्युक्ति हैं कबि पंडित सब कोय ।।३८१।।

---

१ एती ।

छं० नं० ३७८ राजनि मैं=राज्य में । चिराकैं=दीपक । छं० नं० ३७९ गवन=गति । लुबुध—लुब्ध=लोभी । छं० नं० ३८० निकसत ···बनमाल=जमुनाजी के किनारे उस कुंज में तुमने जो वनमाला उसको दी थी उससे उसने निकल भागने का उद्योग करनेवाले जीव को बाँध रक्खा है अर्थात् वह तुम्हारी उस माला की बदौलत जीती है ।

उदाहरण-सवैया

ललित बिलास कोटि मंद मृदुहास अति,
अंग की सुबास[1] मृगमद-बास मंद की ;
मदन के मद उनमद नैन मंदिर मैं[2],
गति गरबीली कद मोकल गयंद की।
जोबन की जोति जगमग होत 'मतिराम',
लोचन चकोरनि की संपति अनंद की ;
अधिक अँध्यारी मैं उज्यारी होत ज्यौं-ज्यौं कछू,
चंदकी[3] उजारी मैं उजारी मुख चंद की ॥३८२॥
बाल-बिलोचन बारि के बारिधि बढ़ै अपार।
जारै जो न बियोग की बड़वा नल की झार ॥३८३॥

निरुक्ति-लक्षण

जहाँ जोग ते नाम की अर्थ कल्पना और।
बरनत तहाँ निरुक्ति हैं कवि कोबिद सिर मौर ॥३८४॥

उदाहरण

मोहनि मंत्रनि मनमोहन कियौ तैं बस,
बारन ज्यौं बाँधि राखै तामरस ताग सौं ;
कबि 'मतिराम' आली अलि सों गुबिंद कीन्हौं,
मंडित चरन-अरबिंद के पराग सौं।
ऐसो पति पायो[4] बड़े भागिन सौं प्यारी[5] सदा,
सुबरन ही कौं पघिलावत सुहाग सौं ;

---

१ अभिराम, २ से, ३ होत चंद की त्यों, ४ प्यारी, ५ पायो।

छं० नं० ३८५ तामरस ताग=कमल का तार। बारन=हाथी। सुबरन ही कौं···सुहाग सौं=अपने सौभाग्य से सुंदर नायक को वश में कर रक्खा है। श्लेष से—जैसे सुहागे से सोना पिघला दिया जाता है।

स्याम-स्याम कहिए सिंगार रस राच्यौ[1] ताते,
लाल-लाल कहिए रँग्यो है अनुराग सौं ।।३८५।।
ह्वै कै डहडहे दिन समता के पायें बिन,
साँझ सरसिजनि सरमि सिर नायो है ;
निसा भरि निसापति करि कै उपाय बिन
पायें रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है ।
कहै 'मतिराम' तेरे बदनि बराबरि को,
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है ;
दरपन न रह्यौ ताते दरपन कहियत,
मुकर परत ताते मुकुर कहायो है ।।३८६।।

प्रतिषेध-लक्षण

जहाँ प्रसिद्ध निषेध को अनुकीरतन प्रकास ।
तहाँ कहत प्रतिषेध हैं कबिजन बुद्धिबिलास ।।३८७।।

उदाहरण

ऐसी करौ करतूति बलाय ल्यौं नीकी बड़ाई लहौ जग जातें ;
आई नई तरुनाई तिहारी ही ऐसे छके चितवौं दिन-रातैं ।
लीजिए दान हौं दीजिए जान तिहारी सबै हम जानती घातें ;
जानौं हमैं जनि वै बनिता जिनसौं तुम ऐसी करौ बलिबातें ।।
३८८।।

विधि-लक्षण

जहाँ सिद्धि ही बात को, करत प्रसिद्ध बखान ।
बिधि भूखन तहँ कहत हैं, सकल सुकबि सग्यान ।।३८९।।

---

१ रँग्यो, २ बिना ।

श्रृंगार का रंग काला और अनुराग का लाल माना गया है । छं० नं० ३८६ डहडहे=प्रफुल्लित । बिरूप=विगत रूप, सौंदर्य-विहीन । आदरस—आदर्श=दर्पण । दरप न=अभिमान-हीन । मुकर परत=फिर जाना । मुकुर=दर्पण ।

उदाहरण

कोप करि संगर मैं खग्ग कौं पकरि कै,
बहायो बैरि-नारिन को नैन-नीर-सोत है ;
कहै 'मतिराम' कीन्हौं रीझि कै निहाल मही-
पालनि के रूप सब गुनिन को गोत है।
जागै जग साहिब सपूत सत्रुसालजू को,
दस हूँ दिसानि जस अमल उदोत है ;
खलनि के खंडिबे कौं मंगनि के मंडिबे कौं,
महाबीर भावसिंह भावसिंह होत है ॥३९०॥

हेतु-लक्षण

जहाँ हेतुमत साथ ही कीजे हेतु बखान ।
तहाँ हेतु भूषन करत कबि 'मतिराम' सुजान ॥३९१॥

उदाहरण

और सकै कहि को 'मतिराम' सतासुत के बरनै गुन बानी ;
राव सही दरियाव जहान को आय जहाँ ठहरात है पानी ।
काम-तरोवर, धेनु औ पारस नैकु न मंगन के मन मानी ;
दारिद-दैत्य बिदारिबे[1] कौं भई भाऊ दिवान की रीझि भवानी ॥
३९२॥

दरपन मैं निज रूप लखि, नैननि मोद उमंग ।
तियमुख पियबस करन को, बढ़्यो गर्ब को रंग ॥३९३॥

---

१ बिदारन ।

छं० नं० ३९० संगर=युद्ध । खग्ग—खड्ग=तलवार । छं० नं० ३९२ काम तरोवर···मानी=भिक्षुक लोगों की निगाह में कल्पवृक्ष, कामधेनु और पारस पत्थर कुछ नही जँचते हैं । दारिद=दारिद्र्य ।

द्वितीय हेतु-लक्षण

जहाँ हेतुमत हेतु को बरनत एक सरूप।
तहाँ हेतु ओरौ कहत, सब कबि, पंडित-भूप ॥३९४

उदाहरण

नैननि को आनंद है जिय की जीवनि जानि।
प्रगट दरप कंदर्प को तेरी मृदु मुसकानि ॥३९५॥

तृतीय हेतु-लक्षण

जहँ समर्थिबो अर्थ को प्रगट समर्थन होय।
तहाँ हेतु औरौ कहत कबि कोबिद सब कोय ॥३९६॥

उदाहरण

भौंह कमान कै, लोचन-बान कै लाजनि मारि रहै बिसवासी;
गोल कपोलनि केलि करै भयो कुंडल लोल हिंडोल[1] बिलासी।
कोट किरीट, किए 'मतिराम' करै चढ़ि मोर पखानि मवासी;
क्यौं मन हाथ करौं सजनी बनमाल मैं बैठि भयो बनबासी ॥३९७॥

देखि महिपालनि की कंपति है छाती ऐसी,
संपति सहित देत जाचकनि दान[3] है;
देत सरनागत नरेसनि अभयदान,
महाबीर बैरिन कौं देत भयदान हैं।
कहै 'मतिराम' दिल्लीपति कौं बड़ाई देत,
सत्रुसाल नंद बलाबंध सुलतान है;
राव भावसिंहजू को सुजस बखानियत,
लीबे को जहान सब दीबे कौं दिवान है ॥३९८॥

---

१ डोलहि डोल, २ पैठि, ३ मान।

छं० नं० ३९५ कंदर्प=कामदेव। छं० नं० ३९७ हिंडोल बिलासी=हिंडोला झूलनेवाला। मवासी=डकैती।

समाप्ति

रुचिर अर्थ भूषन इतें[1], रचि जानै 'मतिराम'।
ताकी बानी जगत मैं, बिलसै अति अभिराम ॥३९९॥

आशीर्वाद

जब लगि कच्छप,-कोल-सहसमुख धरनि-भारधर ;
जब लगि आठौं दिसनि दिग्ध सोभित दिग्गज बर।
जब लगि कबि 'मतिराम' सगिरि सागर महिमंडल ;
अनिल अनल जब लग्गि, जोति मंडल आखंडल।
नृप सत्रुसाल नंदन नवल भावसिंह भूपालमनि।
जग चिरंजीव तब लगि सुखद कहत सकल संसार धनि ॥४००
कंठ करै सो सभनि मैं, सोभै अति अभिराम।
भयो सकल संसार हित, कबिता 'ललितललाम' ॥४०१॥

---

१ जिते।

छं० नं० ४०० कोल=वाराह। सहसमुख=शेषजी। दिग्ध=भारी, सुंदर। अनिल=हवा। अनल=अग्नि। आखंडल= इंद्र।

मतिराम–सतसई

वंदना

मो मन तम-तोमहि हरौ, राधा को मुख-चंद।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नँद-नंदन आनंद॥ १ ॥
मुंज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंजबिहारी बिहरियै, मेरेई मन-कुंज॥ २ ॥
रति नायक सायक सुमन, सब जग जीतन वार।
कुबलय दल सुकुमार तन, मन कुमार जय मार॥ ३ ॥
राधा मोहन लाल को, जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस, ताकी आँखिनि खेह॥ ४ ॥

सुन्दरी-वर्णन

नागरि-नैन-कमान-सर, करत न ऐसी पीर।
जैसें करत गँवारि के, दृग-धनुही के तीर॥ ५ ॥
तन रोचित रोचन लहैं, रंचन कंचन गोतु।
पिया पिया बासो दिया, छिया-छिया जग होतु॥ ६ ॥

छं० नं० १ तम-तोम=अंधकार। मो मन···आनंद=श्रीराधाजी का मुखचंद्र मेरे मन में व्याप्त अंधकार को दूर करे। जिस प्रकार से चंद्रमा को देखकर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं उसी प्रकार से श्रीराधिकाजी के मुखचंद्र को देखकर श्रीकृष्ण का आनंद-वृद्धि-लाभ करे। छं० नं० २ मुंज गुंज के हार उर=मूँज (एक प्रकार की घास जिसको बटकर रस्सी बनाते हैं) और घुँघची की बनी (घुँघची के दाने मूँज की रस्सी में पिरोए हुए) मालाएँ हृदय पर हैं। मन-कुंज=मन-रूपी कुँज। छं० नं ३ मन कुमार जय मार=मनोज--काम की जय हो छं० नं० ४ खेहि=धूल।

सुत को सुनो पुरान यों, लोगनि कह्यो निहोरि।
चाहि-चाहि जुत नाह मुख, मुसिक्यानी मुख मोरि॥ ७ ॥
कँत चौक सीमंत की, बैठी गाँठि जुराइ।
पेखि परौसी कों पिया, घूँघट मैं मुसिक्याइ ॥ ८ ॥
गुरुजन दूजे ब्याह कों, प्रति दिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखे बहू, आपुन बाँझ कहाइ॥ ९ ॥
बरषा रितु बीतन लगी, प्रति दिन सरद उदौति।
लहलह जोति जुवार की, अरु गँवारि की होति॥१०॥
नए बिरह-अँसुवानि कौ, छिन-छिन होत उदोत।
अँखियनि लग्यो अपार वह, तन-पानिप कौ सोत॥११॥
नवल नेह में दुहुनि की, लखी अपूरब बात।
ज्यों सूखति सब देह है, त्यों पानिप अधिकात॥१२॥
कत सजनी है अनमनी, अँसुवा भरति ससंक।
बड़े भाग नँदलाल सों झूँटहु लगत कलंक॥१३॥
औगुन बरनि उराहनो, ज्यों-ज्यों ग्वालिन देहि।
त्यों-त्यों हरि तन हेरि हँसि, हरषति महरिहि येहि॥१४॥

छं० नं० ७ सुत को···निहोरि=लौगों ने आग्रह करके कहा कि संतानोत्पत्ति के लिये पुराण सुनो। छं० नं० ९ पति कमजोर है इससे संतानोत्पत्ति नहीं होती है। पति के माता-पिता उनको नित्य डाँटते हैं कि दूसरा ब्याह कर ले जिससे संतान हो। यह स्त्री बाँझ है इससे औलाद न होगी। बहू रहस्य की बात जानती है अगर उसे प्रकट कर दे तो पति की मर्यादा भंग हो जाय इसलिये उनकी मर्यादा रखने को बाँझ कहलाता पसंद करती है।

*देखो रसराज उदाहरण परकीया।

†देखो रसराज तथा ललितललाम।

‡देखो रसराज उदाहरण शिक्षा तथा ललितललाम उदाहरण लेस।

लगनि लगे लोचन लखे, जासों मोहन लाल ।
करि सनेह ता बाल सों, सिखै सकल ब्रज लाल ।।१५।।
तेरी औरे भाँति की, दीपसिखा-सी देह ।
ज्यों-ज्यों दीपति जगमगै, त्यों-त्यों बाढ़त नेह ।।१६।।
पानिप मैं घर मीन को, कहत सकल संसार ।
दृग मीननि को देखियत,पानिप पारावार ।।१७।।
देखें बानिक आजु की, वारों कोटि अनंग ।
भलो चल्यो मिलि साँवरे, अंग रंग पट रंग ।।१८।।*
अबहीं सब तुम हेरती, हँसि-हँसि बातनि पागि ।
मेरे चितवत नेक ही, ब्रज में लागति आगि ।।१९।।
पागी प्रेम नँदलाल के, भरन आपु जल जाइ ।
घरी-घरी घर के तरें, घरनि देति ढरकाइ ।।२०।।
लपटानीं अति प्रेम सों, दै उर उजर उतंग ।
घरी एक लगि छुटे हू[1], रही लगी-सी अंग ।।२१।।†
नींद, भूख अरु प्यास तजि, करती हो तन राख ।
जलसाई बिन पूजिहैं, क्यों मन के अभिलाख ।।२२।।
जावक सों रागी पगनि, हरित नगन अँगुरीन ।
जाबक सों रागी पगनि, मनु कीनो परबीन ।।२३।।

१ छूटेहु पर ।

छं० नं० १६ साधारण दीपक जितना ही प्रज्वलित होता है उतना ही उसका स्नेह (तेल) कम पड़ता है परंतु नायिका की दीपशिखा-रूप देह में जितनी ही दीप्ति अधिक जगमगाती है उतना ही उसका नेह (स्नेह=प्रेम) बढ़ता है । तात्पर्य यह है कि यौवनागम में शरीर-क्रांति को साथ प्रेम भी बढ़ता जाता है । छं० नं० २० घरनि—घड़नि=घड़ों को । छं० नं० २२ करती हो तन राख=शरीर को भस्म करती हो । जलसाई=समुद्र में शयन करनेवाले भगवान् ।

*दे० ललितललाम उ० परिकरांकुर ।

†दे० रसराज उ० प्रौढ़ा ।

खेलत मार सिकार है, डोरे पास समेत।
नैन मृगन सों बाँधि कै, नैन मृगन गहि लेत ।।३३।।
मृगपति जित्यो सुलंक सों, मृगलच्छन मृदु हास।
मृगमद जित्यो सुनैन सों, मृग मद जित्यो सुबास ।।३४।।
छपै छपाए अब नहीं, मैं पायो लखि अंक।
नाहिंन जु पै कलंक तौ, कैसे बदन ससंक ।।३५।।
चौंसठि कला बिलास जुत, बदन कलानिधि पेखि।
दुतिया की देखें कला, को दुति या की देखि ।।३६।।
पावै ऐपन ओपनी, कहै कुरंटक कौन।
सोनो सोन जुही लहै, ललित देह दुति सोन ।।३७।।
तामें अनमिष नैनता, किए लाल बस ऐन ।।
अनमिष नैन सुने न ए, निरखत अनमिष नैन ।।३८।।
नारि नैन के नीर को, नीरधि बढ़ै अपार।
जारे जौन बियोग को, बड़वानल की झार ।।३९।।*
जातरूप रूपहि लखति, बाँधत प्रभु मन ऐन।
निपट निहारे निलज ए, लोनि हरामी नैन ।।४०।।
रोस न कर जौ तजि चल्यो, जानि अँगार गवार।
छितिपालनि की माल में, तैहीं लाल सिंगार ।।४१।।
कहौं भयो 'मतिराम' हिय, जो पहिरी नँदलाल।
लाल मोल पावै नहीं, लाल गुंज की माल ।।४२।।
गुन औगुन को तनकऊ, प्रभु नहिं करत बिचार।
केतक कुसुमन आदरत, हर सिर धरत कपार ।।४३।।†

छं० नं० ३३ मृगन=अन्वेषण, खोज। मृगन=हरिण। छं० नं० ३६ दुतिया की⋯देखि=इस नायिका की अंगदीप्ति (दुति या की) देखकर द्वितीया की चंद्रकला (दुतिया की कला) कौन देखे।

*दे० रसराज।

†दे० ललितललाम उ० अर्थांतरन्यास।

भाल लाल बेंदी दिए, उठें प्रात अलसात।
लोनी लाजनि गड़ि गई, लखे लोग मुसकात ॥४४॥
जोते पहिरे सुंदरी, सो, दुति अधिक उदोतु।
तेरे सुबरन रूप तें, रूपो सुबरन होतु ॥४५॥
भजे अँध्यारी रैनि मैं, भयो मनोरथ काज।
पूरे पूरब पुन्य तें, परयो परोपन आज ॥४६॥
निज बल के परिमान तुम, तारे पतित बिसाल।
कहा भयो जु न हौं तरतु, तुम न खिस्याहु गुपाल ॥४७॥
कर धरि काँधें कंत के, चलै लटपटी चाल।
थकित करति पथिकनि सबनि, थकित पंथ में बाल ॥४८॥
नेकु न थाकत पंथ में, चले जु कोस हजार।
चंचल लोइन-हयनि पर, भए जात असवार ॥४९॥
ललित नाक नथुनी बनी, चुनी रही ललचाइ।
गजमुकतनि के बिच परयो, कहो कहाँ मन जाइ ॥५०॥
झूठे ही ब्रज में लग्यो, मोहिं कलंक गुपाल।
सपने हूँ कब हूँ हिए, लगे न तुम नँदलाल ॥५१॥*
चंद-किरनि लगि बाल तन, उठे अंग अति[1] जागि।
परसत कर दिनकर किरनि[2] ज्यों दरपन में आगि ॥५२॥†

---

१ उठै आगि, २ दुपहर दिनकर करि परस।

छं० नं० ४४ लोनी=सलोनी नायिका। छं० नं० ४६ परावन—पर्वन्=पर्व, उत्सव। छं० नं० ४७ हे ईश्वर, अपनी शक्ति-भर तुमने बड़े-बड़े पापी तार डाले हैं, क्या हुआ जो मुझे नहीं तार पाते हो इस कारण तुम शरमाओ नहीं। छं० नं० ४९ लोइन-हयनि=नेत्र-तुरंग।

* दे० रसराज उ० मोट्टाइत-हाव।

† दे० रसराज उ० प्रौढ़ा प्रोषितपतिका।

दसा सुने निज बाग की, लाल मानिहो झूठ ।
पावस रितु हूँ में लखें, डाढ़े ठाढ़े ठूठ ॥५३॥
तरनि-किरनि झलमलित मुख,लाली ललितकपोल ।
प्यास लगावति दृगनि में, प्यासी बाल अमोल ॥५४॥
लाल तिहारे संग में, खेले खेल बलाइ ।
मूँदत मेरे नैन हो, करनि कपूर लगाइ ॥५५॥*
खेलत चोरमिहीचनी, परे प्रेम पहिचानि ।
जानी प्रगटत परस तें, तिय लोचन पिय पानि ॥५६॥
खेलत खेल सखीनि में, उतै धूरि अवगाहि ।
पलक न लागत एक पल, इतै नाह मुख चाहि ॥५७॥
निडर बटोही बाट में, ऊखनि लेत उखारि ।
अरे गरीब गँवार तैं, काहे करत उजारि ॥५८॥†
मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग ।
सुंदरि रति बिपरीत में, प्रगट कियो अनुराग ॥५९॥
नहिं सुहाइ परगोत है, गोत आपनो पाइ ।
बिदा करी कुल-कानि की, नैननि नैन बसाइ ॥६०॥
ग्रीषम हूँ रितु मैं भरी, दुहूँ कूल पैराउ ।
खारे जल की बहति है, नदी तिहारे गाउ ॥६१॥
हियो हिए सों मिलि चल्यो, नैन चले मिलि नैन ।
इतै उतै मारी फिरै, लाज कहूँ ठहरै न ॥६२॥
बसिबे कों निज सरबरनि, सुर जाको ललचाहिं ।
सो मराल बक-ताल में, पैठन पावत नाहिं ॥६३॥

छं० नं० ५३ विरहताप की गर्मी से बरसात में भी वृक्ष झुलसे खड़े हैं । छं० नं० ६१ विरह के आँसुओं से परिपुष्ट नदी बह रही है इसी लिये उसका जल खारा है ।

* दे० रसराज उ० अज्ञातयौवना ।

† दे० रसराज उ० लीला-हाव ।

अद्‌भुत या धन को तिमिर, मो पै कह्यो न जाइ।
ज्यों-ज्यों मनिगन जगमगत, त्यों-त्यों अति अधिकाइ ॥६४॥
कहा दवागनि के पियें, कहा धरें गिरि धीर।
बिरहानल में बरत जो[1], बूड़त लोचन नीर ॥६५॥*
सतरौहीं भौंहनि नहीं, दुरैं दुरायें नेह।
होति नाम नँदलाल की, दीपमाल[2]-सी देह ॥६६॥
सूखी सुता पटेल की, सूखी ऊखनि पेखि।
अब फूली-फूली फिरै, फूली अरहर देखि ॥६७॥
चपल चित्त बेधो निरखि, याही डरनि दुराति।
नैन बान वै देखि कै, लाज नहीं ठहराति ॥६८॥
भलो एक मन ही गह्यो, सज्जनता को नेम।
दृगनि मारि घाइल कियो, तासों बाँधत प्रेम ॥६९॥
कोटि-कोटि मतिराम कहि, जतन करो सब कोइ।
फाटे मन अरु दूध मैं, नेह न कबहूँ होइ ॥७०॥
पानिपयख पयोधि में, नेक नहीं ठहराइ।
नैन मीन ए पलक में, मन जहाज गिलि जाइ ॥७१॥
पानिप पूर पयोधि में, रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि, बरबट बाँधत आइ ॥७२॥

---

१ ब्रज, २ नीपमाल।

छं० नं० ६७ पटेल=गाँव का मुखिया। छं० नं० ६८ भावार्थ—लज्जा ने देख लिया है कि पैने नेत्र-बाणों ने चित्त को वेंध डाला है सो अपने बचाव के लिये मारे डर के वह छिपी-छिपी फिरती है। कहीं ठहरती नहीं है। छं० नं० ६९ भावार्थ—मन सज्जन है। जिन नेत्रों ने उसे घायल किया है उन्हीं से वह प्रेम करता है। छं० नं० ७० भावार्थ—फटे दूध से घी (स्नेह) नहीं निकलता और फटे चित्त से प्रेम (स्नेह) का प्रादुर्भाव नहीं होता है। छं० नं० ७१ गिलि जाइ=निगल जाय।

* दे० ललितललाम उ० पंचम प्रतीप।

† दे० रसराज उ० लक्षिता तथा ललितललाम चंचलातिशयोक्ति।

कंटक काढ़त लाल की, चंचल चाह निवाहि ।
चरन खैंचि लीनो तिया, हँसि झूठे करि आहि ॥७३॥
सुबरन बरन सुबास जुत, सरस दलनि सुकुमार ।
ऐसे चंपक कौं तजै, तै ही भौंर[१] गँवार ॥७४॥*
देखे हूँ बिन देखि हूँ, लगी रहै अति आस ।
कैसे हूँ न बुझाति है, ज्यों सपने की प्यास ॥७५॥
सखिनि दियो उपदेस जो, नहिं कैसे हुँ ठहरात ।
नवल नेह चित चीकने, ढरकि तोय लों जात ॥७६॥
सौहनि करि पाइनि परचो, तेरे रिसैं उदोति ।
नाह नेह तोमें लह्यो, तू कत रूखी होति ॥७७॥†
भौंहनि संग चढ़ाइयो, कर गहि चाप मनोज ।
नाह नेह साथहि बढ़चो, लोचन लाज उरोज ॥७८॥
लई जु पीर जनाइ कै, करि मिलाप की आस ।
मन उड़ात अजहूँ रहै, ऊँची उहीं उसास ॥७९॥
नैन मिली मन हूँ मिली, बातनि मिली बनाइ ।
क्यों न मिलावति देह सों, नेह-रहचटो लाइ ॥८०॥
लाज छुटी गेह्यो छुटचो, सुख[२] सों छुटचो सनेह ।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिबें देह ॥८१॥

---

१ चंपकली को तजत अलि तैं ही होत, २ सबसों ।

छं० नं० ७६ सूर्य-जल जब स्निग्ध स्थल पर पड़ता है तो वहाँ से ढरक जाता है—वहाँ पर सूखता नहीं है—इसी प्रकार से नायिका को सखियों ने मान करने का जो उपदेश दिया है वह उसके स्नेहचिक्कण (प्रेम के कारण जिसकी रुखाई दूर कर दी गई है) चित्त पर प्रभाव नहीं कर पाता है ।

* दे० ललितललाम उ० प्रस्तुतांकुर ।

† दे० रसराज उ० परकीया प्रोषितपतिका ।

दुरजन वे निंदित रहैं, गुरुजन गारी देत ।
सहियत बोल कुबोल ए, लाल तिहारे हेत ॥८२॥
लगे लूत के जाल ए, लखो लसत इहि भौन ।
जानि कुहू-रजनी मनो, कियो नखत-गन गौन ॥८३॥
मेरे तन के रोम ए, मेरे नहीं निदान ।
उठि आदर अगमन करैं, करौं कौन बिधि मान ॥८४॥*
अनमिख लोचन बाल के, यातें नंदकुमार ।
गई मीच[1] परसत पजरि, बिरहानल की झार ॥८५॥†
जलद निकासी रैनि दिन, रहै नैन झर लागि ।
बाढ़ति जाति बियोग की, बिद्युत की-सी आगि ॥८६॥
मौर नूत नूतन रहै, देखि धरैं क्यों धीर ।
मनो मनोज महीप के, तीरन भरे तुनीर ॥८७॥
दिपै देह दीपति गयौ, दीप बयारि बुझाइ ।
अंचल ओट किए तऊ, चली नबेली जाइ ॥८८॥
ऐसे बोलो बोल बलि, जैसे याहि सुहात ।
बेलि नबेली कनक की, झुकति तनक ही बात ॥८९॥
सारी लटकति पाट की, बिलसति फुँदी लिलार ।
मनो रूप-मंदिर बँधे, सुंदर बंदनवार ॥९०॥
पति आयो परदेस तें, हिय हुलसी अति बाम ।
टूक-टूक कंचुक कियौ, करि कमनैती काम ॥९१॥‡

---

१ मीच गई जरि बीच ही ।

छं० नं० ८८ भावार्थ—यद्यपि हवा के झोंके से दीपक बुझ गया है फिर भी नवेली के शरीर की कांति से प्रकाश बना है, नायिका उस मर्म को न जानकर बुझे हुए दीपक को आँचल में छिपाए लिए जा रही है मानो वह जलता है । छं० नं० ८९ बात=१ बातचीत, २ वायु ।

* दे० रसराज उ० मध्यमा नायिका । † दे० रसराज उ० जड़ता ।
‡ दे० रसराज उ० आगतपतिका ।

लाल तिहारे नैन सर, अचिरज करत अचूक।
बिन कंचुक छेदैं करै, छाती छेद छटूक ॥९२॥
पिय के दरपन में निरखि, प्रतिबिंबित निज रूप।
बाल लाल मुख लखि भई, रिस भरि भौंह अनूप ॥९३॥
और बाल कहियै कहा, सुनियै नंदकुमार।
बिरह आँच साँचे भए, याके अंग अँगार ॥९४॥
ललित लाइ की लपट-सी, चली जाति जहँ नारि।
विरह-अगिनि की झार तहँ, जारि जात झोंकारि ॥९५॥
जहाँ तहाँ रितुराज में, फूले किंसुक-जाल।
मानहु मान मतंग के, अंकुस-लोहू लाल ॥९६॥
बितें सिसिर रितु रजनि के, मधुर प्रताप सुबैन।
जाग्यो मैन महीप सुनि, पिक बंदिनि के बैन ॥९७॥
होत दसगुनो अंकु है, दियें एक ज्यों बिंदु।
दियें डिठोना यों बढ़ी, आनन आभा इंदु ॥९८॥
तूँ सोने की सटक है, रही और गुन पागि।
बिन लागें पीरहि करै, रहै पीर उर लागि ॥९९॥
मान जनावति सबनि कों, मन न मान को ठाट।
बाल मनावन कों लखै, लाल तिहारी बाट ॥१००॥*
नखतावलि नख, इंदु मुख, तनु दुति दीप अनूप।
होति निसा नँदलाल मन, लखे तिहारो रूप ॥१०१॥
इतै उतै सचकित चितै, चलै[1] डुलावति बाँह।
डीठि[2] बचाइ सखीनि की, छिन इक निरखति[3] छाँह ॥१०२॥†

---

१ चलत, २ दीठि, ३ छनकु निहारति।

* दे० रसराज उ० लघुमान।

† दे० रसराज उ० ज्ञातयौवना।

साँझ समै वा छैल की, छलनि कही नहिं जाइ।
बिन डर बन डरपाइ कै, लियो मोहि उर लाइ ॥१०३॥*
राति अँध्यारी झझकि झुकि, झूँठे ही भय भागि।
ललित बाल मन मालती, रही लाज उर लागि ॥१०४॥
हमसों तुमसों लाल इत, नैनानि ही को नेह।
उत प्यारी के दृगनि के, सलिल सींचियत देह ॥१०५॥‡
जैतवार यह मार सों, अकस करो जिन चेत।
भामिनि भौंह कमान के, गोसा ही गहि लेत ॥१०६॥
सुधा मधुर तेरो अधर, सुंदर सुमन सुगंध।
पीव जीव को बंध यह[1], बंध जीव को बंध ॥१०७॥
पग जराइ की गूजरी, नथुनी मुकुत सुढार।
घने घेर को घाँघरौ, घूँघरवारे बार ॥१०८॥
बंदन तिलक लिलार में, ऐसी मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगै, मनो दीप को ज्योति ॥१०९॥
मन तें नैननि कों चली, नैननि तें मन काज।
द्वै दीपक की छाँह लों, बीच बिलानी लाज ॥११०॥
पीन पयोधर-भार यह, धरें छीन कटि ऐन।
छोटे मुख में लसत हैं, बड़े-बड़े ए नैन ॥१११॥
तेरे मुख की मधुरई, जो चाखी चख चाहि।
लगत जलज जंबीर-सो, चंद चूक-सो ताहि ॥११२॥

---

१ है।

छं० नं० १०६ अकस=झगड़ा। गोसा=किनारा। छं० नं० ११२ जंबीर—जंभीर=नींबू। चूक=अत्यंत खट्टा पदार्थ।

* दे० रसराज उ० क्रिया-चतुर नायक।

† दे० रसराज उ० परकीया खंडिता।

‡ दे० रसराज उ० प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका।

तेरी मुख छबि लखि लखै, होत चंद ता तूल ।
कंद खाइ कै चूसियै, ज्यों रूसे को फूल ॥११३॥
निज नीचे कों निरखि नित, ऊँचे होत उरोज ।
यातें मुख के होत हैं, नीचे नैन-सरोज ॥११४॥
ज्यों-ज्यों ऊँचे होत हैं, उरज बाल के ऐन ।
सब सौतिनि के होत हैं, त्यों-त्यों नीचे नैन ॥११५॥
जब-जब चढ़ति अटानि दिन, चंदमुखी यह बाम ।
तब-तब घर-घर धरत हैं, दीप बार सब गाम ॥११६॥
छुवत परस्पर हेर कें, राधा नंदकिसोर ।
सबमें वेई होत हैं, चोर-मिहचनी चोर ॥११७॥*
खंजन, कमल, चकोर, अलि, जिते मीन, मृग ऐन ।
क्यों न बड़ाई कों लहैं, तरुनि तिहारे नैन ॥११८॥
अँसुवा बरुनी ह्वै चलत, जल चादर के रूप ।
अमल कपोलनि की झलक, झलकति दीप अनूप ॥११९॥
कुच तें स्रम जलधार चलि, मिली रुमावलि रंग ।
मनो मेरु के तरहटी, भयो सितासित संग ॥१२०॥
सरदागम पिय-आगमन, जगी जोति मुख-इंदु ।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरबिंदु ॥१२१॥‡
मो मन सुक लों उड़ि गयौ, अब क्यों हूँ न पत्याइ ।
बसि मोहन बनमाल में, रह्यो[1] बनाउ बनाइ ॥१२२॥ ×

---

१ कह्यो ।

छं० नं० ११६ भावार्थ—इसके छत पर चढ़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो चंद्रमा निकला है । इससे लोगों को भ्रम होता है कि रात हो गई और वे दीपक जलाने लगते हैं । छ० नं० ११८ ऐन=एणी, हरिणी ।

दे० रसराज उ० संयोग-सिगार । दे० रसराज उ० स्वेद ।

‡दे० रसराज उ० मध्यमा आगतपतिका । ×दे० रसराज उ० अभिलाष ।

बेंदी ललति मसूर की, लसति सलौने भाल ।
मनो इंदु के अंक में, इंदु-कामिनी लाल ।।१२३।।
फिरि-फिरि आवति द्वार तें,झूँठे झुकि अलसाति ।
लेति आगि तितनी बहू, जो बीचहीं बुझाति ।।१२४।।
अमल कपोलनि में अरुन, झलकनि पीक अनूप ।
उठी मनो रबि-किरन सों, आगि लपट के रूप ।।१२५।।
बार-बार वा गेह सों, बारि-बारि लै जाति ।
काहे तें बिन बात ही, बाती आजु बुझाति ।।१२६।।
नीठि-नीठि आगें परै, पैगु परयो जनु फंद ।
को न होति गति मंद है, लखि तेरी गति मंद ।।१२७।।
नैन जोरि मुख मोरि हँसि, नैसुक नेह जनाइ ।
आगि लैन आई हियें, मेरे गई लगाइ ।।१२८।।*
सुबरन बेलि तमाल सों, घन सों दामिनि देह ।
तूँ राजति घनस्याम सों, राधे सरस सनेह ।।१२९।।
है साँचो कैधों भयो, मेरीई मति-भंग ।
आजु बदलि काहे गयो, बदलि बसन तन रंग ।।१३०।।
सुरत अंत सुख अमित ह्वै, भोर भए निसि जागि ।
उर सोई लागी अज्यों, जो उर सोई लागि ।।१३१।।
दूनी मुख में छबि भई, बेसरि धरी उतारि ।
हरि के उर सोई लगी, करति रसोई नारि ।।१३२।।
जब तें मिलि बरुनीनि सों, अच्छिन की छवि अच्छ ।
जनु अवनीप अनंग के, तरल तुरंग सपच्छ ।।१३३।।

छं० नं० १२७ को···मंद=तेरी मंद चाल देखकर किसकी चाल धीमी नहीं पड़ जाती है। छं० नं० १३३ अच्छिन=आँखें। बरुणी समेत आँखें। सपक्ष घोड़े के समान चंचल हैं।

*दे० रसराज उ० उपपति।

लसत बूँद अँसुवानि के, बरुनिनि छोर उदार ।
दृग तुरंग झूलनि मनो, झलकत मुकत सुढार ॥१३४॥
मानहु में बिन भूषननि, धरति अधिक छबि अंग ।
नैन तरंगनि तें भए, तरल तुरंग सुरंग ॥१३५॥
ज्यों-ज्यों छबि अधिकाति है, नवल बाल मुख इंदु ।
त्यों-त्यों मुरझत सौति कौ, अमल बदन अरबिंदु ॥१३६॥
अंजन जुत अँसुवानि की, धारि धसति जुग नैन ॥
मनो डोर मखतूल के, बाँधे खंजन नैन ॥१३७॥
बिंदु लसत अँसुवानि के,लाल भए दृग कोर ।
देखें बिन पिय चंद-मुख, चिनगी चुगत चकोर ॥१३८॥
सपने में लालन चलत, लखि रोई अकुलाइ ।
जागत हू पिय हिय लगी, हिलकी तऊ न जाइ ॥१३९॥
पिय-आगम सुनि बाल तन, बाढ़े हरख बिलास ।
प्रथम बूँद बारिद उठैं, ज्यों बसुमती सुबास ॥१४०॥*
याके मन में जानियत, कोऊ लग्यौ सभाग ।
कहत गान बिन अरथ को. प्रगट अरथ अनुराग ॥१४१॥
छाप तरौना-नखनि की, सोवत लगी कपोल ।
मनो मदन की मोहनी, मूँगा माल अमोल ॥१४२॥
मोकों तुम क्यों कहति हौ, लै गुपाल को नाँऊ ।
रिस मिस नेह गुबिंद को कहति फिरै सब गाँऊ ॥१४२॥
नर-नारी सब जपत हैं, घर-घर हरि को नाँउ ।
मेरे मुख धोखें कढ़त, परत गाज ब्रज गाँउ ॥१४४।

छं० नं० १४१ कहत···अनुराग=इसका विना मतलब का गाना प्रेम का अर्थ प्रकट करता है अर्थात् यह किसी पर अनुरक्त है । छं० नं० १४२ तरौना-नख=कर्णफूल के दाँत । छं० नं० १४४ गाज=वज्र ।

दे० रसराज उ० आगतपतिका ।

पगनि परे हिय पीठ पर, परे नैन जल टूटि।
सींची मनो सनेह-रस, गयो मान मन छूटि ॥१४५॥
पगनि परयो लखि प्रानपति, दियो मुगध-तिय रोइ।
कज्जल छल मन मलिनता, ल्याए अँसुवा धोइ ॥१४६॥
इंदु-उपल उर बाल कौ, कठिन मान में होत।
देखे बिन कैसें द्रवैं, तो मुख इंदु उदोत ॥१४७॥
भौंह बीच तिल तनक-सै, सोहत सुखमा संचि।
दियो डिठौना रीझि सों, मानहुँ बिरचि बिरंचि ॥१४८॥
चलत लाल के मैं कियो, सजनी हियो पखान।
कहा करों दरकत नहीं, भरें[1] बियोग कृसान ॥१४९॥
चढ़ी रहै प्रतिदिन अटा, साखि सनेह सुख सोरि।
लोचन पियत पियूष हैं, प्रेषि प्रान पिय पौरि ॥१५०॥
कहा छपावति मगध तिय, बोलि चातुरी बोल।
कहैं देत अनुराग की, कीरति कलित कपोल ॥१५१॥
बरसाइति बर को चहूँ, बहु बिधि पूजि बिसेखि।
पूरत है मनकाम कों, काम तरोवर लेखि ॥१५२॥
सहज बात बूझत कछुक, बिहसि नवाई ग्रीव।
तरुन हिए तरुनी दई, नई नेह की नीव ॥१५३॥
करति मनोरथ बहु बहू, दृगनि अनंद उदोत।
उठत सीतलायत सखी, सीतल हीतल होत ॥१५४॥
दसाहीन राधा भई, सुनिए नंदकिसोर।
दीपसिखा लौं देखियत, बारि बयारि झकोर ॥१५५॥

---

१ इतै।

छं० नं० १४७ इंदु-उपल=चंदकांत मणि। इस मणि के विषय में यह प्रसद्धि है कि चंद्रमा की किरणें पड़ते ही इसमें से जल छूटन लगता है।

दे० रसराज उ० प्रवास।

निसि-दिन निंदति नंद है, छिन-छिन सासु रिसाति।
प्रथम भए सुत को बहू, अंकहि लेति लजाति ॥१५६॥
कुसुम खेत को खेद सब, कहत तिहारो रूप।
ऊँची लेत उसास तन, स्रम-जल-कलित अनूप ॥१५७॥
बाँचत कुसुम कुसुंभ के, रहे लागि अभिराम।
कंटक छत छतियाँ छपैं, क्यों न छपावति बाम ॥१५८॥
जानति हौं वा खेत सों, आई बीन कुसुंभ।
कलित कंटकनि कायकुल, कुसुम कलित कुच कुंभ ॥१५९॥
जानति खेत कुसुंभ के, तेरी प्रीति अमोल।
चुभत करनि कंटकनि तौ, कत कंटकित कपोल ॥१६०॥
अब तेरो बसिबो इहाँ, नाहिन उचित मराल।
सकल सूखि पानिप गयो, भयो, पंकमय ताल ॥१६१॥
तिय पग पिय अँगुरी परसि, भो उर आनँद-खानि।
कह्यो सु परि पिय पीठि पर, सुधा-सीत अँसुवानि ॥१६२॥
बिछुरत रोवत दुहुनि की, सखि यह बात[1] लखै न।
दुख अँसुवा पिय नैन में[2], सुख अँसुआ तिय नैन ॥१६३॥*
पग परिबो मुरि बेठिबो, यहै तिहारे काज।
तुम्हैं मनावन की नई, इहै मान की लाज ॥१६४॥
परसत ही याकी भई, तन कदंब की माल।
रह्यौ कहा परि पगनि में, क्यों न अंक भरि लाल ॥१६५॥

---

१ रूप, २ हैं।

छं० नं० १५६ भावार्थ—बहू के प्रथम सुत उत्पन्न हुआ है। उसको गोदी में लेकर खेलाने में उसे लज्जा प्रतीत होती है यद्यपि इसके कारण ननँद उसकी बराबर निंदा करती रहती है और सास डाँटा करती है। इस भाव पर हिंदी के और कवियों की रचना देखने में नहीं आई है। छं० नं० १५८ बाँचत कुसुम कुसुंभ के—कुसुम के खेत में फूल चुनते हुए।

* दे० रसराज उ० मुदिता।

नील नलिन दल सेज मैं, परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी मैं मनो, तनक कनक की रेह ।।१६६।।
मुख नीचे ऊँचे लसैं, तरुनि उरज उर माँह।
मनो मुदित मन कोक जुग, पाइ कोक-नद छाँह ।।१६७।।
पिय-अपराध अनेक निज, आँखिनि[1] हूँ लखि पाइ।
तिय इकंत हूँ कंत[2] सों, मानो करति लजाइ ।।१६८।।*
तो रसु रात्यो रैनि-दिन, सुख-समुद्र के सोत।
याही तैं सौतीनि के, ये अनखहु छत होत ।।१६९।।
निसि नियराति निहारियति, इनको मुख[3]-अरबिंदु।
सखी एक यह देखियत, तेरोई मुख[4] इंदु ।।१७०।।†
उजियारी मुख इंदु की, परी कुचनि उर[5] आनि।
कहा निहारति[6] मुगध तिय, पुनि-पुनि चंदन जानि ।।१७१।।
दुबराई गिरि जातु है, कंकन कामिनि बाँह।
उपदेस न ठहरात ज्यों, दुरजन के उर माँह ।।१७२।।
मन दै सुनिए लाल यह, तनक तरुनि की बात।
अँसुवा उड़गन गिरत हैं, होन चहत उतपात ।।१७३।।×
कहति आपु ही बैन हैं, ऊख पियूष रसाल।
कित बोलति कोकिल अली, पुनि-पुनि बूझति बाल।।१७४।।

---

१ नैननि, २ पीय, ३ सौति-बदन, ४ तेरो आनन, ५ उरोजनि, ६ अँगोछति।

छं० नं० १६६ रेह=रेखा।

* दे० रसराज उ० उत्तमा नायिका।

† दे० रसराज उ० मध्याबासकसज्जा।

‡ दे० ललितललाम उ० भ्रांति।

× दे० रसराज।

जिनमैं निस-दिन बसतु है, तुम घन सुंदर नाह ।
क्यों न चलै तिय दृग तितैं, बहुल बाह परबाह ।।१७५।।
जलद स्याम निज नाम यह, करत कहा इत आपु ।
जा उर नेक बसो करौ, ताही के तन तापु ।।१७६।।
दिस-दिस बिगसित मालती, निसि नियराति निहारि ।
ऐसे अतनु-अराम में, भ्रम-भ्रम भौंर निवारि ।।१७७।।
नारि-नैन को नीर अस, तरुनी तीर उतंग ।
बढ़त सरित परवार के, गिरत एक ही संग । १७८।।
बात सखिनि की सीख तें, मान न जानति ठानि ।
पिय बिन अगमन[1] भौन में, बैठी भौंहनि[2] तानि ।।१७९।।*
परिकर पंकज के कियें, नैननि राज बिलास ।
मैन मित्र, मंत्री मिरग, खंजन किए खवास ।।१८०।।
लाल जनायो मैं तुम्हें, लागन चहत कलंक ।
चंद-मुखी वह चंद सों, अब चितवति निरसंक ।।१८१।।
बड़े हमारे दृग कहौ, तुम कहि सकौ सुमैं न ।
पिय-नैननि भीतर सदा, बसत तिहारे नैन ।।१८२।।
आभा[3] तरिवन[4] लाल की, परी कपोलनि आनि ।
कहा छपावति चतुर तिय, कंत दंतछद जानि ।।१८३।।†
गहि कोमलता सरसता, सोनो होइ सुगंध ।
तबहूँ कबहूँ होइ सखि, तेरे तन को बंधु ।।१८४।।

---

१ पिय बिन आगम, २ भौहैं, ३ प्रभा, ४ तरौना ।

छं० नं० १७७ अतनु-अराम=कामदेव की फुलवारी । छं० नं० १८० खवास=नौकर । छं० नं० १८४ तेरे तन को बंधु=तेरे शरीर की बराबरी का ।

* दे० रसराज उ० मुग्धा खंडिता ।

† दे० ललितललाम उ० भ्रांति तथा रसराज उ० परिहास ।

दुख दीने हूँ सुजन जन, छोड़त निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि में, करत सुबासित केस ॥१८५॥
तू राखी करि लाल है, निज उर में बनमाल।
तैं राख्यो करि लाल है, कंठमाल कौ लाल ॥१८६॥*
जगै जोन्ह की जोति यों, छपै जलद की छाँह।
मनो छीरनिधि की उठै, लहरि-छहरि छित माँह ॥१८७॥
अभिनव जोबन जोति सों, जगमग होत बिलास।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास ॥१८८॥†
बासन को पानिप घट्यौ, तन पानिप की आस।
मिटी पथिक की बदन तें, लगी दृगनि मैं प्यास ॥१८९॥
दिनकर-तनया स्याम जल, द्वै घट भरे बनाइ।
ताके भर गरुए भए, हरयें धारति पाइ ॥१९०॥
चलत सुन्यो परदेस कों, हियरो रह्यो न ठौर।
लै मालिनि मीतिहिं दियो, नव रसाल कौ मौर ॥१९१‡
प्यो राख्यो परदेस तें, करामात अधिकाइ।
कनक कलस पानिप भरे, सगुन उरोज दिखाइ ॥१९२॥×
सुन्यो माइके तें बहू[1], आयो बाभन कंत।
कुसल पूछिबे के मिसनि, लीनो बोल इकंत ॥१९३॥+

---

१ जबहि।

छं० नं० १९० दिनकर-तनया=यमुना। हरयें—हरुए=धीरे। भर=भार, बोझा।

* दे० रसराज।

† दे० रसराज उ० मुग्धा तथा ललितललाम उ० तुल्ययोगिता।

‡ दे० रसराज उ० परकीया प्रवत्स्यत्प्रेयसी।

× दे० ललितललाम उ० विशेयोक्ति।

+ दे० रसराज उ० परकीया आगतपतिका।

स्रम-जल-कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल ।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल ॥१९४॥
गौने की चरचा चलें, दियें तहाँ चित बाल ।
अधमूँदी अँखियानि सों, गूँदी गूँदति माल ॥१९५॥
सखी तिहारे नेह के, होत घरहिं घर घेर ।
पीतम तन पानिप परे, फैलि रह्यो चहुँ फेर ॥१९६॥
तूँ न करति मन भाँवती, रति बिपरीत बिचार ।
ह्वैहै सूधे सुरत मैं, बिछियनि को झनकार ॥१९७॥
कहति साँच तूँ भाँवती, मेरे चित अति प्रीति ।
कियें बिना बिपरीति रति, हिए न होति प्रतीति ॥१९८॥
दानबीर-रस के सखी, तेरे नैन-निकेत ।
दान समें मन दान है, हँसि उछाह कहि देत ॥१९९॥
रोस किए कैसो करै, सखी तिहारे नैन ।
सहज मधुर मुसिक्यानि मैं, हनत मानसनि ऐन ॥२००॥
चंचलता तो चखनि की, कही न जाइ बनाइ ।
जिन्हैं चाहि चंचल महा, चितौ अचल ह्वै जाइ ॥२०१॥
तेरे अंगनि लाल छबि, मुख मयंक सुख माहिं ।
त्यों चकोर लखि लाल के, क्यों न बाल ललचाहिं ॥२०२॥
नंदलाल[1] के रूप पर, रीझि परी इक बारि[2] ।
अधमूँदी अँखियनि दई, मूँदी प्रीति उघारि ॥२०३॥*
कोंपनि तें किसलय जबै, होहिं कलिन तें कौल ।
तब चलाइए चलन की, चरचा नायक[3] नौल ॥२०४॥†

---

१ नँदनंदन, २ रही रिझवाय, ३ नागर ।

छं० नं० १९५ गूँदी गूँदति=गुही हुई को गुहती है । छं० नं० १९९ निकेत=घर ।

*दे० रसराज उ० प्रत्यक्षदर्शन । †दे० रसराज उ० प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी तथा ललितललाम उ० तृतीय आक्षेप ।

कामिनि दामिनि दमक-सी, बरनि कौन पै जाइ।
डीठि नहीं ठहराइयै, डीठिन ही ठहराइ ॥२०५॥
रात्यौ दिन जागति रहै, अगिनि लगनि की मोहिं।
मो हिय में तू बसतु है, आँच न पहुँचति तोहिं ॥२०६॥
चलन लगी अँखिया चपल, चलन लगी लखि छाँह।
तन जोबन आवन लग्यो, मनभावन मन माँह ॥२०७॥
बिन देखें दुख के चलें, देखें सुख के जाहि।
कहो लाल उन दृगनि के, अँसुवा क्यों ठहराहि ॥२०८॥
बरसाइति में सखिनि हठि, साजे अंग-सिँगार।
पछिले कंचन आभरन, लगनि अगिनि की झार ॥२०९॥*
डारि तिहारे नेह में, अगनि लगनि की मैन।
तलफति याके मानि सें, लाल सलोने नैन ॥२१०॥
कौन बसत है कौन मैं, यों कछु कही पैर न।
पिय नैननि तिय नैन हैं, तिय नैननि पिय नैन ॥२११॥
लाल बाल को उर कठिन, उरजनि निपट कठोर।
ताहि छेदि तीछन गई, तेरी ईछन कोर ॥२१२॥
बाल निहाल भई लखै[1], ललित लाल[2] मुख इंदु।
मनु पियूष बरषा भई, नैननि झलके बिंदु[3] ॥२१३॥†
तिय हिय लों पहुँचे कहीं, सीखि सखिनि की बात।
बिरह आँच जरि जाति है, स्रौन समीपहिं जात ॥२१४॥

---

१ रही इकटक निरखि, २ लाल बदन अरबिंदु, रीझ मार अँखियाँ थकी झलके स्रम-जल-बिंदु।

छं० नं० २१२ ईछन=आँख।

*दे० रसराज उ० अश्रु।

†दे० रसराज उ० वैवर्ण्य तथा ललितललाम उ० गुप्तोत्प्रेक्षा।

भुज फुलेल लावत सखी, कर चलाइ मुसिक्याइ ।
गाढ़ें गह्यो उरोज तिय[1], बिहँसी भौंह चढ़ाइ ॥२१५॥
इंद्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम ।
आगि लपट बरषा करै, ताप धरै घनस्याम ॥२१६॥†
दुहूँ अटारिनि मैं सखी, लखी अपूरब बात ।
उतै इंदु मुरझातु है, इतै कंज कुम्हिलात ॥२१७॥
जोबन मैं अँखिया सखी, परी लाज की जेल ।
लरिकाईं के सौंरियत, चोंरमिहचनी खेल ॥२१८॥‡
राधिक[2] के दृग खेल में, मूँदे नंदकुमार ।
करनि लगी दृग कोर सों, भई छेद उर पार ॥२१९॥
मैं मूँदति हों खेल में, तेरे लोचन बाल ।
मेरे कर अति प्यार सों, चूमत हैं नँदलाल ॥२२०॥
सुरभि लोभ जुत अलिनि में, सहत अधर को रंग ।
मनो तरनि-तनया मिली, बानी गंग-तरंग ॥२२१॥
सेत बसन में यों लगै, उघरत गोरे गात ।
उड़ै आगि ऊपर लगी, ज्यों बिभूति अवदात ॥२२२॥

---

१ पिय, २ राधा ।

छं० नं० २१८ सौंरियत=स्मरण करती है । छं० नं० २२२ जलते हुए कोयले पर सफ़ेद राख का पर्त पड़ जाता है । थोड़ी हवा लगते ही वह राख उड़ जाती है और नीचे से फिर लाल कोयला निकल आता है । ऐसे ही कोयले को देखकर मतिराम को यह उक्ति सूझी कि सफ़ेद साड़ी पहने गौरांगी नायिका विभूति (राख)-विभूषित अग्नि के समान है । हवा में कपड़ा हटने से उसका भी तप्त कांचन के समान शरीर वैसा ही झलकने लगता है जैसा उस कोयले का जिसके ऊपर की विभूति हट गई हो । यह नया भाव है । हिंदी के और कवियों की रचना में यह भाव नहीं देख पड़ता है ।

†दे० ललितललाम । ‡दे० ललितललाम उ० असंगति ।

रूप जाल नँदलाल के, परि करि बहुरि छुटै न।
खंजरीट मृग मीन-से, ब्रजबनितनि के नैन ॥२२३॥*
जाके सील समान है, साँचे होत सुमित्र।
नेही चंचल चखनि कों, चाह्यो चंचल चित्त ॥२२४॥
खिन में प्रफुलित होत हैं, खिन में मुकुलित होत।
इंदीबर अरबिंद से, चख मुख इंदु उदोत ॥२२५॥
ग्रीषम हूँ रवि तपत हूँ, रहे जलद जनु झूमि।
तपी दृगनि सीतल करै, गाँउ निकट की भूमि ॥२२६॥
नैन निवासी सों चल्यो, मन परदेस अनेह।
लखति आजु अनभाँवती, सपने नैननि गेह ॥२२७॥
आजुहि चल्यो बिदेस कों, तजि सनेह चित चोर।
लखति भरे घर भाँवती, जमी घास चहुँ ओर ॥२२८॥
परी दूबरी सेज में, सखी निहारहि नीठि।
परसति नहीं डराति-सी, धरिबे के उर डीठि ॥२२९॥
लखति एकटक साँवरी, मूरति को मुख इंदु।
रीझ भार अँखिया थकी, झलके स्रम-जल-बिंदु ॥२३०॥†
चलो लाल वह बाग में, लखौ अपूरब केलि।
आलबाल घन समय को, ग्रीषम रितु की बेलि ॥२३१॥‡
कहा कहों वाकी दसा, निठुर कही नहिं जाइ।
अंग अँगारनि को मिटै, रंग आँच अधिकाइ ॥२३२॥
बड़वानल से जे लगे, अलिनि करत उपचार।
मिलत लगे घनस्याम उर, ते अँग ज्यों घनसार ॥२३३॥
गई छबीली छूटि वह, छल सों नेह जनाइ।
कहौ कौन के लै छला, आए लाल छलाइ ॥२३४॥

---

*दे० ललितललाम उ० मालोपमा।

†दे० रसराज और ललितललाम।

‡दे० ललितललाम उ० रूपकातिशयोक्ति।

पियराई तन मैं परी, पानिप रह्यो न देह।
राख्यौ नंदकुँवार ने, करि कुँवार को मेह ॥२३५॥
बाँधी दृग डोरानि सों, घेरी बरुनि समाज।
गई तऊ नैनानि तैं, निकसि नटी-सी लाज ॥२३६॥
लोक-लाज कुलकानि सों, गरब करो जिन बीर।
ऐन मैन ब्रजराज के, नैन मैन के तीर ॥२३७॥
क्यों न फिरै सब जगत में, करत दिगबिजै मार।
जाके दृग सावंत सर[1], कुबलय जीतनवार[2] ॥२३८॥†
नेह छुटे हूँ रावरो, यातें जीवति बाल।
चलत सहज हूँ गलिनि में, तुमहिं बिलोकति लाल ॥२३९॥
केलि-भौन के देहरी, करी[3] बाल छबि नौल।
काम कलित हिय को लहै, लाज ललित[4] दृग कौल ॥२४०॥*
नित उठि ऐसे रूप सों, आवत हो ब्रजराज।
सो तुम सों पिय रिस करै, ताके हिए न लाज ॥२४१॥
तुम सों कीजै मान क्यों, ब्रजनायक[5] मन रंज।
बात कहत यों बाल के, भरि आए दृग कंज ॥२४२॥‡
ढीली बाहनि सों मिली, बोली कछू न बोल।
सुंदरि मान जनाइयौ[6], लियौ प्रानपति मोल ॥२४३॥×
आवत उठि आदर कियो, बोले बोल रसाल।
बाँह गहत नँदलाल के, भए बाल दृग लाल ॥२४४॥+

---

१ हैं, २ हार, ३ खरी, ४ कलित, बहुनायक, ६ जनाइकै।

छं० नं० २३५ शरद्-ऋतु के बादलों में जल कम रहता है।

* दे० ललितललाम उ० परिकर।

† दे० रसराज उ० मध्या।

‡ दे० रसराज उ० मध्या धीराधीरा।

× दे० रसराज उ० प्रौढ़ा धीरा।

+ दे० रसराज उ० प्रौढ़ा धीराधीरा।

बेनी गूँदत[१] एक की, नंदलाल चित लोल।
चूमत प्यारी बाल[२] के, बिहसत गोल कपोल ॥२४५॥*
मन-भावन सों ब्याह की, सुनी सलोनी बात।
अँगिया[३] में न उरोज अरु, आनँद उर न समात ॥२४६॥†
लखि जैहैं ब्रज गाँउ की, सबै चतुर हैं बाल।
छतिया नख छतदोह जिन, छैल-छबीले लाल २४७॥
भलो न केतक रूख यह[४], सजनी गेह अराम।
बसन फटैं कंटक लगैं, निसि-दिन आठो जाम ॥२४८॥‡
जुपे द्वार में बसत तौ, पथिक जाइ जिन सोइ।
मेरो घर सूनो इहाँ, चोरनि को डर होइ ॥२४९॥
ग्रीषम रितु में देखि कै, बन में लगी दँवारि।
बड़ी अपूरब बात है, मन में जरति गँवारि ॥२५०॥×
जरद भई तिय हरद रँग, बाढ़े दरद अतूल।
लागे बीतन संग ही, कुसुम-फूल, हिय-फूल ॥२५१॥
छरी सपल्लव लाल कर, लखि तमाल की बाल[५]।
मुरझानी हिय साल धरि, फूल-माल-सी हाल[६] ॥२५२॥+
लसति गूजरी ऊजरी, बिलसति लाल इजार।
हिए हजारनि के हरे, बैठी बाल बजार ॥२५३॥=

---

१ गूँधत, २ के अधर, ३ आँगी में, ४ भलो नहीं यह केबरो, ५ हाल, ६ बाल।

छं० नं० २५१ जरद भई=पीली पड़ गई।

* दे० रसराज उ० ज्येष्ठा कनिष्ठा।

† दे० ललितललाम उ० प्रहर्षण।

‡ दे० रसराज उ० सुरतगुप्ता।

× दे० रसराज उ० नष्टसंकेत अनुसयना।

+ दे० रसराज उ० अनुसयना।

= दे० रसराज उ० गणिका।

कहत तिहारो रूप सखि[१], यह[२] पैंडे[३] को खेद।
ऊँची लेत उसास है, कलित सकल तन स्वेद ॥२५४॥*
लै आवति हों सेज इत, तेरी प्रीति गुपाल।
बात कहो अंकहि भरौ, दुख न दीजिए लाल ॥२५५॥†
कैसें ल्याऊँ[४] हों इहाँ, है जित नंदकिसोर।
दिन हूँ में मुख चंद कों, लखि ललचात चकोर ॥२५६॥‡
औरनि के पाइनि दियो, नाइनि जावक लाल।
प्रानपियारी रावरी, पेखति[५] तुम्हैं गुपाल[६] ॥२५७॥×
पिय बियोग तिय दृग जलधि, जल तरंग अधिकाइ।
बरुनि मूल बेला परसि, बहुरों बहुरि[७] बिलाइ ॥२५८॥+
धन के हेत बिलासिनी, रहे सवारे[८] बेस।
जो तिय के हिय में बसै, सो पिय बसे बिदेस ॥२५९॥=
कोऊ करो अनेक यह[९], तजौ न टेक गुपाल।
निसि औरनि के पग परो, दिन औरनि के लाल ॥२६०॥—
कंत कहा सौहनि करो, जानि परचो अब नेह।
दैन कह्यो सो बिन दिए, जान न पैहो गेह ॥२६१॥§

---

१ यह, २ सखि, ३ पैंडे, ४ आऊँ, ५ निरखति, ६ रसाल, ७ जात, ८ सँभारे, ९ कितेक हूँ।

* दे० रसराज उ० अन्यसंभोगदुःखिता।

† दे० रसराज उ० विश्रब्धनवोढ़ा।

‡ दे० रसराज उ० रूपगर्विता।

× दे० रसराज उ० प्रेमगर्विता।

+ दे० रसराज उ० मुग्धा प्रोषितपतिका।

= दे० रसराज उ० गणिका प्रोषितपतिका।

— दे० रसराज उ० मध्या खंडिता।

§ दे० रसराज उ० गणिका खंडिता।

आई गौने काल्हि है[1], सीख्यौ कहा सयान।
अबहीं तें रूसन लगी, अबहीं तें पछितान ॥२६२॥
जोरत सुनि[2] सजनी बिपति, तोरत तपत समाज।
नेह कियो बिन काज पुनि, तेज कियो बिन काज ॥२६३॥‡
लख्यो न कंत सहेट में, लखत[3] नखत को राइ।
अमल कमल सो बाल को[4], बदन गयो कुम्हिलाइ ॥२६४॥†
तिय कों मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन मैन।
सजल जलद लखि कै भए, सजल जलद-से नैन ॥२६५॥×
बिहँसि केलि-मंदिर गई, लख्यो न जिय को नाथ।
नैन करनि तें जल बलय, गिरे एक ही साथ ॥२६६॥+
साहस करि कुंजनि गई, लख्यो न नंदकिसोर।
दीपसिखा-सी थरहरी, लगें बयारि झकोर ॥२६७॥=
कत[5] न कंत आयो सखी, लाजनि बूझि सकै न।
नवल बाल पलिका परी, पलक न लागत नैन ॥२६८॥—
पीउ न आयो नींद[6] कों, मूँदे लोचन बाल।
पलक उघारे पलक में, आयो होइ न लाल ॥२६९॥§

---

१ ही, २ हूँ, ३ लख्यो, ४ नवल बाल को कमल से, ५ क्यों, ६ ध्यान।

* दे० रसराज उ० मुग्धा कलहांतरिता।
† दे० रसराज उ० परकीया कलहांतरिता।
‡ दे० रसराज उ० मुग्धा विप्रलब्धा।
× दे० रसराज उ० मध्या विप्रलब्धा।
+ दे० रसराज उ० प्रौढ़ा विप्रलब्धा।
= दे० रसराज उ० परकीय विप्रलब्धा।
— दे० रसराज उ० मुग्धा उत्कंठिता।
§ दे० रसराज उ० प्रौढ़ा उत्कंठिता।

कंत बाट लखि गेह कों, कुंज देहली[1] आइ ।
ऐहैं पीव बिचारियो, नारि फेरि फिर जाइ ॥२७०॥*
लखत बाट पिय की तिया, अँगरानी अँग मोरि ।
पौढ़ि रही पलिका मनो, डारी मदन मरोरि ॥२७१॥
डीठि बचाइ सखीनि की, केलि-भौन में जाइ ।
पौढ़ि परै पलिका पलक, पलक अंग[3] अधिकाइ ॥२७२॥†
सब सिंगार सुंदरि सजैं, बैठी सेज बिछाइ ।
भयौ द्रौपदी को बसन, बासर नहिंन[4] बिहाइ[5] ॥२७३॥
मनभावन[6] के मिलन के[7], करै मनोरथ नारि ।
धरै पौन के सामुहैं, दिया भौन को बारि ॥२७४॥×
पिय मिलाप के हेत तिय, सजे उछाह सिंगार ।
दृग कमलनि के द्वार में, बाँधे बंदनवार ॥२७५॥+
अली चली नवलाहि लै, पिय पै साजि सिंगार ।
ज्यों मतंग अँड़दार कों, लियैं जात गँड़दार ॥२७६॥=
जोबन मद गज मंद गति, चली बाल पति गेह ।
पगनि लाज आँदू परी, चढ़्यो महावत नेह ॥२७७॥—

---

१ देहरी, २ दीठि, ३ रही छिन सेज तिय अति आनँद, ४ नहीं, ५ बिताइ, ६ मनमोहन, ७ को ।

*दे० रसराज उ० परकीया उत्कंठिता ।

†दे० रसराज उ० मुग्धा बासकसज्जा ।

‡दे० रसराज उ० प्रौढ़ा बासकसज्जा ।

×दे० रसराज उ० परकीया बासकसज्जा ।

+दे० रसराज उ० बासकसज्जा ।

=दे० रसराज उ० मुग्धा अभिसारिका ।

—दे० रसराज उ० मध्या अभिसारिका ।

सजि सिंगार सेजहि चली, बाल प्रानपति[1] प्रान।
चढ़त अटारी की सिढ़ी, भई कोस परिमान ॥२७८॥*
स्याम बसन में स्याम निसि, दुरै न तिय की देह।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि[2], भौंर भीर पिय गेह ॥२७९॥†
मलिन करी छबि जोन्ह की, तन छबि सों बलि जाँउ।
क्यौं जैहै पिय पै सखी, लखि जैहै सब गाँउ ॥२८०॥‡
जेठ मास की दुपहरी, चली बाल पिय-भौन।
आगि लपट तीखन लुवैं, भए मलय के पौन ॥२८१॥×
नागरि सकल सिंगार करि, चली प्रानपिय[3] पास।
बाढ़ि चली बिहसनि मनो, सोभा सहज सुबास[4] ॥२८२॥+
क्यों सहिहै सुकुमारि वह, पहिलो बिरह गुपाल।
जब वाके चित हित भयो, चलन लगे तब लाल ॥२८३॥ ‖
अबहीं तौ मिलि मोहि सखि, चलत आजु ब्रजराज।
अँसुवनि राखति रोकि तिय, जियहि निकासति लाज ॥२८४॥
फूली नागरि कमलिनी, उड़ि गए मित्र मलिंद।
आयो मित्र बिदेस तें, भयो सु दिन आनंद ॥२८५॥—

---

१ जहाँ, २ मिलि, ३ प्रानपति, ४ बारिधि बीचि बिलास।

*दे० रसराज उ० प्रौढ़ा अभिसारिका।

†दे० रसराज उ० परकीया कृष्णाभिसारिका तथा ललितललाम उ० प्रहर्षण।

‡दे० रसराज उ० परकीया शुक्लाभिसारिका।

×दे० रसराज उ० दिवाभिसारिका।

+दे० रसराज उ० गणिकाभिसारिका।

═दे० रसराज उ० मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी।

—दे० रसराज उ० गणिका आगतपतिका।

भरी भाँवरैं साँवरे, रास रसिक रस जान।
तिनहीं में मनु भँवतु है, ह्वै बौंडर को पान ॥२८६॥*
चलत पीय परदेस कों, बरजि सकों नहिं तोहि।
लै ऐह्यौ आभरन जौ, जीवत पैहौ[1] मोहि ॥२८७॥†
सजनी मेरो मन परचो, मनमोहन के अंग।
छटपटात छूटत न ज्यों, पंजर परचो पतंग ॥२८८॥
जा दिन तें गौनो भयो, आई बाल रसाल।
ता दिन तें बिरहिनि भई, उर मोतिन की माल ॥२८९॥‡
सपने हूँ मन भाँवतो, करत नहीं अपराध।
मेरे मन हू में सखी, रही मान की साध ॥२९०॥×
दच्छिन नाइक एक तुम, नंदलाल[2] ब्रजचंद।
फुलए ब्रज बनितानि के, दृग इंदीबर बृंद ॥२९१॥+
निलज नैन कुलटानि के, आइ बसे ब्रजराज।
हिए तिहारे तें सकल, मारि निकारी लाज ॥२९२॥=
पियत रह्यो अधरानि को, रसु अति मधुर अमोल।
तातें मीठे कढ़त हैं, लाल[4] बदन के बोल ॥२९३॥–
लोचन पानिप ढिग सजी, लट बंसी परबीन।
मो मन बारबिलासिनी, फासु लियो मनु[5] मीन ॥२९४॥§

---

१ जियत पाइहौ, २ हरि उर की बनमाल, ३ मनमोहन, ४ बाल, ५ जनु।

* दे० रसराज उ० नायक।
† दे० रसराज उ० गणिका प्रवत्स्यत्प्रेयसी।
‡ दे० रसराज उ० पति नायक।
× दे० रसराज उ० अनुकूल नायक।
\+ दे० रसराज उ० दक्षिण नायक।
= दे० रसराज उ० धृष्ट नायक।
– दे० रसराज उ० शठ नायक।
§ दे० रसराज उ० वैशिक नायक।

या में कौन सयान है, मोहनलाल सुजान।
आपु करत अपराध हो, आपुहि पुनि अभिमान ॥२९५॥*
पिय मिलाप को सुख सखी, कह्यो न जाइ अनूप,
सौतु कतौ सपनो भयो, सपनो सौतुक रूप ॥२९६॥†
चित्रहु में सखि जाहि लखि[1], होत अनंत अनंद।
नैन कुबलयन सों कहूँ, सो लखिबौ[2] ब्रजचंद ॥२९७॥‡
वाको मन लीने लला, बोलो बोल रसाल।
झुकति तनक वह बात में, कनक बेलि वह बाल ॥२९८॥
सखी सलोनी[3] देह में, सजे सिंगार अनेक।
कजरारी अँखियानि में, भूल्यो काजर एक ॥२९९॥×
सरद चाँदनी में प्रगट, होत न तिय के अंग।
सुनत मंजु मंजीर अब[4], सखी न छोड़ति संग ॥३००॥+
सखी सरस रस केलि में, आपुन यों सुधि जाति।
कंत संग हेमंत की, छिन-सी राति सिरात ॥३०१॥
लाल तिहारे बिरह तें, माह मास की राति।
करि कपूर की कीच सो, सखी समीपहि जाति ॥३०२॥
कहा जनावति चातुरी, कहा चढ़ावति भौंह।
अधनिकरे अखरानि सों, सोहैं कीजै सौंह ॥३०३॥=

---

१ चित्रहु में जाके लखे, २ सपने हूँ कबहूँ सखी मोहिं मिलिहैं, ३ तिया की देह, ४ धुनि।

छं० नं० २९८ बात=१ कथन, २ वायु।

*दे० रसराज उ० मानी नायक।

†दे० रसराज उ० स्वप्नदर्शन।

‡दे० रसराज उ० चित्रदर्शन।

×दे० रसराज उ० मंडन।

+दे० ललितललाम उ० उन्मीलित।

=दे० रसराज उ० स्वरभंग।

लाल तिहारें नेक हीं, नैन तिहारें तीर।
वाके कंचुक कलित कुच, काँपत जोध अधीर ॥३०४॥
बाल रही इकटक निरखि, लाल बदन अरबिंदु।
सियराई अँखियन परी, पियराई मुख इंदु ॥३०५॥*
पिय समीप को सुख सखी, कहैं देत ये बैन।
अबल अंग, निरबल बचन, नवल सुनींदे नैन ॥३०६॥
खाटे फल आगें धरें, सखी आनि मुसिक्याइ।
पिय समीप, प्यारी पिया, रही सकुचि सिर नाय ॥३०७॥
पिय आयो परदेस तें, बहुतै द्योस बिताइ।
सखी उठाई पास तें, झूँठे ही[1] जमुहाइ ॥३०८॥†
पासे गर्भवती तिया, सिथिल हाथ ढरकाइ।
हसत लाल लोचन लखैं, लोचन रही नवाइ ॥३०९॥
ध्यान करत नँदलाल कौ, नए नेह में बाम।
तनु बूड़त रँग पीत मैं, मन बूड़त रँग स्याम ॥३१०॥
पिय आयो परदेस तें, हिय में आयो प्रान।
मिलत बिरहिनी कै भयो, छिन जनु जुग परिमान ॥३११॥
कहा भयो मेरी हितू, हो तुम सखी अनेक।
सपने मिलवत नाथ कै, नींद आपनी एक ॥३१२॥

---

१ साँझहि तैं।

छं० नं० ३०९ पासे सिथिल हाथ ढरकाइ=शिथिल हाथों के फंदे को छुड़ा कर। छं० नं० ३१० रँग पीत मैं=पीतांबर के रंग में अर्थात् पीले रंग में अथवा पीतम–प्रियतम–के रंग में। छं० नं० ३१२ भावार्थ–नायिका कहती है कि यद्यपि मेरा हित चाहने वाली तुम लोग बहुत-सी सखियाँ हो परंतु सो जाने पर, स्वप्न में नायक से मिलाकर जो मेरा हित सखी नींद करती है वह तुम कोई नहीं कर पाती हो।

*दे० रसराज।

†दे० रसराज उ० जृंभा।

कंप प्रसेद बढ़ै चढ़ै, भौंह मनो भव-चाप।
अपने पिय सों जानियत, सपने करति बिलाप ॥३१३॥
प्यारी की मुसिक्यानि-सी, सरद-जोन्ह तूँ है न।
वह नैननि सीतल करै, तूँ कत जारति नैन ॥३१४॥
अली चली कहु कौन पै, बड़े कौन के भाग।
उलटचो कंचुक कुचन पर, कहे देत अनुराग ॥३१५॥
सकुचि न रहियै साँवरे,सुनि गरबीले बोल।
चढ़ति भौंह बिकसत नयन, बिहसत गोल कपोल ॥३१६॥
मनभाँवन को भाँवती, भेंटति रस उतकंठ।
बाँही छुटै न कंठ तें, नाहीं छुटै न कंठ ॥३१७॥‡
बिरी अधर अंजन नयन, मिहिदी पग अरु पानि।
तन कंचन के आभरन, नीठि परति पहिचानि ॥३१८॥×
कहा काज कुलकानि सों, लोक-लाज किन जाइ।
कुंजबिहारी कुंज में, कहूँ मिलैं मुसिकाइ ॥३१९॥+
लखी अपूरब बाल मैं, वाकी दसा बनाइ।
हियरें है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराइ ॥३२०॥
सरद-चंद की चाँदनी, जारि डार किन मोहि।
वा मुख की मुसिक्यानि-सी, क्यों हूँ कहौं न तोहि ॥३२१॥–

---

*दे० रसराज उ० विभ्रम-हाव।

†दे० रसराज उ० किलकिंचित्-हाव।

‡दे० रसराज।

×दे० रसराज उ० ललित-हाव तथा ललितललाम उ० अनुगुन।

+दे० रसराज उ० चिंता।

=दे० ललितललाम उ० विशेष।

–दे० रसराज उ० गुण-कथन।

मैं रसाल की मंजरी, क्यौं न करी करतार।
सुंदर स्त्रौन समीप जौ, राखै नंदकुमार ॥३२२॥
बिकल लाल को बाल हूँ, क्यों न बिलोकति आनि।
बोलि कोकिलनि सों कहै, बोल तिहारे जानि ॥३२३॥*
सुजस ओज सों साहु सुत, सिवा सूर सिरदार।
सरद-चंद आतप कियो, सुचि आतप इकबार ॥३२४॥
पिसुन बचन सज्जन चितै, सकै न फोरि न फारि।
कहा करे लगि तोय में, तुपक तीर तरवारि ॥३२५॥†
निहचें नखत निहारियत, नथुनी मुकत प्रकास।
कैसें करि पावै कहौ, नीचन नाक-निवास ॥३२६॥
खेत निहारो धान को, यों बूझति मुसिक्याइ।
यहौ हमारो पिय[1] कहौ, सघन ज्वारि दरसाइ ॥३२७॥‡
राखै भरि दुपहर सखी, सघन छाँह में गोइ।
कहै घाम कौ क्वार कौ, ज्वार खेत जुन होइ ॥३२८॥
भौंह कमान कटाछ सर, समर भूमि बिच लैन।
लाज तजे हूँ दुहुँनि के, सजल[2] सुभट[3]-से नैन ॥३२९॥×
अरुन बसन निकरी पहरि, पावस मैं छबि खानि।
इंद्र गोप-सी गोपिका, गोप इंदु लखि आनि ॥३३०॥

---

१ है, २ सजल, ३ सूर।

छं० नं० ३२४ इस दोहे में शाहजी भोंसला के सुपुत्र छत्रपति महाराज शिवाजी का यश वर्णित है। मतिरामजी के बनाए और भी कई ऐसे हैं, जिनमें शिवाजी की प्रशंसा है। संभवत: मतिराम शिवाजी के आश्रित कवि थे।

*दे० रसराज उ० प्रलाप।

†दे० ललितललाम उ० प्रतिवस्तूपमा।

‡दे० रसराज उ० वचन विदग्धा।

×दे० ललितललाम उ० पूर्णोपमा।

अति सुढार अति हीं बड़े, पानिप भरे अनूप।
नाक मुकत, नैंनानि सों, होड़ परी यह रूप ॥३३१॥
कियो और को सब कछू, मान आपनो लेइ।
क्यों न लहै संताप जौ, भार आप सिर देइ ॥३३२॥
लीने तो अँखियानि उन, औ मुसिक्यानि रसाल।
तुहूँ लाल लोचननि की, लेहि लालसा बाल ॥३३३॥
सखी तिहारे दृगनि की, मधुर[1] मंद मुसिक्यानि।
बसति रहै निसि द्यौस हूँ, अब उनकी अँखियानि ॥३३४॥*
रूप सदन मिलि तन बसन, रदन रुचिर रुचि होति।
दामिनि में बिधु बिंब जनु, बिधु में दामिनि जोति ॥३३५॥
मो जीवन तूँ कहतु है, ब्रज जीवन तूँ पीउ।
जु पै जीव बिन जियत तौ, धिग जीवन यह जीउ ॥३३६॥
प्रान निवासी तोहि तजि, कब को कियो उजार।
तू अजहू लों बसतु है, प्रान कहा सुबिचार ॥३३७॥
तुरत डीठि लगि जाइगी, हौं बिलखी अति आनि।
अनखन दैकै कीजियै, अनख भरी अँखियानि ॥३३८॥
बिषमय किधों पियूषमय, तेरी मृदु मुसिक्यानि।
यहै मूरछित करति है, यहै जिवावति आनि ॥३३९॥
निज पग सेवक समुझि करि, करि उर तें रिस दूरि।
तेरी मृदु मुसिक्यानि है, मेरी जीवन मूरि ॥३४०॥
लाल अमोलक लालची, करत कोटि मनुहारि।
मंदिर आवत इंदिरा, दै न किवार गँवारि ॥३४१॥
तरु ह्वै रह्यो करार को, अब करि कहा करार।
उर धरि नंदकुमार कौ, चरन कमल सुकुमार ॥३४२॥

१ सुधा।

*दे० ललितललाम उ० पर्याय।

अरुन बरन बरनिन परैं, अमर अधर दल माँझ ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं फूली साँझ ॥३४३॥*
बाल बदन प्रतिबिंब बिधु, बिंब रह्यो[1] तिहिं संग ।
उयौ रहत अब रैनि दिन, तपन तपावत अंग ॥३४४॥†
प्रगट दरप कंदरप[2] कौ, तेरो अंग अनूप ।
सुतौ लियौ नँदनंद[3] जित, सुंदर स्याम सरूप ॥३४५॥‡
रोमावली कृपान सों, मारयो सिवहि मनोज ।
ताके भए स्वरूप द्वै, सोहत बाल उरोज ॥३४६॥
कुंद न पावत रदन रुचि, कुंदन अंग प्रकास ।
चंद न पावत बदन छबि, चंदन अंग सुबास ॥३४७॥
रूप रासि वह लच्छ की, तुला चढ़ी वह बाल ।
तऊ न पावति रावरौ, मिलन अमोलिक लाल ॥३४८॥
ललित मंद कलहंस गति, मधुर मंद मुसिक्याति ।
चली सारदा बिसद रुचि, सरद चाँदनी राति ॥३४९॥
मैं जानी ही मिलन तें, मिटिहै तन संताप ।
अब सजनी दूनो चढ्यो, हतक मनोजहिं दाप ॥३५०॥
साँच मदनजित आजु तुम, रंजन रसिक रसाल ।
अनल ज्वाल दृग देखियत, लाल लाल रुचि भाल ॥३५१॥

---

१ उयो रह्यो तिहि, २ कंदर्प, ३ नँदलाल ।

छं० नं० ३४६ कामदेव और शिवजी की शत्रुता प्रसिद्ध हैं। उसी को लक्ष्य करके कवि कहता है कि रोमावली-रूप तलवार से काम ने शिवजी की बड़ी मूर्ति को काटकर उसके दो टुकड़े कर डाले वही नायिका के युगुल कुच हैं। छं० नं० ३४९ सारदा—शारदा=सरस्वती। छं० नं० ३५० हतक=पापी। छं० नं० ३५१ मदनजित= महादेव।

*दे० ललितललाम उ० संदेह ।

†दे० ललितललाम उ० हेतु अपह्नुति ।

‡दे० ललितललाम उ० पर्यायोक्ति ।

पाइनि प्रेम जनाइ जिन, परियै नंदकुमार।
अनल लाल पग लगति है, जावक लीक लिलार ॥३५२॥
रोस-भरी अँखियानि लखि, लोगनि में अनखाइ।
हँसिइ कंत लपटाइ कै, एक रूप ह्वै जाइ ॥३५३॥
प्रीति द्वैज द्विजराज की, कला कलप करि चित्र।
जगत लोक बंदति उदित, बढ़त मित्र जो मित्र ॥ ३५४॥
अँखियनि उमँग अनंग की, छुवत अंग अनखाइ।
प्रीतम तन तावति तरुनि, लाइ लगनि की लाइ ॥३५५॥
दिन-दिन दुगुन बढ़ै न क्यों, लगनि-अगिनि की झार।
उनै-उनै दृग दुहुनि के, बरसत नेह अपार ॥३५६॥
लिखत बाल नख भूमि तन, लखत लाल मुसिक्यानि।
लाज छुटी निसि जानियति, लाज भरी अँखियानि ॥३५७॥
चंचल निसि उद बसि रहौ, करनि प्रात बसि राज।
अरबिंदनि पै इंदिरा, सुंदर नैननि लाज ॥३५८॥*
घटत-बढ़त, बढ़ि जाइ पुनि, घटत-घटत घटि जाइ।
नाह रावरे नेह बिधु, मंडल जितौ बनाइ ॥३५९॥
तलफत घाइनि जीव कों, कौन जियावत आनि।
जो न होति उन दृगनि में, सुधा मधुर मुसिकानि ॥३६०॥

छं० नं० ३५६ लगनि-अगिनि=प्रेमाग्नि। उनै-उनै=उठ-उठकर। नेह=स्नेह, स्निग्ध पदार्थ। प्रेमी और प्रेमिका के नेत्र अत्यधिक स्नेह की वर्षा किया करते हैं तब प्रेमाग्नि की प्रचंडता प्रतिदिन द्विगुणित क्यों न हो जाय। यह प्रकट बात है कि अग्नि पर स्निग्ध पदार्थ छोड़ने से वह और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है। छं० नं० ३५७ लाज छुटी···अँखियानि=नायिका की लजीली आँखों से जान पड़ता है कि रात में लज्जा ने उसका पल्ला छोड़ दिया था अर्थात् रात में उसने प्यारे के साथ सुरति रंग में योग दिया था।

*दे० ललितललाम उ० दीपक।

सोइ संग सुख जागि दुख, लहि समुझौ निरधार ।
छीन पुन्य सुरलोक तें, लेत अवनि अवतार ॥३६१॥*
तनु आगें की चलतु है, मन वाही मग लीन ।
सलिल सोत में ज्यों चपल, चलत चढ़ाऊ मीन ॥३६२॥
प्रतिबिंबित तो बिंब में, भूतल भयो कलंक ।
निज निरमलता दोष यह, मन में मानि मयंक ॥३६३॥†
तिहिं पुरान नव द्वै पढ़ै, जिहिं जानी यह बात ।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान ह्वै जात ॥३६४॥
सपने में सपनो समुझि, होति दूरि ज्यों संक ।
संक छोड़ि संसार की, रही जानि निरसंक ॥३६५॥
तिय हिय आनँद बढ़त हूँ, पर न प्रानप्रिय पेखि ।
बिन देखत को दुख परै, दीन दृगनि में देखि ॥३६६॥
लिखति अवनितल चरन से बिहसत बिमल कपोल ।
अधनिकरे मुख इंदु तें, अमृत-बिंदु ते बोल ॥३६७॥
उमगी उर आनंद की, लहरि छहरि दृग राह ।
बूड़ी लाज-जहाज लों, नेह-नीर-निधि माह ॥३६८॥
हौं मन मोहन के लखति, हों न आपुनी बाउ ।
करत नैन नँदलाल के, हँसत हेरि उर गाउ ॥३६९॥
बसत रहत मतिराम निसि, द्यौस काम अभिराम ।
इंदीबर छबि दृगनि में, इंदीबर छबि स्याम ॥३७०॥
ज्वलित ज्वाल-सी जोन्ह इह, डारति अंग उलीचि ।
भई पियूष मरीचि की, मोकों मरिच मरीचि ॥३७१॥

छं० नं० ३६४ जो पुराना है वह सदा नया है और जो नया है वह पुराना हो जाता है—यह बात जो कोई समझता है उसने अठारहों पुरान (नव द्वै) पढ़ लिए हैं ।

* दे० ललितललाम उ० स्मरण ।

† दे० ललितललाम उ० लेस ।

लोक प्रसून पराग तें, लखत पिंजरनि भृँग।
भए चँबेली के बिरह, पीत रंग सब अंग ॥३७२॥
मानत लाज लगाम नहिं, नेक न गहत मरोर।
होत तोहि लखि बाल के, दृग तुरंग मुँह जोर ॥३७३॥*
सघन स्याम कादंबिनी, राख्यो रोकि अकास।
अति संकट पावत नहीं, जिय हिय में अवकास ॥३७४॥
हियें बसत, मुख हसत हौ, हमकों करत निहाल।
घट-घट व्यापी ब्रह्म तुम, प्रकट भए नँदलाल ॥३७५॥
बरनत साँच असंग कै, तुमकों बेद गुपाल।
हिए हमारे बसत हो, पीर न पावत लाल ॥३७६॥
चढ़े उरोज पहार ए, उर उनके अठिलाहिं।
तो तन नित लाली चढ़ै, ललित लाल पियराहिं ॥३७७॥
कुच कठोर पाषान तें, क्यों न करैं उर पीर।
बड़े नरम जग नैन कत, होत विषम बिष-तीर ॥३७८॥
सखी तिहारी साँच यह, दीपसिखा-सी देह।
दिन दीपति पियराति है, अधिक राति रति नेह ॥३७९॥
दरपन में निज रूप लखि, नैननि मोद उमंग।
पिय मुख पिय बसकरन कों, बढ़्यो गरब को रंग ॥३८०॥†
निज पाइनि बलि आइ कै, तो घर बाइनि देइ।
जाति बाल निज गेह कें, उर उछाह दृग सेइ ॥३८१॥
तो तन सुबरन बरन है, कुटिल स्याम मन माँह।
सखि सनेह कैसें रहै, छुवन न पैयत छाँह ॥३८२॥

छं० नं० ३७४ कादंविनी=बिजली।

* दे० ललितललाम उ० तृतीय विभावना।

† दे० ललितललाम उ० हेतु।

तिय हिय में पिय इंदु मुख, निसि-दिन करत प्रकास।
सीखि सखिनि की छाँह लौं, नेक न पावति बास ॥४८३॥
नैक ओट करि गिरि धरौ, लसत सकंप गुबिंद।
ब्रज बोरत अब इंद्र लौं, मह तोरो मुख-इंदु ॥३८४॥
करबर पर गिरिबर धरै, ललित लाल ललचाइ।
जाके चितवत चखनि कुच, सो सकुचति मुसिक्याइ ॥३८५॥
हारे बरषत बारि अरु, तन दीपति अभिराम।
निदरे सब घनस्याम तूँ, भाँति-भाँति घनस्याम ॥३८६॥
छाती कुच कुंकुमनि की, छाप करी जिहिं बाल।
ताको डर मन में नहीं, मिलत मोहिं नँदलाल ॥३८७॥
नैन-मीन वह बाल के, लाज-जाल परि आनि।
पियत रहत तो बदन की, सुधा मधुर मुसिक्यानि ॥३८८॥
मेरे दृग बारिद बृथा, बरषत बारि प्रबाह।
उठत न अंकुर नेह को, तो उर ऊसर माँह ॥*
राधा चरन सरोज नख, इंद्र किए ब्रजचंद।
मोर मुकुट चंद्रकनि तूँ, चख चकोर आनंद ॥३९०॥
सुखद साधुजन को सदा, गजमुख दाँनि उदार।
सेवनीय सब जगत कौ, जग मा बाप कुमार ॥३९१॥†
मदरव[1] मत्त मिलिंद गन, गान मुदित गन नाथ।
सुमिरत कबि मतिराम के, सिद्धि-रिद्धि-निधिहाथ ॥३९२॥‡
अंग ललित सित रंग पट, अंगराग अवतंस।
हंसवाहिनी कीजियै, बाहन मेरो हंस ॥३९३॥

---

१ मदरस।

छं० नं० ३९३ सतस्वती की वंदना है।

* दे० ललितललाम उ० अवज्ञा।

† दे० ललितललाम मंगलाचरण। ‡ दे० ललितललाम उ० वंदन

नृपति नैन कमलनि बृथा, चितवत बासर चाहि ।
हृदय कमल में हेरि लै, कमलमुखी कमलाहि ॥३९४॥
ब्रज ठकुराइनि राधिका, ठाकुर किए प्रकास ।
ते मन मोहन हरि भए, अब दासी के दास ॥३९५॥
पियत अधर यों देति है, कर कमलनि की मारु ।
लगति स्वादु के सिंधु में, मिरचि किरच लों चारु ॥३९६॥
पियत अधर तू देति है, कर कमलनि की मारु ।
होत पंच अँगुरी लगें, सबल पंचसर मारु ॥३९७॥
करति केलि अति प्रेम सों, पगे प्रेम मद नैन ।
अंबर में चंचल लसैं, खंजरीट-से नैन ॥३९८॥
प्राननाथ परदेस कों, चलियै समो बिचारि ।
स्याम नैन-घन बाल के, बरसन लागे बारि ॥३९९॥
सरद-चाँदनी में बिकच, बिमल मालती कुंज ।
जगत जोतिमय मैन के, मनो सुजस के पुंज ॥४००॥
कोमल कमलनि सों कहैं, तिन्हैं न नेक सयान ।
होत पार लागत हियें, नैन मैन के बान ॥४०१*
ओठ खंडिबे को अरयो, मुख सुबास रस रत्त ।
स्याम रूप नँदलाल अति, नहि अलि अलि उनमत्त ॥४०२॥†
मूढ़[1] इंदु अरबिंदु में, कहत सुधा मधु[2] बास ।
तो मुख मंजुल अधर में, तिनको प्रगट प्रकास ॥४०३॥‡

---

१ झूँठ, २ मृदु ।

छं० नं० ३९४ लक्ष्मी की वंदना है ।

* दे० ललितललाम उ० परजस्तापह्नुति ।

† दे० ललितललाम उ० छेकापह्नुति ।

‡ दे० ललितललाम उ० सापह्नुवातिशयोक्ति ।

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि ।
औरै कछु सुख देत हैं, सकै न बैन बखानि ।।४०४।।*
जो निसि-दिन सेवन करै, अरु जौ करै बिरोध ।
तिन्हैं परमपद देत प्रभु, कहौ कौन यह बोध ।।४०५।।†
लखो लाल तुमकों लखै[1], ए[2] बिलास सरसात ।
बिहसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसिक्यात ।।४०६।।
पगी प्रेम नँदलाल के, हमे न भावत जोग ।
मधुप राजपद पाइ कै, भीख न माँगत लोग ।।४०७।।×
मधुप त्रिभंगी हम तजी, प्रगट परम करि प्रीति ।
प्रगट करी सम जगत में, कटु कुटिलनि की रीति ।।४०८।।+
हरिमुख लखि लोचन सखी, सुख में करति बिनोद ।
प्रगट करत कुबलयनि कौ, चद्रोदय तें मोद ।।४०९।।
बिषयनि तें निरबेदबर, ज्ञान जोग ब्रत नेम ।
बिफल जानियों ए बिना, प्रभु पग पंकज प्रेम ।।४१०।।=
देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह ।
राजत एक पतंग में, बिना कपट को नेह ।।४११।।—

---

१ लखत, २ यों ।

छं० नं० ४०५ इस दोहे का 'मतिराम-सतसई' में दो बार प्रयोग हुआ है ।

* दे० ललितललाम भेदकातिशयोक्ति ।

† दे० ललितललाम तुल्ययोगिता ।

‡ दे० ललितललाम उ० शब्दावृत्तिदीपक ।

× दे० ललितललाम उ० दृष्टांत ।

\+ दे० ललितललाम उ० निदर्शना ।

= दे० ललितललाम उ० विनोक्ति ।

— दे० ललितललाम उ० विनोक्ति ।

ललित राग रंजित हियो, नायक जोति बिसाल ।
बाल तिहारे कुचनि बिच, लसत अमोलिक लाल ॥४१२॥*
कहा भयो जग में बिहित, भए उदित छबि लाल ।
तो ओठनि की रुचिर रुचि, पावत नहीं प्रबाल ॥४१३॥†
प्रगट कुटिलता जो करी, हम पर स्याम सरोस ।
मधुप जोग बिख उगिलियै, कछु न तिहारो दोस ॥४१४॥‡
हसत बाल के बदन में, यों छबि कछू अतूल ।
फूली चंपक बेलि तें, झरत चमेली फूल ॥४१५॥+
भयो सिंधु ते बिधु सुकबि, बरनत सुमति[1] बिचार ।
उपज्यौ तो मुख इंदु तें, प्रेम-पयोधि अपार ॥४१६॥×
पियत रहत पिय नैन यह, तेरी मृदु मुसिक्यानि ।
तऊ न होत मयंक-मुखि, तनक प्यास की हानि ॥४१७॥=
पिय नैननि के राग कौं, भूषन सजे बनाइ ।
निरखि[2] तिहारी छबि सुतौ, सौति दृगनि सरसाइ॥४१८॥—
उदै भयो है जलद तू, जग कौ जीवन-दान ।
मेरो जीवन हरतु है, कौन बैर मन मान ॥४१९॥§

---

१ बिना, २ लखें ।
छं० नं० ४१३ प्रबाल=मूँगा ।
* दे० ललितललाम श्लेष ।
† दे० ललितललाम उ० श्लेष ।
‡ दे० ललितललाम उ० व्याजनिंदा ।
× दे० ललितललाम उ० चतुर्थ विभावना ।
+ दे० ललितललाम उ० छठी विभावना ।
= दे० ललितललाम उ० विशेषोक्ति ।
— दे० ललितललाम उ० द्वितीय असंगति ।
§ दे० ललितललाम उ० असंगति ।

बिरह आँच[1] मन उड़ि[2] सखी, घन सुंदर तन जाइ।
दुगुन दाह बाढ़ै तहाँ, आपुहि जात बिलाइ[3] ॥४२०॥*
जिनमें[4] अतुल बिलोकियै, पानिप पारावार।
उमड़ि चलत नित दृगनि भरि, तो मुख रूप अपार॥४२१॥
मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जिन भार तें, निपट पातरी लंक ॥४२२॥+
जुपै सखी ब्रज गाँउ मैं, घर-घर सहज[5] चवाउ।
तौ हरि-मुख लखि देति किन, नैनि चकोरनि चाउ॥४२३॥×
कनक-बेलि में कोकनद, तामें स्याम सरोज।
तनि में मृदु मुसिक्यानि है, तामें मुदित मनोज ॥४२४॥+
मो मन मेरी बुद्धि लै, करि हरि कों अनुकूल।
लै त्रिलोक की साहिबी, दै धतूर को[6] फूल ॥४२५॥=
फिरि-फिरि आवति जाति चलि[7], अँगरानी[8] मुसिक्याति।
बाल लाल कौ ललित मुख, लखि लजाति ललचाति॥४२६॥–
तो मुख छबि सों हारि जग, धयो कलंक समेत।
सरस इंदु अरबिंदुमुखि, अरिबिंदनि दुख देत ॥४२७॥§

---

१ ताप, २ डरि, ३ सिराह, ४ के, ५ चलत, ६ के, ७ भजि, ८ राति मधुर।

* दे० ललितललाम उदाहरण तृतीय विषम।

† दे० ललितललाम उदाहरण अधिक।

‡ दे० ललितललाम उदाहरण अल्प।

× दे० ललितललाम उदाहरण द्वितीय व्याघात।

‡ दे० ललितललाम उदाहरण मालादीपक।

= दे० ललितललाम उदाहरण परिवृत्ति।

– दे० ललितललाम उदाहरण कारक दीपक।

§ दे० ललितललाम उदाहरण प्रत्यनीक।

मधुप मोह मोहन तज्यो, यह स्यामनि की रीति ।
करो आपने काज कौ, तुम्हैं जाति[1] सी प्रीति ।।४२८।।*
गंग नीर बिधु रुचि झलक, कहु[2] मुसिक्यानि उदोति ।
कनक-भौन के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति ।।४२९।।
खल बचनन की मधुरई[3], चाखि साँप निज स्त्रौन ।
रोम-रोम पुलकित भए, कहत मोद गहि मौन ।।४३०।।‡
मेरी सिख[4] सीखे[5] न सखि, मोसों उठै रिसाइ ।
सोयो चाहति नींद भरि, अंग[6] अँगार बिछाइ ।।४३१।।×
हरि की सुधि कों राधिका, चली अकेली भान ।
हँसत बीच हीं मिलि गए, बरबस कै सुख कौन ।।४३२।।+
मंत्रिनि के बस जो नृपति, सो न लहतु सुख साज ।
मनहिं बाँधि दृग देत दृग[7], मन कुमार[8] कौ राज ।।४३३।।=
दधि छिनाइ[9] मोहन लियो, सखी सघन बन ठौर ।
बड़ो लाभ मन में गनौं, जौन कियौ कछु और ।।४३४।।—
कहा भयो तजि जात है, मलिन मधुप दुख मानि ।
सुबरन बरन सुबास जुत, चंपक लहै न हानि ।।४३५।।§

---

१ भाँति, २ मृदु, ३ मधुरता, ४ सीख, ५ सिखै, ६ सेज, ७ हैं, ८ मनहु मार, ९ छुढ़ाइ ।

* दे० ललितललाम उदाहरण विकस्वर ।

† दे० ललितललाम उदाहरण प्रौढ़ोक्ति ।

‡ दे० ललितललाम उदाहरण मिथ्याध्यवसित ।

× दे० ललितललाम उदाहरण ललित ।

+ते० ललितललाम उदाहरण प्रहर्षण ।

=दे० ललितललाम उदाहरण उल्लास ।

—दे० ललितललाम उदाहरण उल्लास ।

§ दे० ललितललाम उदाहरण अवज्ञा ।

देह दीप दीपति दिपै, बदन चंद की ज्योति।
दामिनि दुति मुसिक्यानि मृदु, सुख की खानि उदोति ॥४३६॥*
मुकत हार हरि के हियें, मरकत मनिमय होति।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसिक्यानि उदोति ॥४३७॥†
बदन चंद की चाँदनी, देह दीप को जोति।
राति बितें हूँ लाल वह, भौन राति-सी होति ॥४३८॥‡
लाल चित्र अनुराग सों, रँगति नित्त सब अंग।
तऊ न छाड़त साँवरो, रूप साँवरो रंग ॥४३९॥ ×
आई फूलनि लैन कों, चलौ बाग में लाल।
मृदु बोलनि सों जानिहौ, मृदु बेलिन में बाल ॥४४०॥ +
ग्वालिनि देउ बताइ हौं, मोंहि कछू तुम देहु।
बंसीबट की छाँह में, लाल जाइ लखि लेहु ॥४४१॥ =
सरद चंद की चाँदिनी, को कहिए प्रतिकूल।
सरद चंद की चाँदिनी, कोकहिए प्रतिकूल ॥४४२॥ –
को हरि बाहन जलधि सुत, को को[1] ज्ञान जहाज।
तहाँ चतुर उत्तर दियौ, एक बचन द्विजराज ॥४४३॥
भोर भए आए भवन, स्याम-बसन जुत स्याम।
हँसि अंबर केसरि रँग्यो, आगे राख्यो बाम ॥४४४॥

---

१ है।

छं० नं० ४४४ इस दोहे में वही भाव है जो रसराज के उत्तमा नायिका और ललितललाम के पिहित अलंकारवाले छंद में है। अलंकार और नायिका भी वही हैं। यथा—'अंबर केसरि रंग रँग्यो मुसकाय कै मोहन के कर दीनो।'

* दे० ललितललाम उ० मुद्रा।

† दे० ललितललाम उ० पूर्वरूप। ‡ दे० ललितललाम उ० पूर्वरूप।

× दे० ललितललाम उ० अतद्गुन। + दे० ललितललाम उ० विशेषक।

= दे० ललितललाम गूढ़ोत्तर। – दे० ललितललाम उ० चित्र।

यों न प्यार बिसराइयै, लियो मोहिं तू मोल ।
मुख बिलोकि[1] नँदलाल कौ, कहै सखी सों बोल ।।४४५।।
लखत लाल मुख पाइहौ, बरनि सकै नहिं बैन ।
लसत बदन सतपत्र सों, सहसपत्र से नैन ।।४४६।।
उड़ि गुलाल पिय करनि तें, लगत पिया मुख-चंद ।
मनो कोकनद रजनिकर, करत रजनिकर मंद ।।४४७।।
सेत बसन की चाँदनी, परत गुलाल सुरंग ।
मानो सुर-सरिता मिलति, सरसुति तरल तरंग ।।४४८।।
सित अंबर जुत तियनि में, उड़ि-उड़ि परत गुलाल ।
पुंडरीक पटलनि मनो, बिलसति आतप बाल ।।४४९।।
स्याम रूप अभिराम अति, सकल बिमलगुन धाम ।
तुम निसि-दिन 'मतिराम' की, मति बिसरौ मतिराम ।।४५०।।

---

१ निरखत ।

छं० नं० ४४६ सतपत्र—शतपत्र=कमल । सहसपत्र—सहस्रपत्र= कमल । लसत ··नैन=मुख और नेत्र दोनों कमल-पुष्पों के समान हैं यदि मुख शतपत्रतुल्य है तो नेत्र सहस्रपत्रवत् अर्थात् मुख देखने से यदि सौ प्रकार के मनोभावों का पता चलता है तो नेत्रों से सहस्र भावों की सूचना मिलती है । तात्पर्य यह कि मुख की अपेक्षा नेत्र अधिक बातें प्रकट करते हैं । छं० नं० ४४७ रजनिकर=रज-निकर=पराग-समूह । रजनिकर=रात्रि करनेवाला चंद्रमा । छं० नं० ४४९ भावार्थ—स्त्रियाँ सफ़ेद कपड़े पहने हुए हैं । होली खेलते समय उन पर जब गुलाल पड़ता है तो ऐसा जान पड़ता है, मानो सफ़ेद कमल के दलों पर प्रातःकाल का प्रकाश विलसित हो रहा हो । छं० नं० ४५० तुम निसि-दिन··मतिराम= हे राम, तुम कभी भी 'मतिराम' कवि की बुद्धि (मति) को मत (मति) भुलाना । 'मति' शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है । पहली बार वह 'मतिराम' नाम का अंग है । दूसरी बार उसका अर्थ निषेधात्मक 'मत' है और तीसरी बार मति के शुद्ध अर्थ बुद्धि से प्रयोजन है ।

प्रेम लग्यो अंगार ह्वै, सीता मन बिन ज्ञान।
देत अँगूठी राम की, मानिक भो हनुमान ॥४५१॥
रहै और ही रूप ह्वै, बिषम बिरह दुख सानि।
डीठि परे हूँ परसपर, नीठि परै पहिचानि ॥४५२॥
मोही को किन मार तू, बिरह बिपति में गाड़ि।
जलज-मुखी कौ जलद जिन, तड़ित चाबुकनि ताड़ि ॥४५३॥
अजहूँ प्रगटित होत है, पुलक पटलता माँह।
जौन अंग डिढ़ ह्वै कढ़त, छुहौ छैल की छाँह ॥४५४॥
सिरिस कुसुम सम बाल के, कुम्हिलाने सब गात।
करत प्रात अलसात अति, सौति हियनि उतपात ॥४५५॥
प्रतिपालक सेवक सकल, पलन दलमलत डाँटि।
संकर तुम सब साँकरे, सबल साँकरैं काटि ॥४५६॥
सेवक सेवा के सुनें, सेवा देव अनेक।
दीनबंधु हरि जगत है, दीनबंधु हर एक ॥४५७॥
सघन तिमिरि में तरुनि की, जगमगाति तन जोति।
प्रेम हेम, पावस कुहू, निसा कसौटी होति ॥४५८॥
रूप बैस मदिरा मदन, मदन मदरि से नैन।
प्रेम छके पिय छबि छके, हटके नैक रहैं न ॥४५९॥
पिय मुख रुचि चारो चुगैं, करत परस्पर चैन।
मदन मदर से बाल के, बदन मदरि सै नैन ॥४६०॥
मदन इंदु अरबिंदु सों, सुधा सधुर मधु बैन।
मेरे होत चकोर-से, चंचरीक-से नैन ॥४६१॥

छं० नं० ४५६ साँकरे=संकट में। साँकरैं=जंजीरें, बंधन।
छं० नं० ४५८ भावार्थ—घोर अंधकार में तरुणी के शरीर की जगमगाहट देखकर ऐसा जान पड़ता है कि बरसात की अमावस रात को कसौटी का पत्थर बनाकर उस पर प्रेम रूपी सोना कसा जाता है।

बरनत भौंह कमान जुत, बरनत बैन बनै न ।
सरल-सरल सत मदन के, तरल-तरलतर बैन ॥४६२॥
तेरी मूरत जुत लिखी, निज सूरति लखि बाल ।
धनि मानति मन भाँवती, निज तनु तें नँदलाल ॥४६३॥
तची न तो औगुननि सों, रची न तो अनुराग ।
ब्रज में देहु बताइ कै, ऐसी तिया सभाग ॥४६४॥
बिहसि बढ़ायो लाल तुम, तिय हिय में अनुराग ।
बिफल क्यों न दुख देत ज्यों, आप लगायो बाग ॥४६५॥
निसा समैं अरबिंद रुचि, द्यौस इंदु की ज्योति ।
बाल-बदन छबि तो बिरह, लाल कहा धौं होति ॥४६६॥
चली सहेटनि कुंज कों, धरि सित भूषन चीर ।
जोन्ह बीच अंबुजमुखी, भई कंबु की छीर ॥४६७॥
मेरे मन तो बसति है, नैन कियो अपराध ।
तुम्हैं दोस को देतु है, है यह काम असाध ॥४६८॥
जमुना तट वा कुंज में, तुम जु दई ही माल ।
निकसति जीवहिं बाँधि कै, तासों राखति बाल ॥४६९॥*
जिन चलाइयै चलन की, चरचा स्याम सुजान ।
हों देखति हों वाहि यहिं, बात सुनत बिन प्रान ॥४७०॥†
नैननि कौ आनंद है, जिय की जीवनि जानि ।
प्रगट दरप कंदरप कौ, तेरी मृदु मुसिक्यानि ॥४७१॥‡

छं० नं० ४६७ कंबु को छीर=चाँदनी में सफ़ेद कपड़े और आभूषण पहने नायिका ऐसी जान पड़ती थी मानो सफ़ेद शंख में दूध झलक रहा हो ।

*दे० ललितललाम उ० उपलक्षण उदात्त ।

†दे० ललितललाम उ० भाविक ।

‡दे० ललितललाम उ० हेतु ।

कहा करों परबस भई, लखि मुख रूप रसाल ।
बेची मैं नँदलाल ह्वै, लीनी मैं नँदलाल ।।४७२।।
निठुराई नहिं निठुर पै, कहति साँच कित बात ।
लगे कंटकित कुचनि में, भए कंटकित गात ।।४७३।।
कहा भयो सो तू भटू, गुन गनमय सब देह ।
जोबनवारी तो सकल, जो बनवारी नेह ।।४७४।।
मुकत माल मंडित लसै, बाल उरोज उतंग ।
नखत पाँति सोभित मनो, बिबि सुमेरु को शृंग ।।४७५।।
दीप-जोति के जाल से, जगमगाति अति अंग ।
मानस मानस के चपल, उड़ि-उड़ि परैं पतंग ।।४७६।।
निंदति अति अभिराम तौ, इंदीबरनि अनूप ।
झलकति तो अँखियानि में, अति घनस्याम सरूप ।।४७७।।
लसत सुरत स्रम सलिल कन, ललित बाल नँदलाल ।
फली मनो मुकता फलनि, कंचन बेलि तमाल ।।४७८।।
बिहसत नील दुकूल से, लसत बदन अरबिंदु ।
झलकत जमुना रूप में, मानो पूरन इंदु ।।४७९।।
जर तारी सारी ढके, नैन लसति मतिराम ।
मनो कनक पंजर परे, खंजरीट अभिराम ।।४८०।।
कान्हकरज-छत देत यों, सोहत बाल उरोज ।
सरसरोज सों संभु कौं, मारत मनो मनोज ।।४८१।।
स्याम नैन प्रतिबिंब जुत, तिय के उरज उतंग ।
मनो मनोज सरोज सर, लगे ईस के अंग ।।४८२।।

छं० नं० ४७२ बेची॰॰नँदलाल=कामदेव ने दलाल की हैसियत से मुझे बेंच डाला और मुझको नंदलाल ने मोल ले लिया। मैं नँदलाल—मैंन+दलाल । मैं नँदलाल=मैं+नँदलाल । छं० नं० ४७४ जोबनवारी=१ यौवनावस्था की, २ जो कृष्ण । छं० नं० ४७५ बिबि=दो । छं० नं० ४८१ कान्हकरज-छत=कृष्ण का हाथों से दलमलना ।

रचे बिरंचि बनाइ कै, तेरे ईस उरोज।
तिनके पूजन कों किए, हरि के हाथ सरोज ॥४८३॥
बदन इंदु तेरो अली, दृग अरबिंद अनूप।
तिनमें निसि बासर सदा, बसत इंदिरा रूप ॥४८४॥
तो मुख मंजुल हास मृदु, मदन मोद कौ मूर।
पिय नैननि सीतल करत, ह्वै कपूर को चूर ॥४८५॥
तेरे आनँद चंद कौ, मधुर मंद मृदु हास।
मेरो जानि मनोज कौ, कीरति पुंज प्रकास ॥४८६॥
रची बिरंचि बनाइ तूँ, सुबरनमय बर बाल।
बढ़ै जोति जौ तो मिलै, इंदु नील रुचि लाल ॥४८७॥
बिमल बाम के बदन में, राजत ओठ रसाल।
मनो सरद बिधु बिंब मैं, लसत बिंबफल लाल ॥४८८॥
लसत मुकुत रुचि लाल की, मेरे ओठनि सेइ।
अति अद्भुत यह बात पुनि, लाल मुकुत रुचि लेइ ॥४८९॥
अली तिहारे अधर में, सुधा भोग की साज।
द्विजराजनि जुत न्योतिए, लाल बदन दुजराज ॥४९०॥
दुहुँ दिसि जघन नितंब कुच, खैंचत है निधि सार।
छीजै क्यों न मयंक-मुखि, ललित लंक सुकुमार ॥४९१॥
क्यों न लहै सुख भोग कों, ललित बाल के साथ।
नीवी नीवीं मदन की, परी नाह के हाथ ॥४९२॥
कर सरोज सो गहि रही, पिय कर गहत उरोज।
लाल प्रबल मन में भई, मन में सबल मनोज ॥४९३॥
बैठि रहै, रोवै, हँसै, आतुर उतरि उताल।
प्रथम सुरति बिपरीति की, रीति न जानत बाल ॥४९४॥

छं० नं० ४९० द्विजराजनि जुत=१ ब्राह्मणों समेत, २ दाँत की पंक्तियों समेत। दुजराज=१ चंद्रमा, २ मुख, ३ कृष्ण। छं० नं० ४९२ नीवी=नारा। नीवीं=मूल, नीव।

थकी सुरत बिपरीत में, लियो बिजन कर बाल।
लोचन रही छिपाइ कै, लख्यो हसत मुख लाल ॥४९५॥
भोर होत पिय कौ लख्यो, छोड़्यो चहत समीप।
बिधु-मुख लोचन कमल से, तनु दीपति तनु दीप ॥४९६॥
परै न धुनि सुनि सखिनि कों, लाजनि होति अधीर।
कर कमलनि सों गहि रहै, सुरत मुखर मंजीर ॥४९७॥
बाल सुरत रस रीति में, गही लाज अरु मैन।
करनि बिरल अँगुरीनि करि, मूँदति नायक नैन ॥४९८॥
लाज मैन दुहुँ बिच परी, सुरत समैं मुसिक्याइ।
कमल चलावै करनि गहि, दीप समीप बचाइ ॥४९९॥
रति बिपरीत प्रस्वेदकन, पिय कों सींचति बाम।
मनो प्रौढ़ पुन्नाग के, मुकुलनि पूजति काम ॥५००॥
राजत अरुन सरोज हैं, मानहु रँगे कुसुंभ।
जोबन मद गज कुंभ के, सात कुंभ से कुंभ ॥५०१॥
ऊँची स्वासनि सौंपिऐ, सुरत अंत मुसिक्याइ।
पुनि पीतम के मैन की, दीनी आगि जगाइ ॥५०२॥
मनो मैन के निधि कलस, तेरे तरुनि उरोज।
चाहत जे तिय पै इन्है, बातनि हनत मनोज ॥५०३॥
पल्लव पग, कर अधर हैं, फल उरोज, नख फूल।
भौंर भीर बर बार हैं, बाल बेलि के तूल ॥५०४॥
नख-गाँसी, सर-आँगुरी, कर-पग चारु तुनीर।
दसों दिसनि जिन बरजि ते, पवर पंचसर बीर ॥५०५॥
ज्वाल जाल बिज्जुलि छटा, घटा धूम अनुहारि।
बिरहिनि जारनि को मनो, लाई मदन दँवारि ॥५०६॥

छं० नं० ५०० पुन्नाग मुकुल=अधखिले सफ़ेद कमल। छं० नं० ५०१ सातकुंभ=आनंदराशि। छं० नं० ५०५ पवर—प्रवर=श्रेष्ठ।

बलय पीठि, तरिवन भुजनि, उर कुच-कुंकुम-छाप ।
तितै जाहु मन भाँवते, जितै बिकाने आप ।।५०७।।*
इन झूठी सौंहनि कियैं, नहिं ह्वैहौ अकलंक ।
कियो अधर अंजन प्रभा, बदन-चंद सकलंक ।।५०८।।
बैठो आनन कमल के, अरुन अधर-दल आइ ।
काटन चाहत भाँवते, दीजै भौंर उड़ाइ ।।५०९।।
चित्रन इत उत चटपटे, कहत लटपटे बात ।
× × × ।।५१०।।
जावक दीयो पगनि में, जुवती जाति सिंगार ।
पुरुष प्रानप्रिय जानियत, मंडन कियो लिलार ।।५११।।
भली लगै मन भाँवते, करी आभरन आप ।
काम निसेनी-सी बनी, यह बेनी की छाप ।।५१२।।
जनो उड़ावत हौ नहीं, पीर न होत सभाग ।
ठौर-ठौर या भौंर के, दसें अधर दल दाग ।।५१३।।
झीने झगा बिलोकियत, नख छत छबि धर नाह ।
भले बिराजत ए नए, चंद्रहार हिय माह ।।५१४।।
ललित तिहारे गुननि सों, अति सनेह सरसाइ ।
काम ओज वाके हिए, दीनो दीप जगाइ ।।५१५।।
अतनु तेज तलफै सुतनु, तनु जीवन ज्यों मीन ।
नंदलाल वह ह्वै रही, चंदकला सम छीन ।।५१६।।
कहा कहों वाकी दसा, सुनो साँवरे बात ।
देखे बिन कैसे जियै, देखत दृग न अघात ।।५१७।।

छं० नं० ५१० में दोहे का का अंतिम अर्द्धभाग हस्त-लिखित प्रति में नहीं है । छं० नं० ५१२ निसेनी=सीढ़ी ।

*दे० रसराज उ० मध्या अधीरा ।

धरै कौन बिधि धीर वह, सुनो धीर बलबीर।
काम तीर की भीरभरि, हियरो भरचो तुनीर ।।।५१८।।
वाके हिय के हनन को, भयो पंच सर बीर।
लाल तुम्हैं बसकरन कों, रहै न तरकस तीर ।।५१९।।
बचन कहत आवत न बनि, चलौ लखौ बलि आपु।
प्रबल अनंग प्रताप सों, अंग-अंग संतापु ।।५२०।।
सखिन करति उपचार अति, परति बिपति उत रोज।
झुरसत ओज मनोज के, परसि उरोज सरोज ।।५२१।।
जागत ओज मनोज कें, परसि पिया के गात।
पापर होत पुरैनि के, चंदन-पंकिल पात ।।५२२।।
घन-सुंदर तो छबि घटा, उनै रही मन छाइ।
लाज चंचला लौं चमकि, चंचल जाति बिलाइ ।।५२३।।
सुंदरि नगर अनंग कौ, तेरो अंग अनूप।
सोभित सुबरन बरन में, उरज गुरज के रूप ।।५२४।।
तुम लाइक हम हैं कहाँ, तुम हम तें कमनीय।
मो मन तो तन में बसौ, बसति पाइ रमनीय ।।५२५।।
रंध्रजाल[1] मग ह्वै कढ़त, तिय तन दीपति पुंज।
झिंझिया को,[2] सो घट भयौ, दिन ही में बन कुंज ।।५२६।।*
सुनि-सुनि गुनि सब गोपिकनि, समुझचो सरस सवाद।
कढ़ी अधर की माधुरी, मुरली ह्वै करि नाद ।।५२७।।

---

१ जालरंध्र, २ कैसो।

छं० नं० ५२२ चंदन-पंकिल=जिनमें घिसा हुआ चंदन लथेड़ा है। पापर=पापड़। छं० नं० ५२३ घन-सुंदर=घनश्याम। छं० नं० ५२४ गुरज=गुर्ज। छं० नं० ५२५ बसति=बस्ती।

*दे० रसराज उ० नायिका।

अब फिरि आवत है नहीं, मो तन जीवन हीन।
तो तन पानिप रूप में मो मन रूप बिलीन ॥५२८॥
भई देवता-भाव वह[1], हौं[2] तुमको बलि जाउँ।
वाही को मुख रूप मन[3], वाही को मुख नाउँ ॥५२९॥*
कहै चीर के चोर सों, बातैं भौंह चढ़ाइ।
लखैं परस्पर गोपिका, आपुस मैं मुसिक्याइ ॥५३०॥
बिसरि जात सब दुख सखी, मन में आनत जाहि।
अवलोकन पैयत नहीं, अवलोकनि सो ताहि ॥५३१॥
करियै संग सखीनि के, कहौ कौन बिधि सैल।
अलि रोकत मग बास मैं, छैल गाँउ मैं गैल ॥५३२॥
सिला सघन घनस्याम उर, तिय कुच सैल कठोर।
मुकत हार दुरि जात हैं, परिरंभन के जोर ॥५३३॥
लगी रहै हरि हिय इहै, करि ईरखा विसाल।
परिरंभन में बल्लवी, भली दली बनमाल ॥५३४॥
अधम अजामिल आदि जे, हाँ तिनको हौं राउ।
मोहू पर कीजै मया, कान्ह दया-दरियाउ ॥५३५॥
लसति दान की ज्योति यों, बाल बदन मुसिक्यात।
अमल किंजलक झलक ज्यों, कमल प्रफुल्लित प्रात ॥५३६॥
मिलि बिसरे हो आपु कौ, सुमिरत सुधि न सँभार।
किंकिन कौ उर हार करि, करिहो कहा बिहार ॥५३७॥
अधर रंग बेसरि मुकत, मानिक बानिक लेत।
हँसत बदन दीपति बहुरि, होति हीर छबि सेत ॥५३८॥

---

१ सब, २ वह, ३ मन ध्यान है।

छं० नं० ५३० चीर के चोर=चीर हरण करनेवाले कृष्ण। छं० नं० ५३२ सैल=सैर। छं० नं० ५३४ बल्लवी=गोपी। छं० नं० ५३६ किंजलक=केसर।

*दे० रसराज उ० मध्यम-मान।

अनमिष नैन कहे न कछु, समुझै सुनै न कान ।
निरखे मोर पखानि के, भई पखान समान ।।५३९।।*
उठे जगत दुख दैन कों, तो कठोर कुच कुंभ ।
निसिचर कुंभ-निकुंभ ज्यों, दानव सुंभ निसुंभ ।।५४०।।
प्रतिबिंबित निज रूप लखि, पिय के नैनन माँह ।
मुख चुंबन को प्रेम सों, गह्यो कंठ दुहुँ बाँह ।।५४१।।
सकल कला कमनीय पिय, मिलन मोद अधिकात ।
बिलसति मालति मुकुल निसि, निस मुख मृदु मुसिक्यात ।५४२
दरकत नहीं बियोग में, लगें घनक घनघोर ।
तेरे उरजनि मिलि भयौ, मेरो हियो कठोर ।।५४३।।
हरि रानिनि में राधिका, जुवतिन बानी एक ।
बर सुहाग अनुराग कौ, कीनो बिमल बिबेक ।।५४४।।
राधा की बेनी लखी, जो हरि गूँदी आप ।
चित सुख सागर कों भयो, बड़वानल संताप ।।५४५।।
लसति लाल रुचि तरुनि के, अमल कपोलनि पीक ।
रुचि-रुचि परसत मुकुर में, मनो अनल की लीक ।।५४६।।
बाल लाल मुख सौति कौ, सुन्यो नाम परकास ।
बरषे बादर सेंन पर, उड़्यो हंस सम हास ।।५४७।।
कहा रहै निहचिंत ह्वै, लखौ लाल चलि आप ।
प्रलय अनिल सम स्वास हैं, प्रलय अनल सम ताप ।।५४८।।

छं० नं० ५४० कुंभ, निकुंभ और शुभ, निशुंभ का वर्णन पुराणों में है। छं० नं० ५४३ उरजनि=उरोजों को। छं० नं० ५४७ रसराज के मध्यम मान का भाव इस दोहे में है। छं० नं० ५४८ अनिल=वायु। अनल=अग्नि।

*दे० रसराज उ० जड़ता। वही भाव इस दोहे में भी है।

चाहत फल तेरो मिलन, निसि-बासर वह बाल ।
कुच सिव-पूजति, नैन जल, बुंद मुकतमय माल ॥५४९॥
तरुनि अरुनि एड़ीनि के, किरन समूह उदोति ।
बेनी मंडन मुकत के, पुंज गुंज दुति होति ॥५५०॥*
लाल बदन लखि बाल के, कुचनि कंप रुचि होति ।
चपल होत चकवा मनो, चाहि चंद की जोति ॥५५१॥†
गयो महाउर छूटि यह, रह्यो सहज इक अंग ।
फिरि-फिरि झाँवति है कहा, रुचिर चरन के अंग ॥५५२॥
लसत कोकनद करनि में, यों मिहदी के दाग ।
ओस बिंदु पर कै मिट्यो, मनो पल्लवनि राग ॥५५३॥
सुनि इत दै मन मानिनी, बिन अपराध रिसानि ।
नेह जनावन[1] कों महा, दीप जोति उर आनि ॥५५४॥‡
सुनि मानिनि अपराध बिन, कहा तजति दृग बारि ।
सुसि बासर यह भानियै, डारै राग पखारि ॥५५५॥
बैठ्यो ओज जगाइ कै, मन सिंहासन मारु ।
मनो छपाकर छत्र छबि, किरनैं चाँवरु चारु ॥५५६॥
हसनि जोन्ह तेरी लखैं, सुनियै नंदकिसोर ।
वाके नैननि होत हैं, कुबलय किधों चकोर ॥५५७॥

---

१ जरावन ।

छं० नं० ५५२ झाँवति=रगड़-रगड़कर धोती है । छं० नं० ५५५ भावार्थ—हे मानिनी आँसू मत बहाओ । याद रक्खो अश्रु-जल राग (१ रंग, २ अनुराग) को धो डालता है अर्थात् मान-रुदन से अनुराग नष्ट हो जायगा । छं० नं० ५५६ चाँवरू=चँवर ।

*दे० रसराज उ० नायिका ।

†दे० रसराज उ० कंप ।

‡दे० रसराज उ० मानवती ।

मंडित मृदु मुसिक्यानि दुति, देखत हरत कलेस ।
ललित लाल तेरो बदन, तिय लोचन तारेस ॥५५८॥
रह्यो हारि बिपरीति में, पिय नैननि में आइ ।
चंदमुखी सींचति मनो, सुधा-कलस-कुच नाइ ॥५५९॥
सखी सबै सिंगार सुभ, सजि सुंदरि के अंग ।
केलि भौन पहुँचाइ कै, फिरी लाज के रंग ॥५६०॥
नीबी खोलनि कों गही, पिय अनुराग निखोटि ।
हरष नयन जलमय बसन, कियो लाज निज ओटि ॥५६१॥
आँसु छपा के हरष के, सजनी भौंह चढ़ाइ ।
कुच कंचुक रोमंच कौ, क्यों न दुरायो जाइ ॥५६२॥
ह्वै छपाइ भूषननि सों, आए गात छपाइ ।
भए चीन्ह उत छपारत, ए नहिं जात छपाइ ॥५६३॥
रहत नहीं मो जीव यह, चलत तिहारे संग ।
याकों नीकें राखियो, पिय बसाइ निज अंग ॥५६४॥
डीठि रूप, स्रुति बचन, तनु, परस सुखद दिन-राति ।
जीभ अधर-रस, नासिका, मुख़-सुबास न अघाति ॥५६५॥
परसत तिय के करनि ते, चल्यो पिघिल नवनीति ।
चलनहार परदेस कों, कियो न पुनि मन मीत ॥५६६॥
कहा भयो जो सुरतु मैं, फूले रूख बिसाल ।
कलकंठी सुख लहति है, प्रफुलित पाइ रसाल ॥५६७॥
कलकंठी तो नाम हौ, रही मैन सब काल ।
पाइ प्रसाद रसाल कौ, बोलनि लगी रसाल ॥५६८॥
भौंर भाँवरे भरत हैं, कोकिल कुल मँडरात ।
या रसाल की मंजरी, सौरभ सुभ सरसात ॥५६९॥

छं० नं० ५५८ तारेस=चंद्रमा । छं० नं० ५६५ स्रुति=कान ।
छं० नं० ५६८ रसाल=रसमय, रसराज कृष्ण ।

कासों जाति बखानि है, आँब-कली रस चित्त ।
बिसरायो जिहिं जाति तें, चंचरीक कौ चित्त ॥५७०॥
लीनो रस कोकिल कुलनि, आँब-कली को झारि ।
तासों मन मान्यो मधुप, सुमना सुमन बिसारि ॥५७१॥
बहु नाइक सों बावरी, मधुर बचन मुख बोलि ।
उतरि जाइगौ रूप मद, कटुक बचन मुख बोलि ॥५७२॥
कियौ कंत चित चलन कों, तिय हिय भयौ बिषाद ।
बोल्यो चरनायुध सु तौ, भयो नखायुध नाद ॥५७३॥
फूल कपोल मधूक के, अधर बिंब फल रत्त ।
रस चाखत पिय बुद्धि बन, क्यों न होइ उनमत्त ॥५७४॥
निरचि तरनि कर निकर कौ, अरु बरनत आलोक ।
होत प्रफुल्लित सोक तजि, सकल कोकनद कोक ॥५७५॥
पिया अलोकनि मैं निरखि, पीक अरुन बर जोति ।
तन दीपति दिन दीप सब, सब सौतिनि ही होति ।५७६॥
बसन हरयो पिय सुरत में, तिय तन जोति समीप ।
केलि-भौन में राति हू, भए द्यौस के दीप ॥५७७॥
अटा ओर नँदलाल उत, निरखौ नेक निसंक ।
चपला चपलाई तजी, चंदा तजो कलंक ॥५७८॥
पिय मुख पंकज में परे, तिय-दृग-मधुप उड़ाइ ।
अरुन भए रस पान बस, राग पराग लगाइ ॥५७९॥
आनँद आँसुन सों रहैं, लोचन पूरि रसाल ।
दीनी मानहु लाज कों, जल अंजुलि बर बाल ॥५८०॥
बिरह अनल कुमुदिनि हियें, डारयो जोन्ह बुझाइ ।
कुमुदिनि तें मनो धूम रुचि, अलि-कुल चले उड़ाइ ॥५८१॥

छं० नं० ५७१ सुमना=मालती । छं० नं० ५७३ चरनायुध=मुरगा । नखायुध=नृसिंह । छं० नं० ५७४ मधूक=महुआ ।

रति बिलास सुक सारिकनि, कहै गुरुनि में प्रात ।
लाज ललित गुन गौरि के, दुरे गात में गात ॥५८२॥
परी बाल मुख-चंद में, बिरह राहु की छाँह ।
कै दृग दान छुड़ाइयै, सकृत हेतु करि नाँह ॥५८३॥
अति अवदात महा मिही, कसी उरोज उतंग ।
केसरि रंग रँगी लगै, अँगिया अंगनि संग ॥५८४॥
फूले नहीं पलास ए, बन में लगी दँवारि ।
साँच कहति सजनीनि तौ, सकै न नैननि जारि ॥५८५॥
उड़त भौंर ऊपर लसै, पल्लव लाल रसाल ।
मनो सधूम मनोज को, ओज-अनल की ज्वाल ॥५८६॥
बिकच अरुन मेचक बरन, गुंजा बीज समान ।
किंसुक मनो मनोज के, कालकूट जुत बान ॥५८७॥
प्रथम कामि जन मननि कों[1], रँगत सुरभि रितुराग ।
करत अलंकृत[2] पल्लवनि, पुनि पीछे बन बाग ॥५८८॥*
देखि परे नहिं दूबरी, सुनियें स्याम सुजान ।
जानि परे परजंक में, अंग आँच अनुमान ॥५८९॥†
सपने हूँ चितवत नहीं, और ओर बर बाल ।
तू अपने अनुराग के, रँग्यो रंग में लाल ॥५९०॥
कहा होति अति हीं निठुर, तू न बिलोकति बाम ।
तो सिँगार रस रंग में, अंग रँगे निज स्याम ॥५९१॥

---

१ काम कामि जन मानिकों, २ मंडत है नव ।

छं० नं७ ५८५ दँवारि=वन की अग्नि । छं० नं० ५८६ अर्थ—आम के लाल पल्लवों पर उड़ते हुए भौंरों की शोभा ऐसी लगती है मानो धुएँ के सहित कामदेव के ओज-अनल (शक्ति-रूपी अग्नि) की ज्वाला हो ।

* दे० रसराज उ० उद्दीपन ।

† दे० रसराज उ० व्याधि ।

दिसि-दिसि तुम्हैं बिलोकि वह, बालतजतिअतिसोक।
तो प्रतिबिंबित सहित सब, भयो मुकुर नृप लोक ॥५९२॥
कीनो अति अनुराग सों, पीतम आधे रूप।
मनो लिए गुन गौरि तें, गुन गौरितें अनूप ॥४९३॥
जे अंगनि पिय संग में, बरखत हुते पियूष।
ते बीछू के डंक-से, भए मयंक मयूष ॥५९४॥*
जाहि चाहि उद्दिम कियो, गने न निसि मग-डाभ।
कंत बिकान्यो अनत सो, रह्यो अजस कौ लाभ ॥५९५॥
मनमोहन तो सकत क्यों, यों अपराधनि ठानि।
जो न मनावन हेतु यह, होति मधुर मुसिक्यानि ॥५९६॥
पियहि उठावति पगनि तें, क्यों न कौन यह ग्यान।
दुख सागर में बूड़िहै, बाँधि गरे गुरु मान ॥५९७॥†
जो सजनी गुनगननि बस, अति सनेह रस मानि।
भयो दास तब सो लखै, अब उदास अँखियानि ॥५९८॥
सुनि सजनी वह साँवरौ, धरि गुँजनि के हार।
राखतु है हिय आपुनो, तो सनेह घनसार ॥५९९॥
अनिल यह अनल अनंग कौ, अंग-अंग अधिकात।
क्यों धौं चंचल प्रान ए, पारद लौं न उड़ात ॥६००॥
कहा लियौ गुरु मान कौ, अति ताती ह्वै नेम।
पारद सो उड़ि जाइगौ, अलि चंचल यह[1] प्रेम ॥६०१॥‡

---

१ ह्वै।

छं० नं० ५९२ मुकुर=शीशा। छं० नं० ५९५ मग-डाभ=मार्ग के कुश-कंटक आदि।

* दे० रसराज उ० उद्वग।

† दे० रसराज उ० मान।

‡ दे० रसराज उ० अधमा नायिका।

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ॥६०२॥*
लसत चारु तारनि सहित, तिय लोचन कमनीय ।
चढ़े खंजरीटनि मनो, चंचरीक रमनीय ॥६०३॥
नींद भार दाबे दृगनि, लसत पीक पर भाग ।
कुबलय मुकलित होत ज्यों, परसि प्रात-रबि-राग ॥६०४॥
दरपन अमल कपोल में, परत पानि प्रतिबिंब ।
पुनि-पुनि पोंछति पीक भ्रम, देखि आदरस बिंब ॥६०५॥
कलकल कलिका कुल ललक, कोकिल कुल की केलि ।
लोलै कला कलोल कै, लाल लाल कंकेलि ॥६०६॥
जल पूरित घनस्याम रुचि, उनई अँखियनि आइ ।
रही कदंब कलीनि की, अंग बेलि छबि छाइ ॥६०७॥
तन दुरबल मनमथ प्रबल, ढिँग बसंत पिय दूरि ।
अचल बिरह चल जीव सखि, तनक न सुख दुख भूरि ॥६०८॥
हर्‌यौ बसन मन भाँवते, फिर किंकिनि गुन तोट ।
करै मनो मन भाँवती, पुलक-पटल-पट ओट ॥६०९॥
औरनि हू के लसत हैं, अति अनियारे नैन ।
मन मानत ह्वैहैं न वे, सो मन लागत पैन ॥६१०॥
है यह गाँव गुलाब बर, पुर ठाकुर के गेह ।
चलौ न आवति बास है, जो देवर की देह ॥६११॥

छं० नं० ६०४ राग=लाली । छं० नं० ६०५ नायिका के अमल कपोलों पर उसके हाथों की ललाई का प्रतिबिंब पड़ता है। नायिका इस बात को समझ नहीं पाती है और जब शीशे में कपोलो पर वह सुर्खी देखती है तो उसे पान की पीक जानकर पोंछने लगती है । छं० नं० ६०९ तोट=टूटा । पुलक-पटल-पट=रोमांच का परदा ।

* दे० रसराज उ० स्वकीया ।

पूरति मन की लालसा, जगन जगति गुन माथ ।
सुर नर पल्लव अरुन रुचि, भोगनाथ के हाथ ॥६१२॥
कलपद्रुम पल्लव भयो, तूँ अति दानि निदान ।
भोगनाथ नर नाथ के, हाथ साथ पढ़ि दान ॥६१३॥
लाल भाल जावक लगे, उठे रसिक सिरताज ।
सौति सखी सुंदर दृगनि, रोस हास अरु लाज ॥६१४॥
लगे निसा अभिसार में, कंटक तिय के पाइ ।
अजों न सरुहै निठुर तुम, भए और ही भाइ ॥६१५॥
मो नैननि नीकी लगै, रही लपट यह भाल ।
तनक रँगी यह पाग अब, लाल करै सब लाल ॥६१६॥
लाल तिहारे चलन की, सुनी बाल यह बात ।
सरद नदी के सोत लौं, प्रतिदिन सूखति गात ॥६१७॥
कियो प्यार मो पर प्रगट, मैं लीनो धरि सीस ।
पिय प्यारी के नाम यह, दियो मोहिं बकसीस ॥६१८॥
तुरतहिं गयो बिलाइ कै, हुत्यो परम अभिराम ।
नाह रावरे नेह यह, भए गंधरब गाम ॥६१९॥
हिय अनुराग रँगे लला, वे कछु और अमोल ।
ओठनि ही के रँग भए, रँगि-रँगि बोलत बोल ॥६२०॥
पगी प्रेम नँदलाल के, हमैं न भावत जोग ।
मधुप राजपद पाइ कै, भीख न माँगत लोग ॥६२१॥*
छोड़ि नेह नँदलाल कौ, हम नहिं चाहति जोग ।
रंग-बाति क्यों लेत हैं, रतन-पारखी लोग ॥६२२॥

छं० नं० ३२२ बाति=वर्ति । रंग-बाति=सुगंधित द्रव्य की बनी बत्ती जिससे गात्रानुलेपन किया जाता है ।

* दे० रसराज ।

भोगनाथ नर नाथ के, गुन गन बिमल बिसाल ।
भिच्छुक सेवति पानि हैं, पग सेवत महिपाल ॥६२३॥
अदभुत गावत जगत सब, भोगनाथ गुन गाथ ।
भूमिपाल सेवत चरन, भिच्छुक सेवत हाथ ,।६२४॥
एक द्यौस की औधि पिय, अति साहस आरंभ ।
मन सों कहु बरि जात क्यों, भुजनि जलधि कौ अंभ ॥६२५॥
हरद बरन तें अधिक बढ़ि, सरद होत वह मित्र ।
सरद जोन्ह में मानिनी, दरप न आवत चित्र ॥६२६॥
जौ वियोग बड़वागि की, ज्वाल न नेक जरचो न ।
सो सागर अनुराग कौ, सूखति जानि परचो न ॥६२७॥
ज्यों-ज्यों बिषम बियोग की, अनल ज्वाल अधिकाइ ।
त्यों-त्यों तिय की देह में, नेह उठत उफिनाइ ॥६२८॥
बड़वानल पर बढ़ति है, बिरह ताप तिय अंग ।
अति अद्भुत अधिकाति है, प्रेम पयोधि तरंग ॥६२९॥
वहै सबै अनुनय सहित, मधुर बचन चित चाउ ।
क्यों राखे अब रोकि सखि, फूट्यो प्रेम तलाउ ॥६३०॥
अति उतंग उरजनि लसत, चपल मुकत बर हार ।
मनो मेरु बिब सृंग ते, गिरत गंग जुग धार ॥६३१॥
सरस बाल को मन लला, पारावार अनूप ।
नीरस मानसरोवरो, मारवार के रूप ॥६३२॥
चढ़त सुन्यो नहिं स्याम में, और रंग अरु बाल ।
अधर राग सों तैं रँगे, अदभुत तैं नँदलाल ॥६३३॥
एक भए मन दुहुनि के, छुटै न कियें उपाउ ।
कहौं सिंधु संभेद कौ, कोऊ न सकत छुड़ाइ ॥६३४॥

छं० नं० ६२६ हरद बरन = पीला । छं० नं० ६३३ अधर राग = ओठ के रंग—लाल अर्थात् प्रेम ।

हरनि रूप बिरहीनि कौ, जलद जाल बगराइ ।
बाँधि-बाँधि बाननि बधत, मार-बधक सम आइ ।।६३५।।
प्रफुली सुमन रसाल के, कंध बिटप भुज मेलि ।
बात निवारी बिरह की, फूल निवारी बेलि ।।६३६।।
निज स्वरूप प्रभु देत हैं, साँच कहत मुनि गोत ।
भोगनाथ की रीझ में, भोगनाथ कबि होत ।।६३७।।
सरल बान जाने कहा, प्रान हरन की बात ।
बंक भयंकर धनुष कौ, गुन सिखवत उतपात ।।६३८।।
कियो भोग सपने रमन, परम मुग्ध मन बाल ।
सेतुक देति उराहनो, लई अंक भरि लाल ।।६३९।।
दियो कान्ह निज कान तें, तुम गुलाब कौ गुच्छ ।
गुरुजन में अवतंस करि, फिरति लाल करि तुच्छ ।।६४०।।
सखी सिखावन रावरे, कहो कहा अब होइ ।
मोहन तन पानिप गई, लाज दृगनि की धोइ ।।६४१।।
लाज गहै नींदहिं लहै, निसि-दिन दहै न देह ।
सुनौ साँवरे रावरे, तहाँ न दीजै नेह ।।६४२।।
चढ़ी अटारी बाम वह, कियो प्रनाम निखोट ।
तरनि किरनि तें दृगनि कों, कर सरोज करि ओट ।।६४३।।*
कढ़त पियूषहु ते मधुर, मुख सरसुति के सोत ।
भोगनाथ नर नाथ के, साथ बसें कबि होत ।।६४४।।
दिन हू मैं अति जगमगै, बाल बदन बिधु कांति ।
लखौ लाल या संधि मैं, उदै सैल की भाँति ।।६४५।।

छं० नं० ६३५ बधक=ब्याधा । छं० नं० ६३८ गुन—गुण=रस्सी, डोरी । छं० नं० ६४० अवतंस=भूषण । छं० नं० ६४५ संधि=संधि काल—दिन और रात के मिलने का समय । उदै सैल=उदयाचल ।

* दे० रसराज उ० क्रियाविदग्धा ।

भोगनाथ मुख-चंद की, ओर लखत बरजोर।
करौं कौन बिधि मान ए, लोचन होत चकोर ॥६४६॥
अंग करत परिरंभ में, सुधा समुद्र बिनोद।
सुरत अंत हूँ पाइयै, सुरत आदि को मोद ॥६४७॥
अँसुवनि के परबाह मैं, अति बूढ़िबें डराति।
कहा करै नैनानि कों, नींद नहीं नियराति ॥६४८॥
अनल ज्वाल-सी लगति है, बालपने मैं बाल।
जग जारन कों जानियत, जोबन में जंजाल ॥६४९॥
पलक-पलक लागे बिना, क्यों करि दृगनि बिनोद।
सोवन देत न सरद में, बिकच कुमुद आमोद ॥६५०॥
तेरो सखी सुहाग बर, जानत हैं सब लोक।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन असोक ॥६५१॥
प्रीतम पिया पियाइ कै, सुख मुख सुधा अनूप।
पुलक मुकुल केसर पटल, करि केसरि अनुरूप ॥६५२॥
पिय के मन मनभाँवती, और बात नहिं फूल।
कुच परिरंभन सों तरुनि, करि कुरबक तरु तूल ॥६५३॥
करि चख चारु चितौनि सों, सुमन कलित अनुकूल।
तरुन तिलोकी तिलक कौ, तरुनि तिलक तर तूल ॥६५४॥
चितवनि कुच परिरंभ मुख, सिद्धचरन हृति केलि।
कियो तिलक कर बकनिलित, लाल बकुल कंकेलि ॥६५५॥
होत जगत में सुजन कौ, दुरजन रोकनहार।
केतक, कमल गुलाब के, कंटकमय परिहार ॥६५६॥
कछु न गनति दुरजननि लखि, तोहि दृगनि सुख देति।
निवरि कंटकनि मधुकरी, रस गुलाब कौ लेति ॥६५७॥

छं० नं० ६४६ बरजोर=जबर्दस्ती। छं० नं० ६५६ परिहार=रोक।

फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न।
मनो बुलावति मधुप कों, दै चुटकी की सैन ॥६५८॥
भ्रमत रहत निस द्यौस हू, करी मधुकरी तूल।
कित वह डारी सो हितू, कित बकिनव कौ फूल ॥६५९॥
मिले मोहिं अति प्रेम सों, सटपटात उठि प्रात।
छोंड़ि आपनों भौन तुम, भौन कौन के जात ॥६६०॥
हियो जरायो बाल कौ, अनल ओज निज मैन।
ता पर तेरे देत दुख, लाल सलोने नैन ॥६६१॥
हरि हिय तें रति रंग में, गिरे गुंज-गुन टूटि।
मनो स्याम घन तें परे, इंद्रगोपिगन छूटि ॥६६२॥
कररि रसोई बाल वह, मगन तिहारे ध्यान।
जरति आगि निजु आँगुरी, होत नहीं मन ग्यान ॥६६३॥
प्रथम अरध छोटी लगी, पुनि अति लगी बिसाल।
बामन कैसी देह निसि, भई बाल को लाल ॥६६४॥
करौ कोटि अपराध तुम, बाके हिए न रोष।
नाह सनेह सभुद्र में, बूड़ि जात सब दोष ॥६६५॥

छं० नं० ६५८ गुलाब की कली के फूलते समय जो शब्द होता है वह मानो भौंरे को बुलाने के लिए चुटकी बजाने का इशारा है। छं० नं० ६५९ बकिनव—बकायन=पुष्प-विशेष। छं० नं० ६६१ इस दोहे में 'जले पर नमक लगाना' इस लोकोक्ति का सन्निवेश है। छं० नं० ६६२ गुंज-गुन=घुँघुची की माला। इन्द्रगोपिगन=बीरबहूटी। छं० नं० ६६४ वामन जी का शरीर प्रथम तो देखने में छोटा लगा था पर बाद को उसका बिस्तार बहुत अधिक हुआ। इसी प्रकार नायिका को जब तक नायक के आने की आशा बनी रही तब तक तो निशा का पूर्वार्द्ध उसे बहुत छोटा लगा पर जब निराशा हो गई, तो उत्तरार्द्ध बहुत बड़ा जान पड़ा।

बिरह तचे तिय-कुचनि लों, अँसुवा सकत न आइ।
गिरि उड़गन ज्यों गगन तें, बीचहि जात बिलाइ ॥६६६॥
स्याम तिहारे बिरह दृग, करत सकज्जल रोज।
मनों बढ़ावत प्रेम सों, सूरसुताहि सरोज ॥६६७॥
छाँह बिना ज्यों जेठ-रबि, ज्यों बिन औषधि रोग।
ज्यों बिन पानी प्यास, यों, तेरो दुसह बियोग ॥६६८॥
मो दृग कंजनि को दियो, दरपनु मोद निदानु।
भोगनाथ मन भाँवते, भए भोर के भानु ॥६६९॥
भोगनाथ नरनाथ कौ, बदन इंदु अरबिंदु।
करत कबित्तनि करत बर, मधुर सुधा मधु बिंदु ॥६७०॥
कमल मुखनि कुबलय दृगनि, कुमुद मधुर मुसिक्यानि।
लखौ लाल ऊपर महल, कमलाकर सुखदानि ॥६७१॥
तब लों नहिं जानति दृगनि, जब लों नहीं उदोति।
बिहसन छीर मिठासमय, मठा चंद की जोति ॥६७२॥
जब-जब तेरी बाल के, चित्त चढ़ै मुसिक्यानि।
अधर कपोल बिलोचननि, तब दृग झलकति आनि ॥६७३॥
बासर मैं रबि हा तहीं, जामें निरखत भौंह।
सुनो लाल ता प्रेम के, परी आइ बिच सौंह ॥६७४॥
कपट बचन अपराध तें, निपट अधिक सुखदानि।
जरे अंग में संकु ज्यों, होत बिथा की खानि ॥६७५॥
लाल तिहारे बिरह नित, छीन बाल के अंग।
जानति हों चाहति दियो, निज सायुज्य अनंग ॥६७६॥

छं० नं० ६६६ आकाशमंडल से उल्कापात होता है पर प्रायः उल्कागण बीच में ही नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार से विरह-संतप्त नायिका के आँसू गिरते हैं पर कुचों तक पहुँचने के पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि संतप्त कुचों की गरमी इतनी प्रबल है कि अपने पास पहुँचने के पूर्व ही अश्रुजल नष्ट कर देती है छं० नं० ६७६ संकु=बर्छी।

बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम सरित सरूप।
अब रस परिपूरन करौ, तुम घनस्याम अनूप ॥६७७॥
मुख बिधु छिन-छिन यों रहै, एक द्यौस ही माँझ।
पून्यो हुती प्रभात अब, होति अमावस साँझ ॥६७८॥
कहा कहे रूखे बचन, सातिक भाव अपार।
तरुनि छपायो चहति तू, तिन की ओट पहार ॥६७९॥
तेरी मृदु मुसिक्यानि लखि, सरद जोन्ह सम रंग।
बाढ़त मोद पयोधि कें, दृगनि तरंग उतंग ॥६८०॥
अँसुवनि सों छाए रहै, लाल बाल के नैन।
तब तें तो दरसन छुट्यो, तब तें कछु लखै न ॥६८१॥
बाल गहति दसननि लसत, लाल अधर बर बिंब।
मनो दसन अरबिंद है, सरद इंदु कौ बिंब ॥६८२॥
सखि छपाव यह भाव अब, चाहत भयो जनाउ।
अँखिया में उर की उमगि, रह्यो तनीन तनाउ ॥६८३॥
अंजन जुत अँसुवा ढरत, लोचन मीन समान।
लसत नीलमनि दंड जुत, मनो मनोज निसान ॥६८४॥
सेतु बिंदु चंदन सहित, गिरत नाल तें टूटि।
बिधु उर तें जनु बिधु बधू, परति भानु कर छूटि ॥६८५॥
जाके बर बरजोर यह, करत सकल तन ऐनि।
बरछी मनो मनोज की, तिरछी चारु चितौनि ॥६८६॥
डीठि परस्पर दुहुनि की, दई बदन जनु चैन।
तिय मुख में पिय नैन हैं, पिय मुख में तिय नैन ॥६८७॥

छं० नं० ६७७ भावार्थ—हे घनश्याम (कृष्ण—मेघ) ग्रीष्म ऋतू की नदी के समान वह बाल अल्प जीवन (प्राण—जल) हो रही है, उसको तुम अब रस (रस—जल) से परिपूर्ण करो।

दुहूँ ओर मुख दुहुनि के, बिधु लौं करत प्रकास।
लाज-अँध्यारी दुहुनि कीं, कहूँ न पावति बास ॥६८८॥
कौन भाँति कै बरनियै, सुंदरता नँदनंद।
वाके मुख की भीख लै, भयो ज्योतिमय चंद ॥६८९॥
दिन में सुभग सरोज हैं, निसि में सुंदर इंदु।
द्योस-राति हूँ चारु अति, वाको बदन गोबिंद ॥६९०॥
दियो दरस कीनी भली, मोहन नंदकुमार।
भयो बन्यो मुकतानि कौं, अंग-अंग सिंगार ॥६९१॥
लसत रतन दरपन बिमल, तों कपोल बस नारि।
सनमुख रहि जो भाल में, लीजै तिलक सँवारि ॥६९२॥
सुनत सदा गुरु बचन हित, रहत बिबुध गन साथ।
भोगनाथ यह जानियत, सदा भूमि सुरनाथ ॥६९३॥
सरनागत पालक महा, दान जुद्ध अति धीर।
भोगनाथ नरनाथ यह, पग्यो रहत रस बीर ॥६९४॥
भोगनाथ नरनाथ के, लोचन लखत बिसाल।
रहत गरीबी गहि दुहुनि, नीबी गहि बर बाल ॥६९५॥
जगत जगत दोऊ भूजा, जग्य-रूप के रूप।
भोगनाथ नरनाथ की, भौंह निहारत रूप ॥६९६॥
जब लौं सजनी बोलियै, ये गरबीले वैन।
जब लगि तुम निरखे नहीं, भोगनाथ के नैन ॥६९७॥
तुरग अरब ऐराक के, मनि आभरन अनूप।
भोगनाथ-सों भीख लै, भए भिखारी भूप ॥६९८॥
भोगनाथ नरनाथ की, रीझ्यो खीझ अनूप।
होत भिखारी भूप है, भूप भिखारी रूप ॥६९९॥
मुरलीधर गिरिधरन प्रभु, पीतांबर घनस्याम।
बकी बिदारन कंस अरि, हरन अभिराम ॥७००॥
पीत झँगुलिया पहिरि कै, लाल लकुटिया हाथ।
धूरि भरे खेलत रहे, ब्रजवासिन ब्रजनाथ ॥७०१॥

आशिर्वाद और प्रार्थना

तिरछी चितवनि स्याम की, लसत राधिका ओर।
भोगनाथ को दीजिए, यह मन सुख बरजोर ॥७०२॥
मेरी मति में राम हैं, कबि मेरे 'मतिराम'।
चित मेरो आराम में, चित मेरे आराम ॥७०३॥

समाप्त

छं० नं० ७०३ मेरी बुद्धि (मति) में राम का निवास है। मेरे कवि 'मतिराम' हैं—अर्थात् मैं मतिराम नाम का कबि हूँ मेरा चित्त आराम में रहता है इसलिये ऐ राम मेरे चित्त में आओ (आराम)।

संपादन-सामग्री

मतिराम के ग्रंथों की जिन प्रतियों के आधार पर ग्रंथावली का संपादन किया गया है, उनका परिचय इस प्रकार है:—

(१)

१. रसराज (हस्त-लिखित) श्रीव्रजराज-पुस्तकालय, गँधौली, सीतापुर लिपि-काल सं० १९००

२. रसराज (मुद्रित) लाइट-छापाख़ाना, काशी। मुद्रण-काल संवत् १९२५

३. रसराज (मुद्रित) नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

४. रसराज (,,) लल्मीवेंकटेश्वर-प्रेस, बंबई

५. रसराज (,,) भारतजीवन-प्रेस, काशी

६. रसराज (,,) राजस्थान-यंत्रालय, अजमेरे

(२)

१. ललितललाम (हस्त-लिखित) श्रीव्रजराज-पुस्तकालय, गधौली, सीतापुर

२. ललितललाम (हस्त-लिखित) श्रीशिवदुलारे द्विवेदी द्वारा प्राप्त प्रति

३. ललितललाम (मुद्रित) भारतजीवन-प्रेस, काशी

(३)

१. मतिराम-सतसई (हस्तलिखित) श्रीशिवदुलारे द्विवेदी द्वारा प्राप्त पूर्ण प्रति

२. मतिराम-सतसई (हस्त-लिखित) पंडित भवानीशंकर याज्ञिक द्वारा प्राप्त खंडित प्रति

इनके अतिरिक्त 'फूल-मंजरी' के दोहों तथा मतिरामजी के कई

फुटकल छंदों के लिये हम श्रीयुत याज्ञिक-त्रय के कृतज्ञ हैं। अलंकार-पंचाशिका का परिचय पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित ने लिखा है। उनको भी धन्यवाद। यह ग्रंथ अभी निर्विवाद रूप से रसराज के रचयिता का ही नहीं मान लिया गया है। ग्रंथावली में पहले मूल पाठ है। फुट-नोट में ऊपर दिखलाई प्रतियों से मिलान करके पाठांतर दिए गए हैं तथा फिर शब्दार्थ और भावार्थ आदि। जहाँ वही छंद तीनों या दो ग्रंथों में समान रूप से आया है वहाँ इस विषय की भी चिह्न-विशेष लगाकर सूचना दे दी गई है।

भूमिका लिखने में लेखक को और जिन ग्रंथों से सहायता मिली है उनके नाम यथास्थान लिख दिए गए हैं। उन सबके रचयिताओं के प्रति लेखक हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है।